गीता का मनोविज्ञान

डॉ. हरवंशलाल ओबराय

सम्पादक एवं संकलनकर्ता

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास

खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान

खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता

खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम,
भक्तानन्द शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

ISBN 978-93-84133-09-2

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

- श्री सुशील कुमार ताम्बी
  प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
  A/3 आर्य नगर
  एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
  मुरलीपुरा, जयपुर 302039
  फोन : 0141-2233765 मो. : 09829547773
- **ज्ञान गंगा प्रकाशन**
  पाथेय भवन,
  बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर
  दूरभाष : 0141-2371563
- **अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना**
  आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
  नई दिल्ली 110055
  फोन : 011-23675667
- **हिन्दू राइटर्स फोरम**
  129-बी, डी.डी.ए. फ्लैट्स (एम.आई.जी.)
  राजौरी गार्डन, नई दिल्ली 110027
- **जागृति प्रकाशन**
  श्री कृष्णानन्द सागर
  एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301
  फोन : 0120-2538101 मो. : 09871143768

प्रथम संस्करण : 2015 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : एक सौ पचीस रुपये मात्र

आवरण : गौरीशंकर आचार्य

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

GITA KA MANOVIGGYAN (Hindi)
Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 125

सम्पादकीय

श्रीमद्भगवद्गीता अध्यात्म का एक महान् ग्रंथ माना जाता है। अध्यात्म की स्थापना जितने सुन्दर व मनोवैज्ञानिक ढंग से श्रीमद्भगवद्गीता में की गई है उतनी सम्भवत: किसी अन्य अध्यात्म ग्रंथ में नहीं मिलेगी। वैसे तो बिना मनोविज्ञान के आधार के अध्यात्म की भित्ति खड़ी भी नहीं हो सकती। किन्तु श्रीगीता वार्तालाप शैली का अध्यात्म ग्रंथ होने के कारण अर्जुन के मन के अथवा मानव मन के सभी मानसिक प्रश्न एवं मनोवैज्ञानिक संदेह सीधे ही ज्ञानस्वरूप-सर्वान्तर्यामी गुरु के सामने प्रस्तुत हो जाते हैं तथा उनका सर्वश्रेष्ठ समाधान भी प्राप्त हो जाता है।

श्रीमद्भगवद् मानव इतिहास का वह अविनश्वर अध्यात्म संगीत है जो युगों से मानव को ब्यामोह एवं विकृति से बचाकर सत्य एवं ऋतं के कल्याण पथ की ओर आकर्षित करता रहा है। दुर्योधन एवं दु:शासन विकृति के प्रतीक हैं तथा अर्जुन ब्यामोह के कारण उन विकृतजनों के सामने भी हथियार डाल रहा था। भगवान् श्री कृष्ण ने अपने गीता के संदेश द्वारा सज्जनों का ब्यामोह दूर किया तथा विकृतजनों को उचित दण्ड देने का विधान किया। गीता का सशक्त संदेश है राग-द्वेष मुक्त, न्यायपरक, निष्काम, नि:स्वार्थ कर्तव्य पालन जो आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं—अर्जुन शोक, मोह और भय को बिसराकर अपने कर्तव्यकर्म में स्थित होकर विश्व के महानतम युद्ध में विजयश्री-लाभकर संसार के श्रेष्ठतम योद्धा के रूप में अपने को स्थापित करता है। केवल अर्जुन ही नहीं, इतिहास के विभिन्न चरणों में विशेषकर अंग्रेजों के शासनकाल में स्वतंत्रता सेनानियों ने चाहे वे अहिंसा मार्गी हों या सहिंसा मार्गी हों सबने गीता को अपनाकर अपने परिवारजनों के मोह-शोक और ब्रिटिश हुकूमत के भय को भुलाकर स्वतंत्रता संग्राम में योगदान दिया और आवश्यकता पड़ने पर गीता का श्लोक गाते हुए हंसते-हंसते फांसी के फंदों पर झूल गए। केवल भारत के स्वतंत्रता संग्राम में ही नहीं, विश्व के अन्यान्य देशों के स्वतंत्रता संग्रामों में गीता ने अविस्मरणीय योगदान दिया है।

इस प्रकार जो भी गीता माता की शरण में जाता है, गीता माता उसके शोक, मोह, भय को हरकर उसे अपने कर्तव्यकर्म में स्थित कर देती है। इससे वह क्रमशः स्वतः ही पूर्णता की ओर बढ़ने लगता है और अन्त में अपने आत्मस्वरूप को पा लेता है और उसमें स्थित हो जाता है।

यह पुस्तक डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र के पांचवें खण्ड से संकलित है। इस पुस्तक का समस्त व्यय भार माननीय सांसद श्री अर्जुन मेघवालजी ने सहर्ष स्वीकारा है। उन पर सपरिवार प्रभु की कृपा सदैव बरसती रहे। परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद एवं हर बार की तरह सांखला प्रिंटर्स के सौहार्दपूर्ण प्रिंटिंग कार्य में सहयोग से पुस्तक प्रकाशित हो रही है।

शिवाकांक्षी

—स्वामी संवित् सुबोधगिरि
सम्पादक व संकलनकर्ता
मो. 09413769139

अनुक्रम

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।

श्रद्धांजलि



श्रीमती हीरादेवी (95 वर्ष)

शत-शत-नमन

बैकुण्ठ धाम : 26 जून, 2014

श्रद्धावनत् : अर्जुनराम मेघवाल (सांसद एवं लोकसभा प्रत्याशी, भाजपा, बीकानेर), अनिलकुमार मेघवाल (पुत्र), श्रीमती पानादेवी, श्रीमती सरस्वतीदेवी (पुत्रवधू), मोतीलाल, पूनमचन्द (जेठुता), विजय कुमार (दामाद), शान्तिदेवी, धन्नीदेवी (पुत्रियां), रविशेखर, नवीन, अमित (पौत्र), सुशीला, नीलम (पौत्रवधू), अजय आर्य, कृष्ण चौहान (पौत्री दामाद), मनीषा, रचना, रुक्मणी (पौत्री), फिजा, दृष्टि (पड़पौत्री), योशिता, दर्षिता, खुशी (पड़दोईती) एवं समस्त जनागल (मेघवाल) परिवार।

निवास : मेघवालों का मोहल्ला, किशमीदेसर, बीकानेर
मोबाइल : 9414075910, 9414787932, 8890221679

गीता का मनोविज्ञान

श्रीमद्भगवद्गीता अध्यात्म का एक महान् ग्रंथ माना जाता है। अध्यात्म की स्थापना जितने सुन्दर व मनोवैज्ञानिक ढंग से श्रीमद्भगवद्गीता में की गई है उतनी सम्भवत: किसी अन्य अध्यात्म ग्रंथ में नहीं मिलेगी। वैसे तो बिना मनोविज्ञान के आधार के अध्यात्म की भित्ति खड़ी भी नहीं हो सकती। किन्तु श्रीगीता वार्तालाप शैली का अध्यात्म ग्रंथ होने के कारण अर्जुन के मन के अथवा मानव मन के सभी मानसिक प्रश्न एवं मनोवैज्ञानिक संदेह सीधे ही ज्ञानस्वरूप-सर्वान्तर्यामी गुरु के सामने प्रस्तुत हो जाते हैं तथा उनका सर्वश्रेष्ठ समाधान भी प्राप्त हो जाता है।

मानव का बहिरंग जड़ शरीर है, तथा उसका अंतरंग परम चैतन्य आत्मा है। बहिरंग को जानने के लिए पांच ज्ञानेन्द्रियां (चक्षु, नासिका, रसना, कर्ण और त्वचा) हैं। मानव के अंतरंग को पहचानने में सहायता करने वाली चार अन्दर की इन्द्रियां हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

मन संकल्प-विकल्प करता है। मन साधारण अवस्था में कल्पित वस्तुओं को मान लेता है। जाग्रत् एवं विवेकी मन वस्तु के मूल की खोज करता हुआ मनन करता है। बुद्धि का काम विचार करना है। सामान्य बुद्धि सांसारिक घटनाक्रम अथवा मानसिक घटनाक्रम का विचार करती है। वह वचनों को तर्क की कसौटी पर कस कर उनके सही अथवा गलत का निर्णय करती है। सूक्ष्म बुद्धि, जाग्रत् प्रज्ञा, ब्रह्मविषयिनी बुद्धि, ऋतम्भरा प्रज्ञा सांसारिक बातों या विचारों में न उलझकर परम तत्त्व के विषय में विचार करती हैं। चित्त का कार्य चिन्तन करना है। साधारण चित्त या चंचल चित्त चिंता करता रहता है। शुद्ध, निर्मल चित्त परम तत्त्व का चिन्तन करने लगता है।

अहंकार का अर्थ है—मैं का भाव। दूषित अहं जीवात्मा बनकर सांसारिक कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता बना रहता है। उस अहं के लिए मित्र-शत्रु, अपने-पराये, प्रिय-अप्रिय सभी सांसारिक द्वैत-प्रपंच बने रहते हैं। जब मनन, चिन्तन और विचार द्वारा अहं शुद्ध हो जाता है तो शुद्ध आत्मा, विशुद्ध आत्मा, निर्लिप्त आत्मा, असंग

आत्मा का दर्शन होता है क्योंकि यह शुद्ध आत्मा शुद्ध चैतन्य है जो व्यक्तिगत नामों, रूपों से अलिप्त है। देश-काल, पात्र, परिस्थिति सबके बन्धन से मुक्त है। इसलिए वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सर्वस्पर्शी, सर्व परिस्थितियों का स्वामी होते हुए भी परिस्थिति निरपेक्ष होता है। अत: यह निर्लिप्त आत्मा ही विश्वात्मा, जगदात्मा, परमात्मा का रूप है। यही अध्यात्म दर्शन है अर्थात् आत्मा का दर्शन।

अन्त:करण चतुष्टय (अन्दर की चार इन्द्रियां—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) वास्तव में अन्त:करण या मन के चार प्रकार हैं। अत: मन मानव के बहिरंग और मानव के अंतरंग के बीच की सबसे मूल्यवान कड़ी है। यही जड़-चेतन की ग्रंथि है। शरीर की जड़ता से आत्मा की चेतना में प्रवेश करने का एकमात्र राजद्वार मन ही है। अत: अध्यात्म की मीमांसा बिना मन का मंथन और विश्लेषण किए हो ही नहीं सकती। बाहर की ज्ञानेन्द्रियों से दृश्य को जाना जा सकता है, जो परिवर्तनशील है, नश्वर है, क्षणभंगुर है। अन्दर की इन्द्रियों से द्रष्टा को पहचानने में सहायता मिलती है।

गीता की समस्या मुख्यतया मन की ही समस्या है। अर्जुन के मन में भय तथा शोक, दो मानसिक विकार उत्पन्न हो गए थे। इन दोनों विकारों के अनेकानेक कारण हो सकते हैं। किन्तु दोनों का सबसे बड़ा सम्मिलित कारण व्यामोह था।

भय रूपी मानसिक विकार के साथ

(1) नैतिक दृष्टि से भय का प्रमुख कारण है—कर्तव्यच्युति। जब मनुष्य अपने नियत नैतिक कर्तव्य का पालन नहीं करता तो भीतर से उसकी अन्तरात्मा ही उसको दुत्कारने लगती है जिससे वह अन्यथा स्वस्थ एवं बलवान होते हुए भी मानसिक दुर्बलता से भयभीत होने लगता है। उदाहरण—दारासिंह नामक प्रसिद्ध पहलवान प्रारम्भ में चोरी-डकैती का धंधा करता था। जो व्यक्ति कुश्ती के मैदान में दस पहलवानों को धूल चटा सकता है वही जब चोरी जैसा अनैतिक कार्य करने जाता है तो भीतर से इतना भयभीत रहता है कि तनिक रोशनी से या चूहे के खटके के भय से भाग खड़ा होता है।

(2) एक राजा के भण्डार से किसी मूल्यवान रत्नाभूषण की चोरी हो गई। बहुत प्रयास करने पर भी जब चोर का पता न लगा तो राजा के मंत्री ने नगर के सभी नागरिकों की सभा बुलाई। उसने कहा कि वास्तविक चोर का हमें पता लग गया है। वह इसी सभा में उपस्थित भी है। यदि वह स्वयं अपराध स्वीकार कर लेता है तो उसे कठोर दण्ड नहीं दिया जाएगा। कुछ समय तक प्रतीक्षा करने पर भी जब चोर ने आत्मसमर्पण नहीं किया तो मंत्री ने मनोवैज्ञानिक युक्ति लगाई। उसने कहा, चोर हमारी आंखों के सामने है, हम उसे देख रहे हैं। उसने अभी तक आत्मसमर्पण नहीं किया है। हमें विवश होकर भरी सभा में उसकी पहचान बतानी

पड़ेगी। देखो, जो राजा के भण्डार से आभूषण चुराने वाला है उसकी दाढ़ी पर एक तिनका लगा हुआ है। वास्तव में तिनका किसी की दाढ़ी पर नहीं लगा हुआ था पर चोर भीतर से भयभीत था अतः उसने दाढ़ी मलनी शुरू की और वह पकड़ा गया।

कर्तव्य में च्युति ही भय का कारण है। इसलिए रेल में टिकट न खरीदने वाला टिकट निरीक्षक से डरता रहता है। कक्षा में पाठ पढ़कर न जाने वाला अध्यापक से डरता रहता है। पढ़ाई से जी चुराने वाला परीक्षा से डरता रहता है। कालाधन कमाने वाला, मिलावट करने वाला, बेईमानी करने वाला, राजदण्ड से भयभीत रहता है। जिसने कर्तव्य पूरे किये हैं और चोरी-चकारी की नहीं, उसे सृष्टि की कोई भी शक्ति भयभीत नहीं कर सकती।

धृतराष्ट्र ने अमानत में खयानत करके पांडु का राज्य पांडु के बेटों को न सौंपकर स्वयं अपने परिवार पोषण के लिए दबा लिया था। इसलिए गीता के प्रथम श्लोक में ही धृतराष्ट्र भयभीत होकर संजय से पूछता है कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए लड़ने की इच्छा वाले मेरे और पांडु के बेटों ने क्या किया?

धृतराष्ट्र के भय का विश्लेषण

(क) जब कोई शासक सत्ता के मद में अंधा होकर राष्ट्र को अपनी निजी जागीर समझकर अपने स्वार्थ के पंजे के नीचे दबाकर धर बैठता है तो वह धृतराष्ट्र का स्वरूप बन जाता है। **धृतं राष्ट्रमनेन इति धृतराष्ट्रः।** राज्य पांडु का था, राज्यधर्मानुसार अंधा व्यक्ति राजा नहीं बन सकता था। पांडु की अकस्मात् मृत्यु होने पर उसके भाई धृतराष्ट्र को अल्पकाल के लिए राज्य अमानत के रूप में दिया गया था ताकि युधिष्ठिर (महाराजा) के युवा होने पर उनका राजतिलक कर उन्हें राज्य सौंप दिया जाए। किन्तु एक बार सत्ता का लोभ, ऐश्वर्य की चाट या प्रभुता का मद लग जाने पर उसे छोड़ना सहज नहीं है। अतः धृतराष्ट्र नैतिक दृष्टि से अंधा होकर भाई की धरोहर को हड़प जाना चाहता था। अतः सदा उसे यही भय लगा रहता था कि कहीं यह साम्राज्य धर्मात्मा एवं बलवान पांडव वापस न ले लें अथवा युद्ध में कहीं पांडवों की विजय होकर राज्यसत्ता हमारे हाथ से निकल न जाए।

(ख) प्रायः सामान्य परिस्थिति में जो व्यक्ति झूठ बोलकर बेईमानी से किसी का अधिकार छीनता रहता है, वही तीर्थ स्थल पर वहां के पवित्र संस्कारों के प्रभाव से पुनः नैतिक वार्ता बोलने लगता है तथा दूसरे की हड़पी हुई अमानत को लौटा देने के लिए उद्यत हो जाता है। धृतराष्ट्र को यही भय है कि कुरुक्षेत्र जो उन्हीं के महान् पूर्वज महाराजा कुरु द्वारा स्थापित किया हुआ एक महान् तीर्थ है जहां उन्होंने बदरीनारायण के ऋषि-मुनियों को हिमालय की बर्फीली जलवायु से तपस्या की सुविधा के लिए बुलाकर सरस्वती तीर्थ पर लाकर बसाये थे। जहां

अनेक ज्ञान-सत्र एवं महायज्ञ हो चुके थे। वहां पहुंचकर तीर्थ के पावन संस्कारों तथा अपने पूर्वजों की पवित्र कीर्ति के स्मरण से कहीं पापी दुर्योधन का मन बदल तो नहीं जाएगा और पांडवों को उनके राज्य का भाग लौटा तो नहीं देंगे। इसी चिन्ता से भयभीत होकर धृतराष्ट्र संजय से पूछता है—धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए मेरे तथा पांडु के पुत्रों ने क्या किया?

(ग) धृतराष्ट्र जब कहता है मेरे और पांडु के बेटे तो इस शब्दावली में भी वह पांडु के बेटों को (अपने स्वर्गवासी भाई के सौंपे हुए बेटों को) 'मामकाः' मेरे बेटे से भिन्न गिन रहा है जो नैतिक दृष्टि से पाप है। फिर एक राजा के रूप में भी उसे अपने और पराये के बेटों में भेद-भाव नहीं रखना चाहिए। राजा के लिए सब प्रजाएं समान रूप से उसकी संतान के तुल्य है। प्रजा का शाब्दिक अर्थ ही संतान है **प्रजायते इति प्रजाः।** राजा समस्त प्रजाओं का धर्म का पिता माना जाता है। अपने घर में जन्मे हुए बेटों और प्रजाजनों में भेद-भाव रखना अन्याय है। धृतराष्ट्र अपने पापी बेटों के प्रति राग रखता है और अपने दिवंगत भाई पांडु के धर्मात्मा बेटों से द्वेष रखता है। इसलिए वह भयभीत है कि कहीं यह राज्यसत्ता, अन्याय से बटोरा हुआ ऐश्वर्य छिन न जाए।

(घ) धृतराष्ट्र ने युद्ध को अनिवार्य जानकर युद्ध से एक दिन पूर्व एक अन्तिम कूटनीतिक चाल चली थी। उसने संजय के द्वारा वीर शिरोमणि अर्जुन को पथभ्रमित करने के लिए यह संदेश भेजा था कि आप पांडव धर्मात्मा लोग हैं, आपने 13 वर्ष वन में तपस्या की है। आप विवेकी, धर्मशील एवं दयालु भी हैं। मेरे बेटे दु:शासनादि दुष्ट और हठी हैं। वे हमारी अच्छी सीख को भी नहीं मानते। यह संसार एक घिनौना कीचड़ है। आप धर्मात्मा पांडव भाइयों के रक्तपात के इस पापपंक में क्यों उतरते हैं? आप तपस्या द्वारा शीघ्र ही भगवान् को पा लें, व्यर्थ में राज्य के लिए रक्तपात करके तपस्या मार्ग छोड़कर इस विषय-भोग के गड्ढे में मत उतरिये। धृतराष्ट्र की इस उलटी सीख का कुछ प्रभाव हुआ या नहीं, उसका अन्तिम कूटनीतिक तीर सफल हुआ या नहीं, यही जानने के लिए बेचैन धृतराष्ट्र पूछता है युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पांडु पुत्रों ने क्या किया?

(ङ) वास्तव में पांडवों को सताने के लिए जितने षड्यंत्र रचे गए उन सबके पीछे धृतराष्ट्र की कुबुद्धि एवं परोक्ष या छिपी हुई सहमति रहती थी, ऊपर से दुर्योधन-दु:शासन अन्याय, अत्याचार करते थे। किन्तु, भीतर से अंधे धृतराष्ट्र की कुटिल नीति काम करती रहती थी। महाभारत के युद्ध के अन्त में सब कौरवों का नाश हो जाने पर जब धृतराष्ट्र पांडवों के प्रति पितृ स्नेह दर्शाने के लिए उनसे गले मिलकर वन में जाने को तैयार होता है तब भी दुर्योधन-दु:शासन को मारने वाले भीमसेन के प्रति उसके मन में द्वेष का विष भरा हुआ था। भगवान् कृष्ण ने भीमसेन

के स्थान पर एक कांसे की मूर्ति आगे बढ़ा दी और द्वेष से जले हृदय वाले धृतराष्ट्र ने उसे भी अपने आलिंगन में बांधकर खण्ड-खण्ड कर दिया। इस प्रकार अंधा धृतराष्ट्र शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक—सभी दृष्टि से अंधा ही था। अन्तिम समय में जंगल की आग में जल जाने से पूर्व धृतराष्ट्र ने विदुर के सामने स्वीकार किया कि मैंने जीवनभर अनीति, अन्याय, अत्याचार, अपराध किए और करवाए और जगत् को धोखा देने के लिए उस पर आंख मीचता रहा। कर्तव्यच्युति का सीधा परिणाम है—भय।

यहां धृतराष्ट्र लोभी, विषादी है वहां गांधारी मोही, विषादी है। वह आंखें रहते हुए भी अपने पापी बेटों की काली करतूतों पर जान-बूझकर आंख मीच लेने वाली है। मोहांध माता है। वह अपने घोर पापकर्मी बेटों को मोहान्ध होने के कारण कोई शाप नहीं देती किन्तु धर्मात्मा पांडुओं का मार्गदर्शन करने वाले भगवान् कृष्ण को शाप दे बैठती है।

भगवान् गांधारी के पुत्रमोह का नग्न चित्र प्रस्तुत करने हेतु एक अनोखी लीला रचते हैं। गांधारी अपने सौ बेटों के मृत शव को लेकर विलाप कर रही है। एक-एक रुंड एवं मुण्ड को लेकर विलाप कर रही है। एक-एक रुंड एवं मुण्ड को हृदय से लगाकर करुणाजनक विलाप करती हुई कहती है—हे बेटे! मैं तुम पर सौ-सौ प्राण निछावर कर दूं। अचानक श्मशान भूमि में चारों ओर भयानक मरुभूमि का दृश्य बन जाता है। दूर-दूर तक कोई वृक्ष अथवा जलाशय नहीं है। गांधारी भूख-प्यास से तड़पने लगती है। बहुत दूर एक बेर का वृक्ष दिखाई देता है। वह बेर तोड़ने के लिए हाथ बढ़ाती है तो डाली कुछ अंगुल ऊपर रह जाती है। जंगल में ऊपर उठने के लिए और कोई दूसरा साधन न होने पर वह अपने एक बेटे की लाश खींच कर लाती है और उस पर चढ़कर बेर लेने का प्रयास करती है किन्तु टहनी पुनः कुछ अंगुल ऊपर रह जाती है। गांधारी दूसरे बेटे के शव को ऊपर रखती है। फिर भी टहनी कुछ ऊपर ही रह जाती है। इस प्रकार सौ बेटों के शव को रखकर जब वह बेर की टहनी पकड़ने लगती है तब भगवान् कृष्ण उसका हाथ पकड़ लेते हैं और पूछते हैं क्या यही बेटे तुम्हें प्राणों से अधिक प्यारे थे। तुम्हारा पेट का मोह बेटों के मोह से कहीं अधिक बढ़कर है। इस पर गांधारी बहुत लज्जित हुई।

दुर्योधन के भय की मीमांसा

दुर्योधन छली एवं अत्याचारी है, विषादी है। क्योंकि उसने पांडवों के साथ पग-पग पर छल किया और अत्याचार द्वारा उनके नाश का दुष्ट प्रयास किया है, इसलिए वह मन में बड़ा भयभीत है। वह कहता है—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।। 1/10, गीता

11 अक्षौहिणी प्रशिक्षित एवं वेतनभोगी सेना के होते हुए भी और पांडवों के पास धर्मार्थ संग्रह की हुई अप्रशिक्षित, अवैतनिक (कच्ची) सेना के होते हुए भी दुर्योधन अपने पापों के कारण भीतर ही भीतर भयभीत है। वह कहता है भीम द्वारा रक्षित पांडवों की (थोड़ी) सेना भी पर्याप्त है और भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी (बड़ी) सेना अपर्याप्त है। वह पुनः चिंतित होकर कहता है कि आप सब चारों ओर से भीष्म पितामह की रक्षा करें जबकि भीष्म पितामह उस युग के महानतम योद्धा, अपराजेय वीर एवं इच्छामृत्यु प्राप्त महापुरुष थे। अनीति से भय होता है और भय में अटल पर्वत भी डगमगाते हुए प्रतीत होते हैं।

दुःशासन दुष्टतापूर्ण, क्रूर, अत्याचारी शासन का प्रतीक है। प्रत्येक निरंकुश आततायी शासक अपने अत्याचारों के कारण दूसरों की अपेक्षा अपने से ही अधिक भयभीत रहता है।

अर्जुन की स्थिति

गीता की मुख्य समस्या मनोवैज्ञानिक ही है। अर्जुन जो युद्ध भूमि में उछल-उछल कर शत्रुओं को मारने के लिए उतावला हो रहा था, वह अचानक हथियार फेंककर रोने क्यों लगा? उसका मुख क्यों सूखने लगा? उसका शरीर क्यों कांपने लगा? उसका सिर क्यों चक्कर खाने लगा? वह रोमांचित क्यों हो गया? दस-दस हजार महारथियों को पराजित करने वाले महारथी, वीर शिरोमणि अर्जुन के हाथ से सेर दो सेर वजन का गांडीव क्यों गिरने लगा? अर्जुन की इस परिस्थिति और शारीरिक लक्षणों को देखकर कोई चिकित्सक कह सकता है कि उसे फालिज (लकवा) था। उसे पक्षाघात का आकस्मिक आघात पहुंचा था। ऐसे रोगों में रक्तचाप की कमी या अधिकता के कारण दिल बैठने लगता है अथवा बहुत पसीना आकर दिल बहुत तेजी से धड़कने लगता है। चेतना लुप्त होने लगती है। शरीर अकर्मण्य हो जाता है। किसी विशेष अंग को पूरा रक्त न पहुंच पाने के कारण वह अंग पक्षाघात के आक्रमण से निर्जीव या मृतप्राय-सा हो जाता है। यदि हृदय से बायीं भुजा को रक्त पहुंचाने वाली सूक्ष्म शिरा में बाधा उत्पन्न हो जाए तो हाथ को रक्त की आपूर्ति न होने के कारण हाथ चेतना शून्य-सा होने लगता है और हाथ में पकड़ी हुई कोई भी वस्तु, किताब, कलम, धनुष या बंदूक अपने आप नीचे गिर जाती है। अर्जुन के शारीरिक लक्षणों की बहिरंग परीक्षा करने पर कोई भी डॉक्टर उसे लकवा का रोगी कह सकता है।

किन्तु अर्जुन को कोई शारीरिक रोग नहीं लग गया था। उसे अस्पताल में ले जाकर लम्बा उपचार कराने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उसकी मुख्य समस्या तो मानसिक ही थी। अतः कुछ मिनट के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं समाधान के उपरान्त वह पुनः उसी शरीर के साथ, उसी रणभूमि में, उसी रथ में

बैठे हुए, उसी फेंके हुए गांडीव को पुनः उठाकर अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करने को उद्यत हो जाता है। और विश्व के महानतम महायुद्ध का सर्वोपरि श्रेष्ठ विजेता बन जाता है।

अर्जुन मनोरोग से ग्रस्त कोई पुराना मानसिक रोगी भी नहीं था जिसके लिए उसे किसी मानसिक आरोग्यशाला में भरती करके लम्बे इलाज की आवश्यकता पड़ती। न वह शारीरिक रोग से ग्रस्त था, न मानसिक रोग से। उसे तो अकस्मात् कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में, छोटे और बड़े कर्तव्यों के संघर्ष में निर्णय लेने की क्षमता में, मानव के वास्तविक स्वरूप एवं सृष्टि में उसके जीवनोद्देश्य के विषय में कुछ भ्रान्ति ने आ जकड़ा था। वह भय और शोक से ग्रस्त हुआ एक मानसिक उलझन में फंस गया था। भगवद्गीता अर्जुन की मानसिक उलझन तथा अर्जुन जैसी परिस्थिति में प्रत्येक मानव के सामने उपस्थित होने वाली ऐसी ही मानसिक उलझन का बड़ा सुन्दर, सर्वांगपूर्ण सिद्धान्त एवं क्रिया से सम्मिलित मनोवैज्ञानिक समाधान है।

(क) 'उपोद्घात'—गीता में कर्तव्य को स्वधर्म कहा गया है। यह पहले व्याख्या की जा चुकी है कि कर्तव्य की च्युति से भय उत्पन्न होता है। यह समस्या तब और भी जटिल बन जाती है, जब मनुष्य के सम्मुख समान रूप से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने वाले कर्तव्य परस्पर एक-दूसरे से स्पर्धा करते हुए एक साथ अपना-अपना प्रबल आग्रह प्रस्तुत कर देते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रायः मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है कि किस कर्तव्य का पालन करे और किसे छोड़ दे। उदाहरण—

(1) एक जापानी युवक युद्धकाल में सेना में भरती होने के लिए गया। भरती अधिकारी ने जब यह जाना कि पीछे केवल इसकी बूढ़ी माता है, जिसके पालन-पोषण का दूसरा साधन नहीं है तो उसे वापस घर भेज दिया।

(2) शेक्सपियर के नाटक 'हेमलेट' में हेमलेट का चाचा उसके पिता की हत्या करके उसकी मां से विवाह कर लेता है। बड़े होने पर जब हेमलेट को ज्ञात हो जाता है कि यही मेरे पिता का हत्यारा है, तो वह संकल्प करता है कि मैं पिता के हत्यारे को अवश्य दण्ड दूंगा। पर जब चाचा की हत्या करने जाता है तब उसकी मां अपील करती है कि मुझे विधवा मत बनाओ। मृत पिता के प्रति वफादारी और जीवित माता के दाम्पत्य जीवन की रक्षा, दोनों कर्तव्यों के परस्पर समान आग्रह के कारण हेमलेट मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित हो जाता है और भगवान् कृष्ण जैसा मार्गदर्शक न मिलने के कारण पागल हो जाता है।

(3) एक मजिस्ट्रेट जो हत्या के आरोप में अनेक हत्यारों को फांसी का दण्ड दे चुका था, अपने बेटे को हत्या के अपराध में बंदी देखता है और उस केस

में उचित दण्ड का निर्णय भी उसे ही करना है। तब न्यायनिष्ठा और पुत्रवत्सलता दोनों कर्तव्यों के बीच मजिस्ट्रेट का विवेक लुप्त होने लगता है, सिर चक्कर खाने लगता है। उसका शरीर कांपने लगता है। उसे सब ओर अंधेरा ही अंधेरा दीखता है। एक ओर कुआं, दूसरी ओर खाई। उसके हाथ से लेखनी गिरने लगती है और वह चेतना शून्य होने लगता है।

राजा दशरथ को प्रण-पालन और राम के प्रति प्रेम और न्याय दोनों कर्तव्यों के बीच भीषण टक्कर होने के कारण चेतना शून्य होकर विलाप करते हुए प्राण तजना पड़ा। ऐसी परिस्थिति प्रत्येक मानव के जीवन में आ सकती है। उसे उचित मानसिक बल एवं मनोवैज्ञानिक समाधान के लिए गीता माता की शरण में आना चाहिए। महात्मा गांधी स्वयं कहते हैं—'जब मैं भीषण समस्याओं से घिर जाता हूं, चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देता है, प्रकाश की एक किरण भी दृष्टिगोचर नहीं होती, तब मैं गीता माता की शरण में जाता हूं। गीता माता कामधेनु है। आज तक इसने किसी को भी निराश नहीं लौटाया। अकस्मात् गीता माता मुझे किसी श्लोक में उचित हल बता देती है, और मैं प्रसन्नता से मुसकराने लगता हूं।'

हमने देखा कि कर्तव्यच्युति से भय होता है। हमने यह भी देखा कि कर्तव्यों की आपसी टक्कर से भय, शोक और अन्तर्द्वन्द्व शुरू हो जाता है। जगत् की दृष्टि से भय का कारण कर्तव्यच्युति या कर्तव्यों का द्वन्द्व है क्योंकि कर्तव्य जगत् में अन्य जीवों के प्रति किये जा सकते हैं। किन्तु जो जीव और जगत् दोनों के प्रति कर्तव्यों को कुछ महत्त्व देता ही न हो, भय उसे भी होता है। उसका एक भय तो यह है कि यदि मैं किसी के प्रति कर्तव्य का पालन नहीं करता तो मेरे प्रति कोई क्यों कर्तव्य का पालन करेगा। मेरा साथ कौन देगा। या मुझे कोई रुग्णावस्था में औषधि देने वाला और मरने पर कन्धा देने वाला मिलेगा या नहीं।

जो न कर्तव्य माने और न दूसरों के व्यवहार की आशंका से चिंतित हो, निपट अकेला किसी जंगल में समय बिताता हो, उसे भी भय सताता है। उसके भय का कारण अज्ञान है। कर्तव्य-च्युति भय का मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक कारण है किन्तु अज्ञान भय का आध्यात्मिक कारण है। कभी-कभी जड़ वस्तुओं के अज्ञान से भी भय होता है। जैसे अज्ञात मर्ज का भय, सुनसान जंगल का भय, घर भूल जाने का भय, वस्तु के खो जाने का भय, आदि। किन्तु भय का सबसे बड़ा कारण अपने प्रति अज्ञान है।

अर्जुन की स्थिति कौरवों की स्थिति से भिन्न है। वह न रागी-विषादी है और न लोभी-विषादी। वह तो सात्त्विक विषादी है। विषाद उसे भी होता है, किन्तु न इस बात का विषाद है कि हमसे न्यायपूर्वक संपादन किया शासन छिन जाएगा

और न इस बात का विषाद है कि हम युद्ध में मारे जाएंगे। उसे विषाद तो इस बात का है कि बेचारे कौरव मारे जाएंगे। अपने गोतिज लोगों का व्यर्थ में नाश होगा। अर्जुन के सत्त्व प्रधान मन में ही बारी-बारी से कई मनोविकार आकर अपनी रंगत दिखाते हैं। प्रारम्भ में अर्जुन जोश में भरा हुआ अभिमान के स्वर में आततायी कौरवों के प्रति रोष में भरकर कृष्ण से बोला—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।। 1/21, गीता

हे अच्युत! दोनों सेनाओं के मध्य में मेरा रथ स्थापित कीजिये ताकि में देखूं कि दुर्बुद्धि दुर्योधन का कल्याण चाहने वाले कौन-कौन से माई के लाल मुझसे युद्ध करने के लिए उपस्थित हुए हैं। अर्जुन के इस वचन में अभिमान का स्वर था जिसमें वह भगवान् श्रीकृष्ण को मुख्य आचार्य, मार्गदर्शक न मानकर मात्र सारथि समझकर महारथी के गर्व के साथ आदेश देने लगता है। अर्जुन के स्वर में अपने बल-पौरुष का अभिमान तथा कौरवों के प्रति द्वेष, दोनों मिले हुए हैं। भगवान् को एक सच्चे कर्मयोगी में ये दोनों मनोविकार पसन्द नहीं हैं।

अर्जुन के मन में आवश्यकता से अधिक भरोसा था कि हम निश्चय ही जीतेंगे तथा भीष्म और द्रोण जैसे धर्मात्मा पुरुष जो हमें नित्य विजय का आशीर्वाद देते थे, वे इस युद्ध में हमारे पक्ष में रहेंगे। या असल युद्ध में निष्पक्ष रहेंगे। पापी कौरवों का साथ तो वे कभी दे ही नहीं सकते।

अर्जुन जानता था कि भीष्म पितामह को इच्छामृत्यु का वर प्राप्त है और युद्ध में उन्हें पराजित करने की शक्ति किसी मानव में तो थी ही नहीं, स्वयं परशुराम जैसे अवतार और शंकर जैसे (महादेव जी) उन्हें पराजित नहीं कर सके थे। द्रोणाचार्य को वरदान मिला था कि उनके पुत्र अश्वत्थामा चिरंजीवी होंगे। उन्होंने स्वयं तपस्या करके शंकर भगवान् से यह भी वरदान प्राप्त कर लिया था कि शस्त्रधारण किए उन्हें कोई पराजित न कर सके और पुत्र के मरने के पूर्व उनकी मृत्यु न हो। इस कारण युद्ध में द्रोणाचार्य भी अपराजेय ही थे। न चिरंजीवी पुत्र मरे और न वे मरने तक हथियार डालें और न उनको पराजित कर सके। इसलिए भीष्म-द्रोण ये महाभारत रूपी रणनदी के अति दुर्गम तट थे जिनसे पार पाना अर्जुन के लिए कठिन ही नहीं असम्भव ही था। पर अर्जुन के मन में यह विश्वास था कि यह दोनों गुरुजन युद्ध में कम से कम उसके विरुद्ध तो नहीं खड़े होंगे।

भगवान् श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं। अन्त:करण में जहां से भावों का मूल उद्‌गम होता है, साक्षात् वहीं से उनको तुरन्त जान लेने वाले अन्तर्यामी हैं। अन्त:करण में भाव उठता है, फिर मन में संकल्प की तरंग पैदा होती है, चित्त उन पर चिन्तन करता है, बुद्धि विचार करती है, बुद्धि का निर्णय हो जाने पर अहंकार

भीतर ही निश्चय कर लेता है, मैं यह करूंगा। अहंकार की अन्तर्वाणी सुनकर वाक्-इन्द्रिय बोल उठती है, मैं युद्ध में तुम्हें मारूंगा अथवा युद्ध नहीं करूंगा। तब बाकी लोगों को पता चलता है। इस प्रकार मनुष्य के भाव का प्रकाश जगत् में वाणी के द्वारा बहुत बाद में होता है। किन्तु मनुष्य के अपने मन अथवा बुद्धि को भी जब तक पूर्ण निश्चय नहीं होता तब भी अंत:करण में बैठे हुए अन्तर्यामी परमेश्वर सीधे हमारे अन्तर्भाव को जान लेते हैं। दूसरे शब्दों में, जीव की वाणी से जगत् को पता चलता है कि जीव क्या करना चाहता है। जीव को स्वयं अपने अन्तर्भाव से संकेत मिलता है कि वह क्या करना चाहता है। प्राय: जीव के अचेतन मन में जो भाव उठता है, उसको जीव का चेतन मन प्रकट रूप में स्वीकार नहीं करता। उदाहरण—यदि जीव के अचेतन मन में कायरता से युद्ध में भागने का भाव हो, तब भी चेतन मन समाज की प्रतिष्ठा के विचार से उसको कभी स्वीकार नहीं करता। अचेतन मन में पापाचार, छल-छद्म या ठगी का भाव होते हुए भी चेतन मन सामाजिक मर्यादा या लोक प्रतिष्ठा हनन के भय से उसे प्रकट होने नहीं देता और किसी मनोवैज्ञानिक के बताने पर भी कि तुम्हारे अचेतन मन में अमुक भाव है, वह चेतन मन से स्वीकार ही नहीं करता।

अत: जीव और जगत्, दोनों को पता लगने से पूर्व अन्तर्यामी सीधे ही अन्तर्भाव को जान लेता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को पता चलने से पहले कि मैं क्या करना चाहता हूं और संसार को पता चलने से पहले कि वह क्या करना चाहता है, अन्तर्यामी परमेश्वर साफ-साफ जानते हैं कि वह क्या करना चाहता है। मनुष्य का सच्चा मैं, शुद्ध आत्मा या परमात्मा पहले जान लेता है और मनुष्य का व्यावहारिक मैं या अहंकारी मैं (जीवात्मा) बाद में जानता है। इसलिए भगवान् गीता में अर्जुन से कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।। 4/5, गीता

अर्थात् हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु हे परंतप! उन सबको तू नहीं जानता है और मैं जानता हूं। दूसरे शब्दों में जो जीवात्मा नहीं जानता है, उसे ही शुद्धात्मा अन्तर्यामी जानता है।

अन्तर्यामी भगवान् कृष्ण अर्जुन के मन के भावों को अर्जुन से भी अधिक अच्छे से जान रहे हैं—

(क) अर्जुन के मन में महारथी होने का अहंकारभाव आ गया था।

(ख) अर्जुन के मन में राज्य छीनने वाले कौरवों के प्रति द्वेषभाव भी जाग उठा था।

(ग) अर्जुन के मन में यह मिथ्या धारणा थी कि भीष्म और द्रोण जैसे ज्ञानी गुरुजन पापी दुर्योधन का अन्न खाकर भी धर्मात्मा पांडवों का साथ देंगे।

(घ) उसे यह भी मिथ्या विश्वास था कि भीष्म और द्रोण जैसे अजेय योद्धाओं से उसे लड़ने का अवसर आएगा ही नहीं और वह अपने बल-पौरुष से कौरव सेना को परास्त कर ही लेगा।

भगवान् अन्तर्यामी होने के कारण इन सब भावों को ताड़ गए। इसलिए जब अर्जुन ने कहा मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कीजिये ताकि मैं देख सकूं कि कौरवों के साथ मुझसे लड़ने के लिए कौन-कौन योद्धा आए हैं तो भगवान् ने रथ को सीधे भीष्म और द्रोण के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया। अपने अजेय गुरुजनों को अपने सामने युद्ध में कौरवों के प्रधान सेनापति और द्वितीय प्रधान सेनापति के रूप में सज्जित देखा। उन्हें जीत सकना अर्जुन के बूते के बाहर था। बिना भगवान् के मार्गदर्शन के इन अजेय गुरुजनों को कभी नहीं जीत सकता था। उनको देखते ही अर्जुन ने हथियार डाल दिए। आंखों में आंसू भरकर कहने लगा—

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। 1/30, गीता

हाथ से गांडीव धनुष गिरता जा रहा है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है। इसलिए मैं खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूं।

अर्जुन के मन में अचानक एक ऐसा आकस्मिक अन्तर आ जाने का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

(क) वह महारथी के अभिमान से बड़े गर्व के साथ युद्ध भूमि में प्रवेश कर रहा था। अपने सम्मुख अजेय शत्रु सेनापति को देखकर उसका गर्व चूर-चूर हो गया और उसे लगा कि व्यर्थ में पहाड़ से सिर टकराने का कोई लाभ नहीं है। इसलिए युद्ध में पराजित होने के कलंक के स्थान पर युद्ध न करने का निश्चय अधिक बुद्धिमत्ता का कार्य होगा।

(ख) जिन्हें धर्म का पक्षधर समझा था उन्हें अधर्मी के आश्रित होने के कारण पापसेना का सेनापति बना देखकर अर्जुन के मन को गंभीर धक्का लगा। वास्तव में वेद का वचन है **'आहारशुद्धो सत्त्वशुद्धिः'** अर्थात् आहार की शुद्धता से ही मन शुद्ध होता है। प्रसिद्ध कहावत है जैसा खाओ अन्न वैसा बने मन। राजस्थानी में उक्ति है—जाकी खाओ बाजरी ताकी भरो हाजरी। अर्जुन इस तथ्य को भूल गया था। भीष्म पितामह, तपस्वी, वीरव्रती, दृढ़प्रतिज्ञ एवं ज्ञानी होते हुए भी पाप आश्रित अन्न खाते थे। पापी राजा के हाथ बिकी विद्वत्ता राष्ट्र या

मानवता का बहुत बड़ा कल्याण नहीं कर सकती। द्रोणाचार्य प्रथम ब्राह्मण थे जिन्होंने कुरुवंश की नौकरी कर पेट पालना प्रारम्भ किया। इससे पहले ब्राह्मण केवल निष्कामभाव से विद्या के सम्पादन एवं वितरण के पवित्र कर्म में लगे रहते थे। द्रोणाचार्य ने गुरु होते हुए कौरवों की नौकरी करके गुरुपद को छोटा कर दिया। इसलिए वे अपनी धनुर्विद्या के स्वामी होते हुए भी धर्म एवं नीति के बहुत सुदृढ़ सिद्धान्तवादी आचार्य नहीं बन सके। राज्याश्रित या सत्ता पर आश्रित विद्वत्ता उत्तम ढंग से फलती-फूलती नहीं और यदि आश्रयदाता स्वयं कुटिल और पापिष्ठ हो तो ज्ञानीजन भी ज्ञानबंधु या ज्ञानपापी बन जाते हैं। ज्ञानबंधु शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयोग होता है जो जानता बहुत कुछ है किन्तु कर कुछ नहीं सकता। ज्ञानपापी वह है जो धर्म को जानते हुए भी धर्म के विरुद्ध आचरण करता रहता है। ईश्वरीय न्याय में दोनों ही दंडनीय हैं।

(ग) अर्जुन के मन में युद्ध भूमि में प्रवेश करते समय कौरवों को शत्रु मानकर उनके प्रति द्वेष का भाव था। किन्तु भीष्म-द्रोण आदि अपने पूज्य एवं बंधु-बान्धवों को देखकर उसके मन में उनके प्रति राग उत्पन्न हो गया—हाय! इन अपनों को इन अपने हाथों से कैसे मारूं। ये राग-द्वेष कर्तव्यच्युति के सबसे बड़े कारण बन जाते हैं। यही न्याय मार्ग के सबसे बड़े बाधक कारण, यही समाज में भ्रष्टाचार एवं परिवार पोषण, अपनों की रियायत और परायों के प्रति वैर के मूल मनोविकार हैं।

भगवान् कर्तव्यपरायणता के लिए राग अथवा द्वेष किसी को सहन नहीं कर सकते। कर्तव्यपरायणता के लिए भगवान् का गीता में प्रदत्त मार्गदर्शन निम्न प्रकार से है—

(4) कर्तव्य धर्म है। अपने नियत कर्तव्य या धर्म का पालन करते हुए मर जाना भी, अपने स्वधर्म को छोड़कर परधर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा अधिक अच्छा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। 3/35, गीता

'अपना धर्म कम गुणवाला होने पर भी अधिक कल्याणकारी है, अपेक्षाकृत दूसरे के अधिक तड़क-भड़क वाले धर्म के। अपने स्वधर्म में मरना भी कल्याणकारी है, दूसरे का धर्म भय देने वाला है।' गीता में स्वधर्म शब्द को अपने वर्णाश्रम द्वारा नियत कर्तव्य धर्म के अर्थ में ही लिया गया है। उस समय न ईसा का जन्म हुआ था न ईसाइयत का। न मुहम्मद का जन्म हुआ था न मुहम्मदी धर्म का। न बुद्ध का ही जन्म हुआ था। अतः गीताकाल में स्वधर्म और परधर्म का अर्थ आज के समान

हिन्दू और अहिन्दू धर्म न था। गीता का स्वधर्म स्वकर्तव्य के अर्थ में है और परधर्म अपने कर्तव्य को छोड़कर दूसरे के कर्तव्य का पालन है। अर्जुन का स्वधर्म क्षत्रिय धर्म है। धर्म की रक्षा करना और आततायी का नाश करना क्षत्रिय का धर्म है। अर्जुन अपने स्वजनों-बंधुगणों को युद्ध भूमि में देखकर कर्तव्य भूल जाता है और क्षत्रिय के धर्म को त्यागकर ब्राह्मण के अहिंसा, युद्ध से उपरति, वनगमन, तपस्या और भिक्षुक के समान भिक्षा पर निर्वाह की बातें करने लगता है। वास्तव में अर्जुन अपनी वृत्ति और प्रवृत्ति से ब्राह्मण नहीं बन गया, ब्राह्मण के गुण भी उसमें नहीं आ गए, किन्तु अपने क्षात्रधर्म से कर्तव्यच्युति के लिए, अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए ब्राह्मण धर्म की ओट ले लेता है।

(क) भगवान् उसके ब्राह्मण धर्म की ओट का भी पर्दाफाश कर देते हैं। तुम बातें पंडितों जैसी करते हो किन्तु पंडित, जो चले गए हैं, उनके लिए और जो जाने वाले हैं, उनके लिए किसी के लिए शोक भी करते ही नहीं हैं। अतः अर्जुन ब्राह्मण धर्म की झूठी ओट से अपनी दुर्बलता को ढकता है। क्षात्रधर्म से च्युत हो रहा है और वैश्य के समान युद्ध में हानि-लाभ, जय-पराजय को तौलने लगता है। और शूद्र के समान रो रहा है।

(ख) अपनी माता कुरूप और निर्धन होते हुए भी उसके मन में हमारे लिए जैसी कल्याण भावना निहित है, वैसी किसी सुन्दर, सजी-सजीली धनवान वेश्या के मन में कभी नहीं हो सकती। अतः जिस स्वधर्म में भगवान् ने हमें जन्म दिया है, भगवान् उसी में हमारा परम कल्याण समझते हैं। जो व्यक्ति या धर्मप्रचारक हमें प्रभुप्रदत्त स्वधर्म से हटाकर किसी अन्य परधर्म में हमारे अधिक कल्याण का प्रलोभन देता है वह भगवान् के विधान का तिरस्कार करता है और अपने को भगवान् से अधिक बुद्धिमान सिद्ध करने का दम्भ भरता है।

(ग) मछली का स्वधर्म जल में जीने का है। यदि कोई यह समझे कि हम बहुत धनवान हैं और जल बहुत सस्ती वस्तु है इसलिए दूध में रखी जाए तो दूध में मछली को रखने से दूध भी बिगड़ जाएगा और मछली भी मर जाएगी।

(घ) युद्ध का नगाड़ा बज जाने पर, भारत-चीन युद्ध छिड़ जाने पर यदि कोई सैनिक अधिकारी अपना नियत कर्तव्य छोड़कर ये कहे कि युद्ध एक रक्तपात की घिनौनी प्रक्रिया है। इसके स्थान पर भागवत का पारायण करने से मोक्ष मिलेगा, तो यह एक ढोंग मात्र गिना जाएगा। इससे समाज में अव्यवस्था एवं असुरक्षा फैल जाएगी। यदि देश के रक्षक समय पर देश की रक्षा ही नहीं करेंगे तो भागवत पाठ करने की वृत्ति वाले ब्राह्मण भागवत पाठ कैसे करेंगे?

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्राध्ययनं प्रणीयते।

शस्त्र द्वारा रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र का अध्ययन हो सकता है। यदि युद्ध-भूमि में सभी वर्णों के लोग लड़ने के लिए जा पहुंचेंगे तब भी अव्यवस्था फैल जाएगी। सैनिकों को धर्मयुद्ध की प्रेरणा देने के लिए ब्राह्मण चाहिए। सैनिकों को भोजन सामग्री पहुंचाने के लिए वैश्य भी चाहिए। युद्ध के समय सैनिकों के बच्चों तथा अन्य लोगों की शिक्षा के लिए शिक्षक भी चाहिए।

सैनिकों की तथा शेष समाज की सेवा के लिए सड़कें बनाने, सफाई करने, नहर खोदने, भार उठाने के लिए रथ-घोड़े, वाहन चलाने के लिए सेवक, शूद्र भी चाहिए। अतः सभी के अपना-अपना स्वधर्म पालन करने से समाज की सुन्दर व्यवस्था बनी रह सकेगी। अर्जुन स्वधर्म को भूलकर भयभीत हो रहा था। अतः उसे स्वधर्म पालन का उत्तम पाठ पढ़ाकर भगवान् ने भयमुक्त किया।

समत्वयोग

समत्वयोग—स्वधर्म पालन के लिए समत्व सबसे बड़ा योग है। भगवान कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। 2/48, गीता

हे अर्जुन! तुम आसक्ति त्यागकर, सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित होकर कर्म करो। क्योंकि समत्व ही सच्चा योग है।

इन्द्रियों द्वारा विषयों की जो शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुःखद अनुभूति होती है, उससे मन चंचल हो उठता है। कर्तव्यपरायणता के लिए यह अत्यावश्यक है कि इन सब विपरीत अनुभूतियों के मनोविकारों में कर्तव्यपरायण व्यक्ति अपने मन को सम बनाए रखे। यदि राजस्थान के मरुस्थल में और लद्दाख की बर्फीली चोटी में मन को सम रखकर कर्तव्य हो सकता है तभी कर्ता कर्मयोगी कहलाता है। यदि अनुकूल जलवायु और प्रतिकूल जलवायु हमारे कर्तव्यपालन में कोई अन्तर नहीं डाल सकता तभी सच्चा कर्मयोग है। यदि महलों के राजसी भोग और जंगलों में घास की रोटी दोनों में सम रहकर मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए संघर्ष चालू रहता है तभी सच्चा कर्मयोग है। अनुकूल के कर्मी और प्रतिकूल परिस्थिति के कामचोर सच्चे कर्तव्यपरायण नहीं हो सकते।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। 2/14, गीता

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।। 2/15, गीता

अतः तितिक्षु सुख-दुःख में सम, धैर्यवान ही सच्चा कर्मयोगी बनने का पात्र है।

सुख-दुःख में समता—अनुकूल प्रतीति से मन को सुख और प्रतिकूल प्रतीति से मन को दुःख होता है। लाभ से मनुष्य को उसी कार्य को पुनः करने का लोभ बढ़ता है, हानि से कर्म में निराशा हो जाती है। जय से उत्साह बढ़ता है, पराजय से उत्साह भंग हो जाता है। सच्चे कर्मयोगी को सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय में सम रहना चाहिए—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। 2/38, गीता

यदि देशभक्ति के कार्य में फूलमालाओं से सत्कार हो अथवा फांसी की डोरी पहन कर मरण का त्योहार मनाना पड़े तो भी सच्चा देशभक्त दोनों परिस्थितियों में कर्तव्यपालन की आन्तरिक प्रसन्नता से मुसकराता रहता है।

प्रज्ञा का स्थिर एवं सम रहना

स्थितप्रज्ञता—कर्तव्यपरायण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण मानसिक स्थिति स्थितप्रज्ञ की मनोभूमिका है। मन जब इन्द्रियों के वश में होकर विषयों की ओर भटकता है तब सांसारिक विषय क्षणिक, अनित्य, परिवर्तनशील एवं नश्वर होने के कारण अपने अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव के साथ मन को नचाते हैं। कभी हंसाते हैं, कभी रुलाते हैं, कभी उत्साह से भर देते हैं, कभी निराशा में पटक देते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी चिन्तातुर कर देते हैं, कभी लोभ में वेग से दौड़ाते हैं, कभी हानि में गर्दन तोड़ देते हैं, कभी मनोरंजन कर नचाते हैं, कभी वियोग में छाती फाड़ डालते हैं। सामान्य मनुष्य की बुद्धि उसके मन के वश में रहती है, मन इन्द्रियों के वश में चला जाता है, इन्द्रियां विषयों के वश में चली जाती है और विषयों के परिवर्तन एवं क्षणभंगुरता से बुद्धि चंचल हो उठती है। जिसकी बुद्धि एक क्षण में एक निश्चय करती है और दूसरे क्षण में मन की चंचलता के कारण विपरीत निश्चय करने लग जाती है उसकी बुद्धि विषम है, सम नहीं। चंचल है, स्थिर नहीं। विचलित है, अविचलित नहीं। भ्रष्ट है, पुष्ट नहीं। ऐसा व्यक्ति दीन दुर्बलप्रज्ञ है, स्थितप्रज्ञ नहीं। जब उसकी बुद्धि ही स्थिर नहीं तो वह स्वधर्मपालन में दृढ़तापूर्वक कैसे डट सकता है। उदाहरण—यदि घंटाघर की विशाल घड़ी से हम अपनी घड़ियों का मिलान करना चाहें तो यह अनिवार्य है कि घंटाघर की घड़ी दायें-बायें के झंझावातों से अथवा पक्षियों के नृत्य-कलरव से चलायमान होने वाली न हो। यदि अभी घड़ी तीन बजा रही है और पक्षी के सूई पर बैठने से छह बज जाए, पुरवा की हवा चलने से नौ बज जाए और पछवा हवा के चलने से चार बज जाए तो उस घड़ी का भरोसा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की बुद्धि इतनी चंचल है कि कभी कहता है कि देश के लिए सर्वस्व बलिदान कर देना चाहिए, और पुलिस की लाठी देखकर कहता

है व्यर्थ में सिर फुड़वाना मूर्खता है। पकड़ा जाने पर नाक रगड़कर माफी मांगता है और कहता है अंग्रेज सरकार हमारी माई-बाप है और आजादी मिलने पर कहता है, हम भी पुराने स्वाधीनता सेनानी हैं। अतः ताम्रपत्र मिलना चाहिए। तो ऐसे चंचल बुद्धि व्यक्ति का क्या भरोसा किया जा सकता है और उससे समाज का क्या कल्याण हो सकता है। इसलिए कर्मयोगी के लिए बुद्धि का सम रहना परम अनिवार्य है।

भारत के अंतिम मुगल सम्राट्, 1857 के क्रान्तिवीर बहादुरशाह जफर ने गीता के इसी भाव को अपनी कविता की लड़ी में पिरो दिया है—

जफर आदमी उसको न जानियेगा

चाहे कितना हो इल्मो-फहमो बका

जिसे ऐश में यादे खुदा न रही

जिसे तैश में खौफे खुदा न रहा

चाहे कितना ही विद्वान्, सुज्ञ पण्डित हो, ज्ञानी

ऐश्वर्य भोग में जिसको प्रभु का सिमरन भूले,

क्रोध में प्रभु का भय त्याग करे निष्ठुर मनमानी।

इल्म = विद्या

फहम = ज्ञान

बका = रहस्यज्ञान

ऐश = ऐश्वर्य

तैश = क्रोध

खौफ = भय

गीता में भगवान् कहते हैं—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। 2/56, गीता

'दुःखों की प्राप्ति में उद्वेगरहित मन जिसका और सुखों की प्राप्ति की स्पृहा दूर हो गई है तथा जिसके राग, भय, और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है।'

निन्दा स्तुति में सम—एक सच्चे कर्मयोगी को न निन्दा में उदास हो जाना चाहिए और न स्तुति में फूलकर कुप्पा हो जाना चाहिए—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। 12/19, गीता

जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला और मननशील है अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला है एवं जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट है और रहने के स्थान में ममतारहित है वह स्थिरबुद्धि वाला भक्तिमान पुरुष मेरे लिए प्रिय है।

(5) अपने-पराये में सम—मनुष्य का अपनों के प्रति स्वाभाविक राग होता है तथा दूसरों के प्रति द्वेष होता है। किन्तु सच्चे कर्मयोगी को न अपनों के प्रति राग में बह जाना चाहिए न दूसरों के प्रति द्वेष के विष में जलते रहना चाहिए। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में भी भगवान् ने कहा है कि जो राग-द्वेष से वियुक्त होकर अपने मन को वश में रखते हुए उचित निर्वाह के लिए इन्द्रियों का विषयों से संसर्ग करता है वह आत्मवशी पुरुष सदा प्रसन्नता को प्राप्त होता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। 2/64, गीता

नवम् अध्याय में भगवान् स्वयं कहते हैं कि मैं सब भूतों में सम हूं और मेरे लिए कोई भी राग या द्वेष का पात्र नहीं है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

राग और द्वेष परस्पर एक-दूसरे के पूरक मनोविकार हैं। बिना राग के द्वेष और बिना द्वेष के राग हो ही नहीं सकता। एक के प्रति राग का अर्थ ही है अन्यों के प्रति द्वेष। चाहे व्यक्ति उसे स्वीकार करे या न करे किन्तु राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि अध्यापक कक्षा में अपने किसी प्रिय छात्र को अवैध रूप से एक अंक अधिक दे देता है तो वह जाने-अनजाने शेष सभी छात्रों के प्रति द्वेष का व्यवहार कर रहा है। क्योंकि एक-एक अंक द्वारा एक सीढ़ी ऊपर चले जाने से शेष सभी छात्र क्रमशः एक-एक सीढ़ी नीचे हो जाएंगे। जिसका प्रथम स्थान बनता था, उसका द्वितीय, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का चतुर्थ इस प्रकार सभी एक-एक दर्जा नीचे गिर जाएंगे। अतः एक को अनुचित रूप से ऊपर उठाना, शेष सबको अनुचित रूप से गिराने के बराबर हो जाएगा। अतः राग में द्वेष गुप्त रूप से छिपा हुआ ही है।

स्वामी रामतीर्थ जब अमेरीका में थे तो एक अमेरीकन महिला ने जिसका इकलौता पुत्र मर गया था, स्वामीजी के पास आकर कहा—मुझे शान्ति दीजिये, मेरा इकलौता पुत्र मर गया है। स्वामीजी ने कहा—पुत्र को चिरनिद्रा में सोने दो, शान्ति हो जाएगी। उसने आक्रोश में चिल्ला कर कहा—ओ भारतीय स्वामी! आप एक जवान माता के मन को नहीं पहचानते, मुझे मेरा पुत्र चाहिए। स्वामीजी

ने कहा—यदि आपमें मातृत्व की लालसा है तो उठा लो उस रोते हुए हब्शी बच्चे को और उसका अपने बेटे के समान लालन-पालन करो, तुम्हें शान्ति मिल जाएगी। इस पर विदेशी महिला ने पुनः आक्रोश में भरकर कहा—यह असंभव है। यह हब्शी बच्चा गन्दगी से भी अधिक गंदा है, मैं उसको स्पर्श भी करना नहीं चाहूंगी। उसे देखने से भी मुझे घिन आती है और आप मुझे उसे उठाकर चूमने-पुचकारने और बेटे के समान पालने की बात कह रहे हैं, यह असंभव है। स्वामी, तुम एक जवान माता के मातृत्व से क्रूर मजाक कर रहे हो। इस पर स्वामीजी मुसकराये और कहा—मां, या तो बेटे का राग छोड़ दो या पराये बेटे का द्वेष छोड़ दो, तुम्हें शान्ति मिल जाएगी। न तुमसे अपने बेटे का राग छोड़ा जाता और न पराये बेटों का द्वेष। भगवान् ने तुम्हें इसी पाप का दंड दिया है। महिला ने रो-रोकर अंत में और कोई उपाय न देखते हुए उस बच्चे को उठा लिया और उसे प्यार से पुचकारा। अपने बेटे की तरह पाला-पोसा, पढ़ाया और उसे शान्ति मिल गई।

आज मानवता राग और द्वेष की दो विषम अग्नि ज्वालाओं के बीच में जल रही है। क्लबों एवं भोगमहलों में राग की अग्नि भड़क रही है। कचहरी और युद्धस्थलों में द्वेष की अग्नि भड़क रही है। यदि मानव पेट्रोल का एक ड्रम अपने सिर पर उड़ेल ले और एक अपने पांव और कपड़ों पर उड़ेल ले और स्वयं अपने हाथ से आग लगा ले और चौराहे के बीच छाती पीटकर रोये कि मुझे बचाओ, तो इसमें दोष किसका है? आज मानव स्वयं ही राग और द्वेष की अग्नियों को अपने मन की स्वीकृति से भड़काकर उनके बीच में करुण-क्रन्दन कर रहा है। गीता के समत्व दर्शन के अमृतजल बिना उसे कौन बचा सकता है। किसी दूसरे द्वारा लगाई हुई आग को तो कुछ प्रयास से बुझा सकते हैं किन्तु जो राग और द्वेष की आग हमारी ही सहमति से हमारे भीतर-भीतर छिपकर लगाई गई हो उसे बुझाए भी कौन?

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। 5/19, गीता

मित्र-शत्रु में समत्व—जिसके प्रति बार-बार राग होता है उसे मित्र कहते हैं। जिसके प्रति बार-बार द्वेष भाव पैदा होता है उसे शत्रु कहते हैं। राग-द्वेष भाव जब स्थायी हो जाता है वह मित्र-शत्रुभाव बन जाता है। दूसरे शब्दों में, जो हमारे प्रति बार-बार भला करता है उससे राग हो जाता है और वह हमारा मित्र बन जाता है। जो हमारे प्रति बार-बार बुरा करता है उसके प्रति द्वेष भाव उत्पन्न होता है। समझ जाते हैं कि यह शत्रु है। सच्चे कर्मयोगी को मित्र-शत्रु में भी सम-भाव रखना चाहिए—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।। 12/18, गीता

जो शत्रु और मित्र में सम है, उसी प्रकार मान और अपमान में भी (सम) है तथा शीत-उष्ण, सुख-दु:ख (आदि द्वन्द्वों) में सम और आसक्ति से रहित है।

सब वर्णों में समत्व—ब्राह्मण ज्ञान साधना के कारण उच्च वर्ण अवश्य है और शूद्र तमोगुण की अधिकता के कारण अज्ञान जनित कर्मों (पशुओं की खाल उतारना, चमड़े का काम करना, मल की सफाई, मजदूरी करना, मद्य, मांस भक्षण) आदि के कारण नीच वर्ण माना जाता है। किन्तु वे सभी वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एक ही समाजपुरुष के अंग होने के कारण समान रूप से प्रिय एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से शिर-शिर का काम करते हुए, भुजायें, पेट एवं पैर अपना-अपना काम करते हुए सभी मर्यादा में रहते हुए सभी का शरीर रचना एवं प्राण रक्षा में समान महत्त्व है। इस बात को सच्चा कर्मयोगी जानता है इसलिए वह वर्णों की मर्यादा का पालन करते हुए भी सब में समाजपुरुष के नाते या मानवता के नाते या सबमें ब्रह्मदृष्टि के नाते सबको समान मानकर कर्म करता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। 5/18, गीता

विद्या से सम्पन्न ब्राह्मण में, गो में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में सच्चा ब्रह्मदर्शी समदृष्टि रखता है। इसमें भगवान् ने समदर्शिनः तो कहा है किन्तु समवर्तिनः नहीं कहा। भाव यह है कि सबमें समान दृष्टि अर्थात् ब्रह्मदृष्टि रखे, किसी के साथ अन्याय न करे, किसी को न सताये, सबका यथायोग्य रक्षण करे किन्तु व्यवहार लोकमर्यादा के अनुसार ही करे। यज्ञ करना हो तो विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण से करावे, चाण्डाल से नहीं। दुग्ध प्राप्ति के लिए गो की सेवा करे, कुत्ते से दूध की आशा न करे। ऐश्वर्य की सवारी करनी हो तो हाथी की करे, गो या कुत्ते पर सवारी न करे। मकान की रक्षा के लिए कुत्ते से काम ले, ब्राह्मण या गाय से नहीं। मृत पशुओं के शरीर का निबटारा कराना हो तो चाण्डाल को बुलाए, ब्राह्मण या क्षत्रिय को नहीं। सबसे व्यवहार यथायोग्य करे और सबमें ब्रह्मदृष्टि रखे अर्थात् ये सब ब्रह्म के ही रूप हैं। किसी से घृणा या किसी पर अत्याचार करने का मुझे कोई अधिकार नहीं।

धनी-निर्धन वर्गों में समता—आर्थिक दृष्टि से समाज में धनी एवं निर्धन वर्ग बन जाते हैं। भारत का समाज वर्णप्रधान है तो पश्चिम का समाज वर्ग प्रधान। वहां धनी एवं निर्धन का भेद इतना भयंकर है कि धनी निर्धनों से घृणा करते हैं और कार्लमार्क्स नामक विचारक निर्धनों के मन में वैर एवं विद्वेष की अग्नि भड़काकर धनवानों का नाश करने के लिए रक्त क्रान्ति करवाता है। भारत में आज तक धनी एवं निर्धन के बीच इस प्रकार की विद्वेष के विष से भरी हुई रक्त क्रान्ति नहीं हुई थी किन्तु पश्चिम के वर्ग विद्वेष के विष से इस प्रकार की विषम

स्थिति पैदा करने का प्रयास किया जा रहा है। भारत में द्वारकाधीश श्रीकृष्ण ने अपने अति दरिद्र मित्र सुदामा के धूलभरे और कंटकाछन्न चरणों को नयनों के जल से धोकर वर्ग समता का आदर्श रखा। भारतीय संस्कृति के अनुसार धन सब भगवान् का है, सारे ऐश्वर्य का स्वामी ईश्वर है, सारी प्रभुता का स्वामी प्रभु है, सारे वैभव का स्वामी विभु है, समस्त लक्ष्मी का स्वामी नारायण है, सारी प्रकृति का स्वामी परमेश्वर है। अतः व्यक्ति धन का स्वामी न होकर मात्र उसका न्यासी है (Trustee)। उसे धन पर स्वामित्व का नहीं वरन् उस धन का विश्व कल्याणार्थ अच्छे से अच्छा सदुपयोग का अधिकार है। अतः धन की अधिकता का अर्थ धन के सदुपयोग का अधिक बड़ा कर्तव्यभार है। अतः धन की अधिकता या न्यूनता के कारण वर्ग और वर्ग विद्वेष को स्थान नहीं है। धन का नाम द्रव्य है जिसका अर्थ है बहने वाला। यह निरन्तर एक हाथ से दूसरे हाथ में बहता रहता है। इसलिए जो आज धनी है, कल निर्धन हो सकता है। रंक से राजा और राजा से रंक यह परिवर्तन होता रहता है।

परमेश्वर सच्चा दाता है। दाता के गुण तीन—देवे, दिलावे और छीन ले। वह जिसे देता है उसे धनवान बना देता है, जिसको दिलवाता है उसको भाग्यवान और जिसका छीन लेता है उसको कंगाल। क्योंकि धन हाथ बदलता रहता है। इसलिए धनी और निर्धन के पक्के वर्ग नहीं बन सकते। फिर प्रत्येक व्यक्ति किसी की अपेक्षा से निर्धन है और किसी अन्य की अपेक्षा से धनवान होता है। एक पैसा वाला भी उसकी अपेक्षा धनवान है जिसके पास कुछ नहीं है और दो पैसे वाले की अपेक्षा निर्धन है। इस क्रम से लखपति, कोटिपति भी किसी की अपेक्षा से निर्धन और किसी की अपेक्षा से धनवान है। अतः धन के आधार पर निर्धन और धनी के वर्ग बांटना असम्भव है। सभी लोग सापेक्ष दृष्टि से धनी और सापेक्ष दृष्टि से निर्धन हैं। अतः धनी एवं निर्धन में अनिवार्य वर्गसंघर्ष का अर्थ होगा सबका सबसे संघर्ष। War of all against all. गीता हमें समस्त वर्ग भेदों में सम रहने की शिक्षा देती है। सम्पत्ति और विपत्ति दोनों में हमें स्वयं सम रहना है। सम्पत्ति में गर्दन अकड़े नहीं और विपत्ति में छाती फटे नहीं, तभी कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ कहला सकता है। जैसे अपनी सम्पत्ति-विपत्ति में सम रहे उसी प्रकार सम्पत्तिवान और दरिद्र, दोनों में समदृष्टि रखे।

जीव मात्र में समता—(जीवन तत्त्व)—केवल मनुष्य मात्र में ही नहीं, केवल वर्णों में ही नहीं, केवल वर्गों में ही नहीं वरन् जीव मात्र में एक ही आत्मा का दर्शन करने वाला आत्मदर्शी सच्चा कर्मयोगी हो सकता है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।। 12/13, गीता

'जो समस्त प्राणियों में द्वेष से रहित, मित्र भाव से युक्त और करुणावान है तथा ममत्वरहित, अहंकार रहित, सुख-दुःख में समभावयुक्त और क्षमावान है।'

इस प्रकार शान्ति को प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित एवं स्वार्थ रहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित एवं अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करने वालों को भी अभय देने वाला है, ऐसा कर्मयोगी जो प्रत्येक जीव को सम मानता है जो एक चींटी तक को भी कष्ट नहीं देना चाहता वह सारे विश्व का मित्र बन जाएगा।

सब जीवों में समदर्शन (ब्रह्मदर्शन)—सब जीवों में जीवन की पवित्रता के आधार पर सबको समान मानना एक आदर्श है जिसे बौद्ध और जैन भी स्वीकार करते हैं, किन्तु गीता का समदर्शन केवल जीवन की पवित्रता के आधार पर या जीवदया के आधार पर ही नहीं है, गीता का समदर्शन ब्रह्मदर्शन के आधार पर है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

'यद्यपि मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूं, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरे को प्रेम से भजते हैं वे मेरे में और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूं।'

जड़-चेतन में समता—सच्चा ब्रह्मदर्शी केवल जीवों में नहीं वरन् सारे विश्व में जड़-चेतन सर्वत्र में एक ब्रह्म का ही दर्शन करने लगता है तब वह कर्मयोगी से ज्ञानयोगी बन जाता है। उसकी दृष्टि में जड़ और चेतन का भेद मिट जाता है। उसे स्थावर और जंगम, चल और अचल, सजीव-निर्जीव, जड़ और चेतन सबके पीछे और सबके भीतर छिपे हुए उस परम चेतन अविनाशी परमतत्त्व का दर्शन होने लगता है। वह नाम-रूप से परे, नाम-रूप के अधिष्ठान में परमतत्त्व का दर्शन करता है। वह प्रपंच में अनुस्यूत परमार्थ को देखने लगता है। दृष्टान्त—प्रपंचदर्शी, व्यवहारदर्शी, नामरूपदर्शी, भेददर्शी, जड़ जगत् दर्शी—लहर को, वीचि को, तरंग को, फेन को, ज्वार को, भाटा को, वाष्प को, बुलबुलों को, भंवर को, बादल को, घने बादल को, वर्षा को, हिमपात को, नदी को, नाले को, तालाब को, बावली को, कुएं को, नद को, महानद को, निर्झरों को, प्रपात को, समुद्र को, महासमुद्र को सबको भिन्न-भिन्न नाम-रूप से अनेक रूपों में अलग-अलग देखता है किन्तु तत्त्वदर्शी इन नाना नामों और रूपों, भेदों-प्रभेदों के पीछे एक ही जल तत्त्व को देखता है जिस अधिष्ठान पर नाना नाम-रूप टिके हुए हैं और जिस अधिष्ठान को जान (पहचान) लेने पर इन नाना नामों एवं रूपों का कुछ अस्तित्व ही नहीं बचता, इस तरह ब्रह्मदर्शी अनेकता में एकता का दर्शन करता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

इस प्रकार जानकर 'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है वही सच्चे अर्थों में देखता है।' यही सात्त्विक ज्ञान की परिभाषा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। 18/20, गीता

'हे अर्जुन! जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्म भाव को विभाग रहित, समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान।'

सारी गीता का सारतत्त्व समत्वयोग दर्शन ही है। शीत-उष्ण में सम, सुख-दुःख में सम, प्रज्ञा का स्थिर एवं सम, निन्दा-स्तुति में सम, अपने-पराये में सम, मित्र-शत्रु में सम, सब वर्णों में सम, धनी-निर्धन वर्गों में सम, जीव मात्र में सम, जड़-चेतन में सम, सब में समदर्शन (ब्रह्मदर्शन)। इस प्रकार समत्व की साधना द्वारा स्वधर्मपालन भी न्याय-नीति सम्मत होगा और धर्म पालन करते-करते मोक्ष भी सिद्ध हो जाएगा।

निर्दोष और सम ब्रह्म ही है। (निर्दोषं हि समं ब्रह्म) उस निर्दोष सम ब्रह्म को नमस्कार हो। वह निर्दोष सम ब्रह्म मेरे शरीर को सम रखे एवं निर्दोष रखे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। 6/13, गीता

योगी शरीर को, ग्रीवा को और सिर को एक सीध में सम रखकर (पद्मासन में बैठकर ही) अचल एवं स्थिर होकर ध्रुव सत्य की धारणा करे। वही निर्दोष सम ब्रह्म मेरी इन्द्रियों के अनुभवों में समता (संतुलन) बनाए रखे। इन्द्रियों के शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल अनुभवों में हम सम रहें। हम तितिक्षा एवं धीरज द्वारा प्रतिकूल आंधियों में भी कर्तव्य से विचलित न हों। वही निर्दोष सम ब्रह्म हमारे मन में प्रकाशमान हो, दुःख-सुख के झंझावातों में, हानि-लाभ, जय-पराजय के परिवर्तन चक्रों में हम कर्तव्य में डटे रहें। वही निर्दोष सम ब्रह्म हमारे मन के विकारों में हमें सम एवं संतुलित रखे। हम ईर्ष्या-द्वेष में, अपने-पराये में समभाव रखें। वही निर्दोष ब्रह्म हमारी बुद्धि को प्रकाशमान करे। हमारी बुद्धि (धी) सम में स्थित हो। हम चलते-फिरते, काम करते हुए बुद्धि को स्थिर करके समाधिस्थ रहें, यह कर्मयोगी की स्थितप्रज्ञ समाधि है। वही निर्दोष ब्रह्म मेरी समाज दृष्टि में विराजे। मैं वर्णों के और वर्गों के भेदों से परे उस मूलभूत मानवीय समता को देखूं। वही निर्दोष सम ब्रह्म मेरी जीवदृष्टि में विराजे, मैं जीव मात्र में एक ही समान

जीवन तत्त्व को देखूं। वही निर्दोष सम ब्रह्म मेरी जगत्दृष्टि में विराजे, मैं जीव मात्र में ब्रह्म को देखूं। मैं जड़-चेतन सबमें उस अविनाशी भेद-रहित परम तत्त्व ब्रह्म को ही देखूं। गीता का यह समत्वदर्शन ब्रह्म दर्शन की कुंजी है। यह समस्त आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का सर्वोपरि श्रेष्ठ समाधान है। यह साम्ययोग नर को नारायण बनाने वाला है जबकि कार्लमार्क्स का साम्यवाद मानव की भौतिक व्याख्या कर वर्गविद्वेष के विष को फैलाकर रक्तक्रान्ति के नाम पर सर्वसंहार करवाकर मानव को नर पशु, एवं नरपिशाच बनाने वाला है। विद्वेष के विषैले बीज से साम्यवाद नाम का मीठा फल प्राप्त हो ही नहीं सकता, वह मात्र एक लुभावना एवं छलने वाला नारा मात्र ही रह जाता है। साधना विषम की हुई तो फल सम मिलेगा कैसे? सम के आधार पर सम मिलेगा। जिसके अपने मन में समता नहीं वो समाज में समता कैसे ला सकता है क्योंकि उसका मन तो विद्वेष में, ईर्ष्या से जल रहा है।

गुणों में समता

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' 2/45 (गीता) गुणसाम्य ही गुणातीतावस्था है। प्रकृति का अर्थ है प्रथम कृति अथवा प्रचुर कृति अथवा प्रबल कृति। परब्रह्म परमेश्वर स्वयं तो शांतम् शिवम् अद्वैतम् हैं। वे निर्दोष, निष्पक्ष, अकर्ता, निर्लिप्त द्रष्टा हैं। उनके संकल्पमात्र से उन्हीं की अभिन्न शक्ति पराप्रकृति जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है जो कर्तुम्अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् समर्थ है (करने वाली, न करने वाली, बदलने वाली या रचने वाली, मिटाने और बदलने में समर्थ है), सूक्ष्म में से स्थूल जगत् रचने लगती है। सारी रचना सूक्ष्म से ही होती है। विश्व के महान् आश्चर्य, विराट् भवन, मन्दिर एवं दुर्लभ भवन सभी कुछ मानव के सूक्ष्म संकल्प एवं ललित कल्पना में से प्रकट हुई है। जैसे स्थूल ताजमहल बनने से पूर्व किसी कलाकार एवं भवन निर्माता की सूक्ष्म कल्पना में था। इसी प्रकार सारा विश्व ब्रह्म के संकल्प से ही प्रकट हुआ है। पराप्रकृति स्थूल रचना की ओर बढ़ती हुई अपराप्रकृति में परिवर्तित होती है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। 9/10, गीता

अर्थात् मेरी अध्यक्षता में मेरी अभिन्न शक्ति प्रकृति चराचर जगत् को रचती है।

अपराप्रकृति आठ अंगों वाली है। पंच महाभूत बाहर की प्रकृति पर नियंत्रण करते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। तीन (अथवा चार) अन्त:करण—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। यह अन्त:प्रकृति पर नियंत्रण करते हैं। दृष्टान्त—हम मित्र से पूछते हैं प्रकृति कैसी है? वह कहता है, शरद ऋतु है। हलकी-हलकी ठण्डक आ रही है, सप्ताह में एक-आध बार वर्षा हो जाती

है। किन्तु वर्षाकाल समाप्त हो गया है। आकाश निर्मल होने लगा है। न अधिक गर्मी न अधिक जाड़ा। शरद पूर्णिमा की चांदनी बहुत सुखद लगती है। हम उससे कहते हैं यह तो आपने बाहर की प्रकृति की चर्चा की है। कहो, आपकी प्रकृति कैसी है अर्थात् बताओ मन शांत है या नहीं, बुद्धि निर्मल है या नहीं, अहंभाव कैसा है, क्या बहुत अहंकार में फंसे हो या अहंकार की धूल कुछ छंटी है। इसके उत्तर में भिन्न-भिन्न मित्रों के भिन्न-भिन्न उत्तर होंगे। बाहर भीषण गर्मी होने पर भी सत्संगी सज्जन का मन शांत होगा और बाहर शरद पूर्णिमा की शीतल चांदनी होने पर भी दुष्ट दुर्जन का हृदय द्वेष की अग्नि से जल रहा होगा। इस प्रकार बाह्य प्रकृति और अन्तःस्थ प्रकृति को मिलाकर भगवान् की अष्टधा प्रकृति सृष्टि का संचालन कर रही है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। 7/4, गीता

प्रकृति का विश्लेषण एक तो पंच महाभूतों के रूप में किया जाता है और दूसरा तीन गुणों के रूप में। गुण सत्त्व, रज और तम पंच महाभूतों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। अतः ये गुण बाह्य प्रकृति के पांच तत्त्वों और अन्तःप्रकृति के अन्तःकरण, दोनों को प्रभावित एवं परिचालित करते हैं। तमोगुण निद्रा, आलस्य, तंद्रा, जड़ता, अज्ञान और प्रमाद का कारण है। इससे पृथ्वी तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। रजोगुण क्रिया, संघर्ष, गति, अशान्ति, प्रगति का कारण है। रजोगुण का थोड़ा अंश तमोगुण में मिलने पर जल तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। आधा तमोगुण और आधा रजोगुण मिलने से वायु तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। रजोगुण की अधिकता से अग्नि तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। सत्त्व गुण आकाश को निर्मित एवं प्रभावित करता है। तमोगुण की अधिकता मानव को आलस्य में डुबो देती है। रजोगुण से बुद्धि (चेतना) प्रभावित होती है। बुद्धि के मेल से मन मननशील बनता है। उपयोगी संकल्प करना शुरू करता है, मन की सृष्टियों से सुन्दर वस्तुओं एवं काव्यों की रचना करने लगता है। बुद्धि रजोगुणी तर्कशक्तियुक्त है, यह तमोगुणोन्मुखी बनकर कई छल प्रपंच रचने लगती है। सत्त्व गुण संघर्ष के बाद विचारों के मंथन के बाद शास्त्रों की ऊहापोह के बाद प्राप्त होने वाली शान्ति है। तमोगुण की शान्ति मरघट की शान्ति है और सत्त्व गुण की शान्ति ब्रह्मज्ञानी-सिद्ध महात्मा पुरुष की शान्ति है (जैसे पागल और सिद्ध पुरुष स्वामी रामतीर्थ।) इन तीनों गुणों की लीला नित्य बाहर और अन्दर सर्वत्र हो रही है। तीनों गुणों की मात्रायें प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती हैं। इन तीनों की मात्रा के भेद से संसार में अरबों लोग भिन्न-भिन्न प्रकृति के बने हुए हैं। एक ही व्यक्ति के जीवन में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न गुणों का उतार-चढ़ाव होता

रहता है। रत्नाकर डाकू महर्षि वाल्मीकि बन जाता है, कामांध नवयुवक गोस्वामी तुलसीदास बन जाता है। नास्तिक नरेन्द्रनाथ विश्वविजेता स्वामी विवेकानन्द बन जाता है, कर्म से भागने वाला वैरागी-साधु लक्ष्मणदास दुर्धर्षकर्मी बंदा वैरागी बन जाता है। संस्कृत पाठशाला में अष्टाध्यायी पढ़ाने वाला साधारण पंडित क्रान्तिकारी सेनापति तात्याटोपे बन जाता है, बिगड़ा हुआ वैश्य-पुत्र गांधी महात्मा बन जाता है।

वास्तव में व्यक्ति में कई गुणों के बीज शुद्धरूप में छिपे रहते हैं। अनुकूल वातावरण या अवसर की चोट पड़ने पर वह गुण जाग उठता है। सारी शिक्षा और साधना इसलिए है कि हमारे भीतर का सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कारबीज अंकुरित होकर खिल सके। स्कूल, कालेज तथा अन्य संस्कारस्थान खेत या फुलवारी के समान है, अध्यापक या गुरु माली के समान है। उचित गुण बीज को उचित जलवायु देकर विकसित करना यही सत्संग एवं शिक्षा का उद्देश्य है।

बाहर की प्रकृति में भी भिन्न-भिन्न देश और काल के अनुसार भिन्न-भिन्न गुणों का उतार-चढ़ाव होता रहता है। एक पिछड़े हुए गांव में तमोगुण का वातावरण अधिक होगा। कोलकाता, मुंबई जैसी नगरी में रजोगुण अधिक होगा। हिमालय के तीर्थों या अरण्याश्रमों में सत्त्वगुण अधिक होता है। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में सत्त्व गुण की अधिकता होती है, दिन में कर्मलीला के समय रजोगुण की अधिकता होती है। रात्रिकाल में शयन विश्राम के समय तमोगुण की अधिकता होती है।

व्यवसायकर्मी या युद्धकर्मी लोगों की संगत में रजोगुण की अधिकता होती है। सत्संगी महात्माओं की संगत में सतोगुण की अधिकता होती है, काम प्रधान घटिया उपन्यासों से तमोगुण बढ़ता है। इतिहास की वीर गाथाओं से रजोगुण बढ़ता है। गीता जैसे आध्यात्मिक ग्रंथों से सत्त्वगुण का विकास होता है। शूद्र अधिकांश तमोगुण में डूबे रहते हैं। वैश्य और क्षत्रिय व्यवसायीसंघर्ष और युद्धसंघर्ष के कारण रजोगुण में डूबे रहते हैं। ब्राह्मण ब्रह्मचिन्तन के द्वारा सत्त्वगुण का सुख लेते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम सत्त्वगुण की साधना है। गृहस्थ आश्रम रजोगुण की साधना है। किन्तु जो गृहस्थी काम और ऐश्वर्य में डूब जाते हैं वे पुनः तमोगुण की ओर गिर जाते हैं। वानप्रस्थ आश्रम रजोगुण की मात्रा कम करके सत्त्वगुण की ओर पुनः लौटने की तैयारी है। संन्यास आश्रम पुनः सत्त्वगुण की लक्ष्य साधना है। इस प्रकार देश-काल, पात्र-परिस्थिति सब में भिन्न-भिन्न गुणों का उत्थान-पतन होता रहता है। इस प्रकार प्रकृति में जो कुछ हो रहा है, गुणों का लीला नृत्य ही हो रहा है। वह व्यक्ति बड़ा भाग्यवान है जिसके जीवन में देश-काल, पात्र-परिस्थिति सभी कुछ उत्तम गुण वाले हों। देश-काल, पात्र-परिस्थिति सब समान हों और तीनों गुण सुन्दर युक्ति से संतुलित हों तो इस गुणसाम्यावस्था को आदर्श माना जाएगा। ऐसा

व्यक्ति गुणों का उपयोग करते हुए भी गुणों के बंधन में नहीं रहेगा। वह गुणों की लीला का साक्षी बन जाएगा। वह निस्त्रैगुण्य या गुणातीत अवस्था को प्राप्त होगा। गुण उसके भीतर खेल करेंगे किन्तु वह गुणों के बंधन में नहीं होगा। जैसे जल में नाव रहे तो सब ठीक है किन्तु नाव में जल हो तो महासंकट है। व्यक्ति में गुण हों और वे यथासमय अपना उचित कार्य करें इसमें कोई क्लेश नहीं है किन्तु व्यक्ति गुणों के चुंगल में हो और गुण उसे रज से तम, तम से रज में निरन्तर नचाते रहे तो बहुत बड़ी चिंता का विषय है। जिस प्रकार फुटबाल की गेंद इधर-उधर की ठोकरें खाने के लिए ही पैदा होती है, उसी प्रकार गुणों की चपेट पाकर जीव जीवनभर भटकता रहता है।

तमोगुण कुम्भकरण के रूप में तो निद्रा-आलस्य एवं अज्ञान का प्रतीक है। रजोगुण रावण के समान है जो निरन्तर उत्पात, संघर्ष, युद्ध, बलात्कार में लगा रहता है। सत्त्व गुण विभीषण के समान है जो रज और तम का मोह होते हुए भी भगवान् के भजन में तल्लीन रहता है। तमोगुण के कुम्भकरण का संहार करो, फिर रजोगुण के रावण का कलेजा चीर डालो, तत्पश्चात् सत्त्वगुण के विभीषण को भगवान् की शरण में अवश्य लाओ अन्यथा वह सत्त्वगुण के अहंकार से पुनः पतन की ओर ले जा सकता है। यदि सत्त्वगुण भगवान् की शरण में न आए तो उसका अहंकार ही साधक को खा जाता है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। 14/5, गीता

'हे महाबाहो! सत्त्व-रज-तम ये प्रकृति से उत्पन्न (तीन) गुण अव्यय देही (अर्थात् जीवात्मा) को देह में बांधते हैं।'

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।। 14/9, गीता

'हे भारत! सत्त्वगुण सुख में आसक्त करता है और रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को आच्छन्न करके प्रमाद में लगाता है।'

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।। 14/16, गीता

'पुण्य कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल कहा है, राजस (कर्म) का फल दुःख तथा तामस (कर्म) का फल अज्ञान कहा है।'

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। 14/18, गीता

सत्त्व गुण में स्थित लोग ऊपर (अर्थात् उच्च लोकों) को जाते हैं, राजसी

लोग बीच में (अर्थात् मनुष्य लोक में ही) रहते हैं, तथा निकृष्ट गुण के आचरणों में स्थित तामसी लोग नीचे (अर्थात् पशु आदि योनियों में) जाते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।। 14/19, गीता

'जब द्रष्टा (इन तीन) गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता तथा (इन तीन) गुणों से परे (परमात्मा) को जानता है, (तब) वह मेरे भाव (अर्थात् स्वरूप) को प्राप्त हो जाता है।'

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।। 14/25, गीता

'जो मान और अपमान में सम है, मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष में सम है, सब प्रकार के आरम्भों (अर्थात् कर्मों) को त्यागनेवाला है वह गुणातीत कहा जाता है।'

जिस प्रकार पुरुष स्वयं निर्लिप्त एवं अकर्ता रहते हुए प्रकृति की लीला का तमाशा देखते हैं, उसी प्रकार गुणातीत व्यक्ति गुणों में गुणों को बर्तते हुए देखता है और स्वयं अकर्ता-द्रष्टा बनकर निर्लिप्त रहता है।

कर्म अकर्म में समता

कर्म से संसार का व्यवहार चलता है। बिना कर्म के संसार में क्षणभर टिकना भी असम्भव हो जाता है। अतः कर्म अनिवार्य है, किन्तु कर्म का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह चार प्रकार से व्यक्ति को बंधन में बांध देता है—

(1) कर्म कर्ता को रंग देता है।

(2) कर्मासक्ति या कर्म का संग करा देता है।

(3) फलासक्ति से बांधता है।

(4) कर्तापन का अहंकार होने लगता है।

(क) कर्म कर्ता को रंग देता है—कर्म करते हुए कर्म का परिणाम तो आगे होता है किन्तु कर्म का छींटा पीछे कर्ता पर पड़ता है। जैसे बंदूक चलाते हुए गोली तो आगे निकलती है पर धक्का पीछे पड़ता है। इस प्रकार कर्म कर्ता को रंगता जाता है। यदि क ने ख की हत्या की तो तात्कालिक आगे का परिणाम ख की मृत्यु एवं तात्कालिक पीछे का परिणाम 'क' का हत्यारा बन जाना है। हत्या कर्म ने ही 'क' को हत्यारा बनाया। चौर्य कर्म किसी को चोर बना देता है। साधु कर्म कर्ता को साधु बना देता है। अन्यथा चोर, डाकू, हत्यारा, किसी के माथे पर लगा हुआ नामपट्ट नहीं है। पर कर्म उसके मन पर जो रंग फेंकता है उसी से वह सज्जन या दुष्ट बन जाता है। कर्म की रंगत ज्यों-ज्यों गहरी होती जाती है त्यों-त्यों आदत

बन जाती है। आदत धीरे-धीरे चरित्र बन जाती है और चरित्र मनुष्य का भाग्य बन जाता है।

Saw a thought, it becomes an act.
Saw an act, it becomes a habit.
Saw a habit, it becomes a character.
Saw a character, it becomes a destiny.

इस प्रकार सद्‌विचार से सत् कर्म, सत् कर्म से अच्छा स्वभाव, अच्छे स्वभाव से अच्छा चरित्र और अच्छे चरित्र से अच्छा भाग्य बनता रहता है। इसी प्रकार बुरे विचारों से बुरे कर्म, बुरे कर्म से बुरी आदत, बुरी आदत से बुरा चरित्र और बुरे चरित्र से बुरा भाग्य बनता रहता है। आदतें जीवनभर तो पीछा नहीं छोड़ती, अपने कर्म के संस्कार से अगले जन्मों में भी स्वभाव या प्रवृत्ति बनकर नचाती रहती हैं।

कुकर्म करके समाज की नजर से या पुलिस के फंदे से भले ही बच जाएं पर कर्म की रंगत, आदत के फंदे से नहीं बच सकते और वह अन्ततः फांसी के फंदे तक ले ही जाती है। Eachman जो हिटलर का साथी था, एक खून करने से भी डरता था, आदत लग जाने से संसार का सबसे बड़ा हत्यारा बन गया।

(ख) कर्म का दूसरा बंधन कर्म का संग है—यदि मनुष्य कर्म करे और अपने कर्म पर स्वयं आसक्त हो जाए तो वह आसक्ति ही बंधन बन जाती है। यह मेरा कार्य है, यह मेरी कृति है, इस कर्म से मेरे परिवार का सम्बन्ध है। यह मैंने बनाया है, रचा है, मेरी देन है आदि सब आसक्ति के बंधन हैं। इससे बुद्धि मोहयुक्त हो जाती है और मनुष्य कुछ नए कर्म करने के बजाय अपने पिछले किए हुए कर्मों की ओर बार-बार झांकता रहता है और उन्हीं का प्रदर्शन करने में सुख मानता रहता है। इसे ही कर्मासक्ति या कर्म का संग कहा जाता है।

(ग) कर्म फल की वांछा के सूक्ष्म तंतु से मन को बांध लेता है। इससे ध्यान कर्म की अपेक्षा फल पर चला जाता है। वर्तमान कर्म भी बिगड़ जाता है और फल को अधिक महत्त्व देने से भावी कर्म में रुचि कम होने लगती है। यदि फल के लिए ही कर्म करना है तो बिना कर्म किए ही फल मिल जाए तो इससे सस्ता सौदा और क्या हो सकता है। अतः बिना कर्म का कष्ट उठाए फल पाने की चेष्टा करता है। बिना परिश्रम के पैसा कमाना चाहता है, बिना उचित तपस्या के लाभ लूटना चाहता है, बिना परीक्षा दिए प्रमाण पत्र लेना चाहता है। इस प्रकार फल के लोभी कर्मसाधना त्यागकर फलसाधना के पीछे पड़ जाते हैं। इस प्रकार रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, लोभ, लाभ आदि सामाजिक पाप का धंधा चल पड़ता है। फल का लोभ वर्तमान को निष्क्रिय करता है। भविष्य के लिए सारा ध्यान फल पर केन्द्रित कराता है। फल की वांछा उसे इस जन्म में भी उतावला-

बावला बनाकर नचाती रहती है और वह फल की अधूरी इच्छा लेकर मरता है तो कर्मफल की वांछा उसे अगले जन्मों में भी भटकाती रहती है। इसलिए जो सकामकर्मी है वह कर्म करते हुए कर्म के चक्र में बंधता जाता है और कर्मफल की दलदल में गहरा फंसता जाता है।

(घ) कर्तापन का अहंकार—कर्म का सबसे बड़ा बंधन कर्तापन का अहंकार है। पांचों तत्त्वों में सबसे स्थूल पृथ्वी, उससे सूक्ष्म जल, उससे सूक्ष्म अग्नि, उससे सूक्ष्म वायु, फिर आकाश। आकाश से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म चित्त, चित्त से भी सूक्ष्म अहंकार है। अहंकार मलिन जीवात्मा का नाम है। जब तक जीव अपने को विश्व से, विश्वरूप से अथवा विश्वम्भर से पृथक् एक इकाई मानता रहता है तब तक वह अपने को कर्ता मानता रहता है। जब तक कर्ता बना रहता है तब तक उसे भोक्ता बनकर अपने कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है। यह बहुत बड़ा सूक्ष्म बंधन है जो बड़े-बड़े त्यागियों तक को अपनी लपेट में ले लेता है।

लोग प्रायः संसार के बंधन में बंधे रहते हैं। कुछ भाग्यवान लोकहितार्थ अपने धन, जन, भवन, परिवार का त्याग करते हैं। किन्तु त्याग करने वाले अधिकांश त्यागियों के मन में अपने त्याग करने का अहंकार सूक्ष्म रूप से बना रहता है और अपने त्याग की गाथा सुनाकर अथवा त्याग की चर्चा करके उनके अहंकार की तृप्ति होती है।

कंचन तजना सहज है सहज प्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या दुष्कर तजना एह।।

सारा घर-बार त्यागकर, संन्यासी बनकर गंगा में स्नान करते हुए एक साधु दूसरे साधु से लंगोटी पर झगड़ा करता है। एक-दूसरे को ईर्ष्या से कहता है तू नहीं जानता मैं लाखों की सम्पत्ति छोड़कर संन्यासी बना हूं, तेरे जैसे लाखों भिखमंगों को मैंने वस्त्र दान में दिए हैं। वास्तव में यह साधु संसार के बहिरंग का त्यागी है किन्तु सारा संसार उसके सूक्ष्म अहंकार से बंधा हुआ उसकी लंगोटी में सिमटकर जंगल में भी पहुंच गया है। जब कर्तापन का अहंकार बड़े-बड़े दानवीरों और त्यागियों को भी आता रहता है तो सामान्य गृहस्थी को यह कैसे छोड़ सकता है? यह विश्व प्रपंच के करुण जंजाल का अन्तिम सूक्ष्मतम बंधन है। कोई अच्छे से अच्छा कर्म करके अपना अहंकार बखानने लगता है तो वह वैसा ही है जैसे उत्तम से उत्तम मोहनभोग (हलवा) बनाकर उसमें मुट्ठी भर रेत डाल दी जाए। यह क्षुद्र अहंकार ही मनुष्य को स्वार्थी, समाजद्वेषी एवं ब्रह्म से वियुक्त करने वाला कारण है। समाज में स्वार्थ के संघर्षों की अपेक्षा अहंकार के संघर्ष अधिक चल रहे हैं। दो कुत्ते हड्डी के लिए लड़ते हैं पर दो नेता अहंकार की लड़ाई, प्रतिष्ठा की लड़ाई, ईर्ष्या की लड़ाई में कुत्तों से ज्यादा भयंकर लम्बी लड़ाई लड़ते हैं।

इस प्रकार कर्ता कर्म की रंगत में रंगता जाता है। उसकी आदत में बंधता जाता है। कर्म की आसक्ति में मोहित होता जाता है। फल की वासना में बावला बना रहता है। अहंकार के स्थूल हो जाने से ईश्वर से बिछुड़कर अन्य कार्यकर्ताओं से संघर्ष करता है। तो ऐसा कर्मी जन्म-जन्मान्तरों में कर्मबंधन में ही बंधा रहता है। कर्मबंधन का चक्र चलता रहता है।

कर्म के इन चार बंधनों से मुक्त होना जीवन की सबसे बड़ी कला है इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं—

योगः कर्मसु कौशलम्।। 2/50, गीता

भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग कर्मों की ऐसी कुशलता है जिसमें कर्म तो अच्छे से अच्छे, भरपूर शक्तिसम्पन्न और परम कल्याणकारी हों किन्तु कर्मबंधन की एक रज भी हमें बांध न सके।

कर्मयोग कर्म की वह कला है जिससे कर्म भी न छूटे और कर्मबंधन से भी बचे रहें। सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। संसार में रहें पर संसार हमारे अन्दर न प्रवेश करे।

कर्मयोग में फलासक्ति, कर्मासक्ति एवं अहंकृति को शिथिलकर अति उत्साहपूर्वक ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म किया जाता है। फलतः कर्मबंधन का हेतु न बनकर मुक्ति का द्वार बन जाता है।

इसकी तीन सीढ़ियां हैं—

(1) सकाम सत्कर्म—अच्छे पुण्य की प्राप्ति के लिए शास्त्रविहित सत्कर्म करना। पर इसमें फलासक्ति, कर्मासक्ति एवं अहंकृति बनी रहने से जन्म-मृत्यु का चक्र बना रहता है।

(ख) निष्काम कर्मयोग—सत्कर्म करते हुए फल की वांछा का त्याग करना। यह सकाम सत्कर्म की अपेक्षा ऊंची सीढ़ी है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। 2/47, गीता

इसमें युक्ति यह है कि कर्म निष्फल तो न हो पर निष्काम अवश्य हो। यदि कर्म निष्फल होगा तो सारा प्रयत्न व्यर्थ चला जाएगा। अतः कर्म का फल तो अवश्य निकलना चाहिए। समाज के लिए कल्याणकारी अवश्य होना चाहिए चाहे हमें उस कर्म से उत्पन्न फल की रत्ती भर भी इच्छा न हो। उदाहरण—पानी को बिलोना निष्फल है। यह सारे परिश्रम को बेकार नष्ट करना है। यदि पानी बिलोने वाला यों कहे कि मेरे परिश्रम का कोई फल नहीं तो कोई चिन्ता नहीं। क्योंकि

भगवान् ने कहा है कि फल की फिक्र न करें तो उसके कथन को पागलपन कहा जाएगा। जो परिश्रम न करे वह आलसी। जो परिश्रम को वृथा करे वह मूर्ख। जो परिश्रम का दाम पहले चुकाये वह दलाल, जो परिश्रम के बाद पारिश्रमिक मांगे वह व्यवसायी और जो परिश्रम करके फल भगवान् के चरणों पर समर्पित कर दे वह निष्काम कर्मयोगी है।

कर्म संन्यास—निष्काम कर्मयोग द्वारा कर्मों के फूल और कर्मफल का नैवेद्य भगवान् के चरणों पर चढ़ाते-चढ़ाते धीरे-धीरे चित्त शुद्ध हो जाता है। कर्तापन के अहंकार की मैल धुल जाती है और व्यक्ति को यह अनुभूति होने लगती है कि मैं कर्मों का कर्ता हूं ही नहीं। प्रभु के दिए तन से, प्रभु के दिए धन से, प्रभु की दी हुई ज्ञानेंद्रियों से, प्रभु की दी हुई कर्मेन्द्रियों से, प्रभु की दी हुई बुद्धि से, प्रभु के दिए हुए चित्त से, प्रभु के दिए हुए मैं (अहम्) के भाव से, प्रभु के रचे हुए जगत् में, प्रभु के रचे हुए जीवों के प्रति प्रभु की प्रेरणानुसार, प्रभु के दिए हुए साधनों से जो कर्म हो रहा है वह समस्त कर्म प्रभु का ही है। उसमें मेरा क्या? प्रभु ही प्रभु का कार्य कर रहे हैं। अतः मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। तत्त्वतः प्रभु अकर्ता ही हैं। उन्हें सर्वकर्ता कहें अथवा अकर्ता कहें बात एक ही है क्योंकि वे समस्त कर्मों के स्वामी होकर भी कर्मों से अलिप्त हैं। जो कर्ता बनेगा उसे भोक्ता भी बनना पड़ेगा। तत्त्वतः प्रभु न कर्ता हैं न भोक्ता हैं, उनकी आज्ञानुसार प्रकृति ही सब कर्मलीला कर रही है। इसे देखकर वे आनन्दित हो रहे हैं। इस प्रकार कर्मसंन्यास में कर्तापन का अहंकार भी गल जाता है। तब व्यक्ति कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है। यह कर्म-अकर्म की समता है।

कर्म की बहिरंग चेष्टा + कर्तापन का अहंकार = कर्म का स्थूल बंधन।

कर्म की बहिरंग चेष्टा = कर्तापन का अभाव = कर्म में अकर्म दर्शन—विवेकानन्द (कर्मयोगी का)।

कर्म की बहिरंग चेष्टा का लोप + कर्तापन का सूक्ष्म आरोपण (अहंकार) = अकर्म में कर्म दर्शन—रामकृष्ण देव (संन्यासी का)।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। 4/18, गीता

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। 5/7, गीता

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गाच्छन्स्वपञ्श्वसन्।। 5/8, गीता

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। 5/9, गीता

स्वामी रामतीर्थ—

तमाशा देखने वाला तमाशा खुद न बन जाना।
तमाशाई बने रहना, तमाशा ही देखते रहना।

संसार के दृश्य को देखने के लिए हम निर्लिप्त द्रष्टा बने रहें स्वयं दृश्य न बन जाएं।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। 5/14, गीता

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। 18/14, गीता

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।। 18/15, गीता

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।। 18/16, गीता

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। 18/17, गीता

सांख्य और योग में समता

गीता में सांख्य का अर्थ ज्ञानयोग है और योग का अर्थ कर्मयोग है। प्राचीन काल से भारत में दो प्रकार की निष्ठा चली आ रही है। सांख्य निष्ठा और कर्मनिष्ठा। इन्हें ज्ञानयोग और कर्मयोग, निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग कहा जाता है।

ज्ञानमार्गी संसार से निवृत्त होकर सब कर्म-कर्तव्यों को त्यागकर शुद्ध ब्रह्म-चिन्तन करते रहते थे। प्रवृत्तिमार्गी संसार में प्रवेश होकर कर्तव्य कर्म करते हुए धर्म कमाते हुए पुण्य संचय करते हुए ईश्वर प्राप्ति की साधना करते थे। इसे कर्ममार्ग या योगमार्ग भी कहा जाता था क्योंकि संसार में रहते हुए संसार से सम्बन्ध न तोड़ते हुए वे ऐसा योग (युक्ति) लगाते थे जिससे संसार में रहते हुए धर्म साधना चलती रहे। उनकी पहुंच अधिकांश धर्म साधना तक थी। वे धर्म कर्म को ही अधिक महत्त्व देते थे और मोक्ष साधना के लिए अधिक आग्रह नहीं रखते थे। उनमें से कुछ धर्म को ही मोक्ष मानते थे और कुछ धर्म को मोक्ष साधना के लिए आवश्यक सीढ़ी मानते थे।

सनक, सनंदन, सनत्कुमार आदि सांख्यमार्गी निवृत्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी थे। वे संसार में प्रविष्ट हुए ही नहीं। वामदेव, शुकदेव, शंकराचार्य, संत ज्ञानेश्वर

आदि भी निवृत्तिमार्गी थे। अष्टावक्र जन्म से ही निवृत्तिमार्गी थे। याज्ञवल्क्य पहले गृहस्थाश्रमी बाद में निवृत्तिमार्गी बने। वसिष्ठ, विश्वामित्र, प्रवृत्तिमार्गी थे। वेदव्यास पहले गृहस्थाश्रमी थे किन्तु उनके पुत्र शुकदेव जन्म से ही निवृत्तिमार्गी बने। बाद में वेदव्यासजी भी निवृत्तिमार्गी बने। प्राचीन भारतीय ऋषि कुछ गृहस्थाश्रमी थे तथा कुछ विरक्त संन्यासी, निवृत्तिमार्गी। ऋषियों का पितृकुल उनकी संतानों से चलता था। किन्तु गुरुओं का गुरुकुल शिष्य परम्परा से चलता था। प्रवृत्तिमार्ग के कर्मकाण्ड एवं यज्ञविधान की चर्चा एवं दार्शनिक विवेचन पूर्वमीमांसा दर्शन में की गई है। सांख्ययोग के ज्ञानमार्ग की विवेचना उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त में की गई है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों को अलग एवं विपरीत मार्ग माना जा रहा था।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। 3/3, गीता

'हे निष्पाप! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले ही कही गई है। ज्ञानयोग के द्वारा सांख्यों (अर्थात् ज्ञानयोगियों) की और कर्मयोग के द्वारा (कर्म) योगियों की (निष्ठा कही गई है)।'

गीता ने सांख्य एवं योग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, ज्ञान एवं कर्म दो पृथक् एवं विपरीत प्रतीत होने वाले मार्गों का बड़ा सुन्दर समन्वय कर दिया है। भगवान् कहते हैं कि सांख्य और योग यह दो पृथक् मार्ग केवल बालबुद्धि वालों के लिए पृथक्-पृथक् है। सच्चा पंडित अथवा ज्ञानी पुरुष इन दोनों को अलग-अलग मानता ही नहीं।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।। 5/4, गीता

'बालक (अर्थात् अज्ञानी लोग ही) सांख्य (अर्थात् कर्मसंन्यास) और योग (अर्थात् कर्मयोग) को भिन्न (अर्थात् अलग-अलग फलवाले) कहते हैं, पण्डितगण (ऐसा) नहीं (कहते); (क्योंकि इनमें से) एक में भी उत्तम रूप से स्थित पुरुष दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।'

भगवान् पुनः कहते हैं कि जो परमपद ज्ञानयोग द्वारा प्राप्त होता है, वही परमपद कर्मयोग द्वारा भी प्राप्त होता है। अतः सच्चा ज्ञानी सांख्य और योग दोनों को सम अर्थात् समान देखता है। बिना ज्ञान के कर्म अंधा होगा और बिना कर्म के ज्ञान पंगु होगा। अतः ज्ञान के प्रकाश में कर्म ठीक दिशा में होना चाहिए और ज्ञान मात्र शास्त्रीय सिद्धान्त चर्चा (Theory) मात्र न रहकर क्रियात्मक रूप में वास्तविक जीवन में प्रतिफलित होना चाहिए।

बिना ज्ञान के कर्म में कठिनाइयां

(1) क्या कर्तव्य है तथा क्या अकर्तव्य है, इसकी जानकारी बिना ज्ञान के असम्भव है।

(2) शुभ कर्म एवं अशुभ कर्म का विवेक ज्ञान से ही हो सकता है।

(3) किस कर्म का कैसा परिणाम होता है यह जानकारी हुए बिना कर्म करना अत्यन्त कठिन होता है।

(4) कर्म द्वारा किस लक्ष्य पर पहुंचना है यह भी ज्ञान से ही सम्भव है। बिना लक्ष्य का ज्ञान हुए मन्दिर के स्थान पर श्मशान में जा पहुंचेंगे। मूर्ख व्यक्ति अपनी कर्मशक्ति को व्यर्थ में नष्ट करता रहता है क्योंकि उसे उचित ज्ञान नहीं। पागल व्यक्ति उलटा एवं आत्मनाशी कर्म कर बैठता है क्योंकि उसका ज्ञान विकृत है। अर्ध-निद्रा में व्यक्ति ऊटपटांग कर्म कर बैठता है क्योंकि उसका ज्ञान भ्रान्त है।

(5) बिना ज्ञान के न कर्म का स्वरूप समझ में आएगा न वास्तविक कर्ता का पता चलेगा। न कर्म के बंधनों का ज्ञान होगा न कर्म की फांसी से बचने का उपाय सूझेगा।

(6) व्यक्ति को जब ज्ञान होगा कि कर्मफल कभी नष्ट नहीं होता और फल की कामनाएं त्यागने से फल अनन्त गुणा होकर मिलता है जिस प्रकार बीज को धरती में छोड़ देने पर वह अनन्त गुणा होकर मिलता है, तभी वह कर्मफल को त्यागने का विचार कर सकता है।

(7) जब व्यक्ति को ज्ञान होगा कि समस्त कर्मों का फल भगवान् के चरणों में त्यागने से कर्मचक्र से मुक्ति हो जाएगी तथा बदले में भगवान् की प्राप्ति हो जाएगी, तभी वह प्रसन्नतापूर्वक कर्मफल का त्याग कर सकता है।

(8) कर्मयोगी को जब तक यह ज्ञान नहीं होगा कि वह वास्तव में कर्ता नहीं है और या तो प्रभु ही सर्वकर्ता है या उनकी इच्छानुसार गुण ही गुणों में बरत रहे हैं और कर्तापन का अभिमान व्यर्थ है, तब तक वह कर्तापन का अभिमान त्यागकर आदर्श निष्काम कर्मयोगी कैसे बन सकता है? अत: बिना ज्ञान के कर्म अंधा ही रहता है।

इसी प्रकार बिना कर्म के ज्ञान थोथा एवं वाणी का विलास मात्र रह जाता है।

(1) प्रत्येक ज्ञान एक सैद्धान्तिक कथन है जिसकी सत्यता को परखने के लिए उसको कृति में उतार कर जांचना आवश्यक है। यही वैज्ञानिक प्रक्रिया है। Theory must be tested in practical.

(2) प्रत्येक सिद्धान्त व्यापक लोककल्याण, विश्वमंगल, बहुजनहिताय अथवा सर्वजनहिताय बनाया जाता है। Every rule is made for some or all round public good. यदि किसी नियम अथवा सिद्धान्त से कोई लोकमंगल न

होकर लोक का व्यापक अहित होने वाला हो तो उस सिद्धान्त को कोई भी मान्य नहीं करेगा। उदाहरणार्थ—यदि कोई राजा यह नियम बनाए कि प्रत्येक माता अपने शिशु को जन्मते ही उसे सरकारी माल गोदाम में जमा कर देगी और जीवनभर उसकी शक्ल नहीं देखेगी तो यह नियम लोक व्यवहार के विरुद्ध होने के कारण एक क्षण भी नहीं चलेगा। अत: नियमों या सिद्धान्तों से क्या लोकमंगल होने वाला है यह सिद्धान्त को क्रिया में ढालने पर ही पता लगेगा। अत: ज्ञान के सिद्धान्त कितने सत्य और उपयोगी हैं यह ज्ञान को कर्म में उतारने पर ही पता चलेगा।

किसी भी औषधि की उपयोगिता, औषधि की बोतल, उसके लेबल अथवा डॉक्टर की पर्ची या डॉक्टर की योग्यता से आंकी नहीं जा सकती। उसे तो औषधि के प्रयोग से ही आंका जा सकता है। इसी प्रकार से ऊंचे से ऊंचे ज्ञान सिद्धान्त का वास्तविक मूल्य न उसकी शब्दावली, न काव्य, न श्लोक, न ग्रंथ, न लेखक की विद्वत्ता, न तर्कशक्ति, न बौद्धिक ऊहापोह से आंका जा सकता है। उसका वास्तविक मूल्यांकन तो तब होता है जब उस सिद्धान्त को जीवन में उतारने से अधिक से अधिक लोगों का व्यापक हित अथवा अहित होता है। इसलिए बिना क्रियात्मक प्रयोग के सारा ज्ञान थोथा, वाणी विलास या बुद्धि विलास मात्र है।

(3) जो ज्ञानी यह ज्ञान उपदेश करता है कि सब जीवों में एक ही ब्रह्म का प्रकाश है और वास्तविक जीवन में वह अन्य जीवों की हिंसा, हत्या, तिरस्कार, उत्पीड़न एवं ठगी करने में आनन्द लेता है तो उसका ज्ञान मात्र पाखण्ड रह जाता है, क्योंकि उसकी कृति उसके वास्तविक मन और बुद्धि को नग्न रूप में प्रकट कर देती है। यदि ज्ञानी का ज्ञान स्वयं उसकी बुद्धि को लोकमंगल में प्रेरित नहीं कर सकता तो वह अन्य जीवों की बुद्धि को विश्व कल्याण में कैसे प्रेरित करेगा?

(4) सज्जन और दुर्जन की पहचान यही है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्।।

(5) भगवान् गीता में ही बताते हैं कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है अन्य लोग उसको देखकर वैसा-वैसा आचरण करने लगते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। 3/21, गीता

श्रेष्ठ (पुरुष) जो-जो आचरण करता है अन्य मनुष्य भी वैसा ही (आचरण) करते हैं। वह जिसे (श्रेष्ठ कहकर) प्रमाणित कर देता है, लोक उसी के अनुसार बरतने लगते हैं।

अत: शिक्षा का सर्वोत्तम मार्ग है गुरुजनों द्वारा अपने ही ज्ञान के अनुरूप आचरण करना। संसार वाणी की अपेक्षा कृति से अधिक सीखता है। मण भर के

उपदेश के स्थान पर कण भर का आचरण अधिक प्रभावकारी होता है। लोग मोटे-मोटे पोथों से उतना नहीं सीखते जितना सिखाने वाले गुरु की जीवन की खुली पुस्तक से प्रेरणा मिलती है।

(6) प्राचीन काल में गुरुकुल में शिक्षा देने वाले आचार्य कहलाते थे—

आचरणेन शिक्षति इति आचार्यः।

जो आचरण से शिक्षा देवे वे आचार्य हैं। आजकल आचार्य के स्थान पर व्याख्याता (Lecturer) हो गए हैं—

व्याख्यानेन शिक्षति इति व्याख्याता।

इसलिए ज्ञान और कर्म के बीच की खाई बढ़ती जाती है और समाज संस्कारित होने के स्थान पर कुसंस्कारी होता जाता है।

पर उपदेश कुशल बहुतेरे जे आचरहिं ते नर न घनेरे।। (मानस)

आज दूसरों को उपदेश करने वालों की भरमार हो गई है। अपने ही कहे हुए, उपदेश दिए हुए ज्ञान के विपरीत कर्म करने वाले ढोंगियों को भगवान् ने गीता में मिथ्याचारी कहा है। अतः जो ज्ञान कर्म में प्रतिफलित नहीं होता वह सारा ज्ञान ही मिथ्या ज्ञान बन जाता है और उसके उपदेशक मिथ्याचारी कहलाते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। 3/6, गीता

अतः यदि ज्ञान को मिथ्या न बनाना हो तो उसका कर्म में प्रतिफलन उतना ही आवश्यक है जितना प्राणी का श्वास लेना।

(8) जो ज्ञान होते हुए भी आचरण ज्ञान के अनुकूल नहीं करते वे ज्ञानबंधु कहलाते हैं। और जो धर्म के शाब्दिक ज्ञान के रहने पर भी अधर्म का आचरण करते हैं वे ज्ञानपापी कहलाते हैं। गीता में ऐसे व्यक्तियों को दण्डनीय कहा गया है। भगवान् कृष्ण ने भीष्म और द्रोण का इसलिए वध करवाया क्योंकि वे ज्ञानी होते हुए भी पाप के पक्ष में थे।

गीता की पुष्पिका में कहा गया है—

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।।2।।

इसमें सबसे प्रथम गीता को एक उपनिषद् कहा गया है। किन्तु गीता की यह विलक्षण महिमा है कि यह अन्य उपनिषदों से भिन्न एक विशेष प्रकार का अद्वितीय उपनिषद् है। जहां अन्य उपनिषद् प्रकृति के शांत वातावरण में, अरण्य आश्रमों या सुन्दर पर्वतों पर गुरु-शिष्य सम्वाद के रूप में गाए गए, वहां गीतारूपी उपनिषद् ने उन्हीं उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान को जीवन की सबसे कठोर परिस्थिति

(एक भीषण रणभूमि में, विश्व के महान् संग्राम में) गाकर उस ब्रह्मज्ञान को जीवन में उतारकर ज्ञान का कर्म में प्रतिफलन कर दिखाया गया है।

गीता की पुष्पिका में गीता को ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे कहा गया है। ब्रह्मज्ञान सिद्धान्त है, तत्त्वज्ञान है और योगशास्त्र कर्मयोग मार्ग है, क्रियात्मक प्रयोग है। ब्रह्मज्ञान Theory और कर्मयोग Practical है। गीता की यही विलक्षण विशेषता है।

भगवान् गीता में ही अर्जुन को उपदेश देते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। 8/7, गीता

'हे अर्जुन! तू सब कालों में मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध कर।' यही ब्रह्म चिन्तन और सांसारिक कर्तव्य का समन्वय है। यही ज्ञान और कर्म का समन्वय है, यही सांख्य और योग का समत्व है।

कर्मयोग की साधना द्वारा साधक का चित्त शुद्ध होगा। धीरे-धीरे उसका अहंकार गल जाएगा। उसके चित्त में मिथ्याहंकार या कर्तृत्वाभिमान दूर हो जाएगा। चित्त के निर्मल होते ही उसमें ब्रह्मज्ञान का प्रकाश हो जाएगा। ब्रह्मज्ञान सिद्ध हो जाने पर भी वह ज्ञानी कर्म करता रहे, क्योंकि उसके जीवित आदर्श से अनेक लोगों को सुन्दर प्रेरणा मिलेगी।

साधनावस्था में निष्काम कर्मयोग की साधना करके अपना विकास करे।

सिद्धावस्था में लोक संग्रह के लिए कर्म करता रहे। कर्म न अज्ञानी को छोड़ना चाहिए न ज्ञानी को, न साधक को छोड़ना चाहिए, न सिद्ध को। साधक को कर्मफल छोड़ना चाहिए, सिद्ध को कर्मसंन्यास के रूप में कर्तापन का अहंकार छोड़कर लोक संग्रहार्थ कर्म करते जाना चाहिए। ज्ञान और कर्म का यह समत्व परम मूल्यवान है।

अर्जुन की मूल मानसिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए प्रारम्भ में ही कहा गया है कि वह भय और शोक से ग्रस्त हो रहा है। भय और शोक दोनों के संयुक्त लक्षण देखकर उसके कारणों की खोज करना आवश्यक है। रोग का निदान हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति को कष्ट क्या है? उसके कारणों का निदान हो जाने पर यह पता चल जाता है कि यह मनोरोग किस कारण से हुआ है। कारण स्पष्ट हो जाने पर कारण का निवारण किया जा सकता है और रोगयुक्त को रोगमुक्त किया जा सकता है। निदान के बाद ही समाधान सम्भव है। इसलिए अर्जुन की मन:स्थिति का विश्लेषण और उसके कारणों की खोज विस्तार से की जा रही है ताकि उचित उपचार करके अर्जुन को एक आदर्श कर्मयोगी, स्थितप्रज्ञ,

धर्मपालक, ब्रह्मनिष्ठ, अपराजेय योद्धा एवं एक महान् इतिहास निर्माता के रूप में जीवन के रंगमंच पर खड़ा किया जा सके।

भय का कारण

भय और शोक दोनों मिश्रित होकर जब मानव मन पर आक्रमण करते हैं तो दशा अर्जुन जैसी विचित्र बन जाती है। उसे भय इस बात का है कि कहीं हम ही न मारे जाएं और शोक इस बात का है कि हमारे स्वजन न मारे जाएं। भय इस बात का है कहीं हम न हार जाएं और शोक इस कल्पना से है कि यदि जीत भी जाएंगे तो अपने स्वजनों के रुधिर से रंजित भूमि पर राज्य करके क्या करेंगे? वह भय से रोने लगता है और शोक में गांडीव फेंककर कांपने लगता है। भय मनुष्य को पीठ देकर भागने को प्रेरित करता है और शोक में तमोगुण से अभिभूत होकर जड़ीभूत-सा बनकर निष्क्रिय-सा पड़ा अपने मन से मन को खाता रहता है। रजोगुण की सीधी वृत्ति से मनुष्य वीरतापूर्वक संघर्ष के लिए आगे बढ़ता है। रजोगुण की उलटी वृत्ति से वह भयभीत होकर पीछे भागना चाहता है। तमोगुण का अज्ञानी आलसी वृत्ति से जड़ निष्चेष्ट निष्क्रिय पड़ा रहता है। इस स्थिति में अज्ञान और जड़ता तो रहती है किन्तु चिन्ता विशेष रहती है। दृष्टान्त—नशे में चूर-धुत्त या पागल व्यक्ति निष्क्रिय पड़ा रहता है। तमोगुण की उलटी वृत्ति से मनुष्य चिन्ता व शोक में डूब जाता है। वह मूर्ख के समान जड़ निष्क्रिय तो होता है किन्तु वह मूर्ख के समान निश्चिंत नहीं रहता। वह वृथा चिन्ता करके अपने मन की आरी के दांतों से अपने हृदय की शान्ति को काटता रहता है। वह मानसिक आत्महत्या करता रहता है। भय तथा शोक के विचित्र सम्मिश्रण को व्यामोह कहा जा सकता है। गीता में अर्जुन के भय के कारणों की मीमांसा करके उसके भय का सबसे बड़ा कारण कर्तव्यच्युति को माना है। इसलिए कर्तव्य-अकर्तव्य, स्वधर्म, स्वधर्म पालन, कर्मयोग की चर्चा की गई है। स्वधर्म पालन के लिए (कर्मयोग के लिए) जो समत्व परम अनिवार्य है उसकी विस्तार से चर्चा की गई है।

भय का दूसरा प्रमुख कारण है अज्ञान। जब हमें वस्तुओं और व्यक्तियों के मूलस्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब हमें उनसे भय, उनके कारण भय, उनके नाश की कल्पना से भय, उनकी कल्पित व्याधि से भय, उनके द्वारा होने वाली कल्पित हानि अथवा नाश का भय बड़े विचित्र रूप में सताता रहता है।

(क) प्रत्येक शरीर जो जन्मा है उसे एक न एक दिन जाना ही है। संसार में आने वाला अपने साथ वापसी यात्रा का रिटर्न टिकट लेकर आया है। इस तथ्य को भूलने से ही हम अपने शरीर के जाने या अन्य शरीरों के जाने के बारे में भयभीत रहते हैं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। 2/27, गीता

'जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का पुनर्जन्म निश्चित है। इसलिए ऐसे अनिवार्य विषय में तुझे शोक नहीं करना चाहिए।'

जब प्रत्येक जन्मने वाले का मरना अनिवार्य है। प्रत्येक आने वाले का जाना अनिवार्य है। संसार में स्थायी निवास के लिए कोई आया ही नहीं तब जाने के प्रसंग और जाने की कल्पना से भय कैसा?

(ख) जीवों को सताने वाला सबसे बड़ा भय मृत्यु का है। मृत्यु वास्तव में जीव की वापसी यात्रा है। किन्तु अज्ञानवश मनुष्य नश्वर शरीर को सत् मान बैठता है और उसके नाश के क्षण पर अथवा उसके पहले ही उसकी कल्पना से निरन्तर भयभीत रहता है। अज्ञानी और कायर मृत्यु से पहले अनेक बार मरते रहते हैं क्योंकि मृत्यु की सम्भावना का भय उन्हें निरन्तर सताता रहता है। वीर पुरुष मृत्यु से दो-दो हाथ करने को तैयार रहता है, अतः मृत्यु से डरता नहीं। भगवान् अर्जुन को वीरत्व का मंत्र देते हुए कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। 2/37, गीता

'युद्ध करना तेरे लिए सब प्रकार से अच्छा है, क्योंकि या तो मरकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा। इससे हे अर्जुन! युद्ध के लिए निश्चय वाला होकर खड़ा हो जा।'

जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि—शरीर के चारों विकारों से मानव को भय अथवा दुःख इसलिए होता है क्योंकि उसे देहाध्यास हो गया है। भूल से, अज्ञान से, भ्रान्ति से, मोह से, छल से, धोखे से, जादूगरी से, माया से, अपने देह (शरीर) को ही मैं (आत्मा) समझ लेना देहाध्यास है। प्रत्येक वस्तु का कोई सारतत्त्व है और कोई उसका बहिरंग कलेवर है। सारवस्तु को भूलकर बहिरंग कलेवर को महत्त्व देना अज्ञानजनित मूर्खता है—

	अंतरंग	**बहिरंग**
1.	आत्मतत्त्व	देह, इन्द्रिय
2.	सारवस्तु	कलेवर (शरीर)
3.	नाम-रूप से परे	नाम-रूपात्मक
4.	देश-काल से परे	देशकालावच्छिन्न
	(क) देश (Space) हमें सीमित नहीं कर सकता	देशकालावच्छिन्न
	(ख) काल खा नहीं सकता	काल खा जाता है

5.	अपरिवर्तनीय	परिवर्तनशील
6.	अविकारी	विकारी
	जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से परे	जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से युक्त
7.	मुक्त	बंधन में (पुनर्जन्म) कर्मचक्र, कालचक्र
8.	निजानंद स्वरूप, उपमा-जल तत्त्व	दु:खालयम् अशाश्वतम् बिन्दु, लहर, तरंग, वाष्प....

अज्ञानी समुद्र में करोड़ों बुलबुलों के बनने और मिटने की लीला से प्रभावित होता है। किन्तु ज्ञानी सबके पीछे अविकारी जल तत्त्व को देखता है। इसलिए न बुलबुलों के बनने से हर्षित होता है और न मिटने से दु:खी। ज्ञानी की दृष्टि अमर वस्तु पर होने के कारण वह मृत्यु को मात्र प्रकृति नटी की वेश बदलने की क्रिया मात्र मानता है।

हमने देखा कि भय का सबसे प्रमुख एवं प्रथम कारण कर्तव्यच्युति है। हमने यह भी चर्चा की कि कर्तव्य एवं अकर्तव्य के बीच में सुस्पष्ट निर्णय न कर सके तो भी एक और धर्म संकट पैदा हो जाता है। कर्म संकट का रूप है क्या करूं क्या न करूं। और धर्म संकट का रूप है कौन-सा कर्म उचित, शास्त्रविहित एवं धर्मानुकूल होगा। दोनों ओर मन लगभग समान रूप से खींचा जाने के कारण यह निर्णय नहीं कर पाता कि वह क्या करे और क्या न करे। इसका मनोवैज्ञानिक रूप कर्म संकट है और नैतिक रूप धर्म संकट है।

शुद्ध मनोवैज्ञानिक रूप में कर्म संकट तब सामने आता है जब दो कर्मों में कौन-सा कर्म करे और कौन-सा त्यागे इसका निर्णय करने में असमर्थ होता है। इसमें नैतिक या धार्मिक बाधा प्राय: नहीं होती। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति आग से बचने के लिए आगे कूदना चाहता है किन्तु सामने कुआं देखकर झिझक जाता है। एक व्यक्ति शेर, बकरी और घास का ढेर लेकर नदी पार करना चाहता है किन्तु नौका में एक बार में एक वस्तु ले जा सकता है। यदि पहले घास ले जाएगा तो शेर बकरी को खा जाएगा, यदि शेर को ले जाए तो बकरी घास खा जाएगी। यदि बकरी को पहले पार पहुंचा आए और दूसरे फेरे में घास पहुंचाए तो घास का संकट और शेर पहुंचाए तो बकरी का संकट। इस मनोवैज्ञानिक पहेली में कोई धर्म या नैतिकता का प्रश्न नहीं है।

मन की झिझक, मन का अनिर्णय, निर्णय में देरी, निर्णय-अनिर्णय के झूले में झूलते रहना, संकल्प-विकल्प का दो तरफा खिंचाव और दो तरफा ठोकर, मन की सुस्ती के कारण निर्णय में ढील-ढाल, अनुभव की कमी से नई परिस्थिति में

घबराहट, संकल्प की दुर्बलता से मानसिक परेशानी, बुद्धि की दुर्बलता के कारण समाधान का अभाव, दूरदृष्टि के अभाव में तात्कालिक गलत निर्णय, जल्दबाजी या उतावलेपन में आधा पग बढ़ाकर पश्चात्ताप, मूर्खता के कारण सुस्पष्ट मार्ग न सूझना, नशे में अनिर्णय की स्थिति या मानसिक विकार अथवा मानसिक रोग के कारण कर्तव्यमार्ग न सूझना—ये सब कर्म संकट के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इनमें नैतिक या धार्मिक दृष्टिकोण का प्राय: अभाव ही है।

अर्जुन का संकट कर्म संकट न होकर धर्म संकट ही था। कर्म में जब नैतिक दृष्टिकोण का समावेश होता है तब कर्म कर्तव्य या अकर्तव्य बन जाता है। इसी कर्तव्य को ही गीता में धर्म या स्वधर्म शब्द से वर्णित किया गया है। वैसे तो धर्म शब्द बड़ा व्यापक है, किन्तु उसका सबसे सरल और प्रारम्भिक अर्थ कर्तव्य ही है। इसलिए कर्तव्य संकट ही धर्म संकट कहलाता है।

अर्जुन न शरीर से रोगी था, न मन का रोगी, न आलसी, न नशे में था, न मूर्ख न बुद्धिहीन और न ही कायर था। अत: उसका संकट नीति-अनीति के दृष्टिकोण से कर्तव्य-अकर्तव्य के बीच में निर्णय का संकट था अत: धर्म संकट ही था।

अर्जुन को एक ओर अन्तरात्मा कहती है आततायी दुष्टों को दण्ड दो। दूसरी ओर सामाजिक मर्यादा का भाव कहता है भीष्म, द्रोण जैसे पूज्य गुरुजनों पर स्वयं प्रहार करना घोर पाप होगा। जातिगत स्नेह भाव कहता है कि अपने हाथों किसी भी उद्देश्य के लिए क्यों न हो अपने ही स्वजनों को अपनी ही जाति का नाश करना महापातक होगा। व्यक्तिगत मोहभाव कहता है चाहे कौरव पापी ही है किन्तु हैं तो अपने ही घर के। अपने बंधु अनेक भूलें करने पर भी क्षमा कर दिए जाते हैं। न उन्हें घर से निकाला जाता है और न प्राणदण्ड दिया जाता है। अत: भाइयों की मूर्खता का प्रतिकार उनकी हत्या जैसे महामूर्खतापूर्ण कर्म से नहीं करना चाहिए। अर्जुन के मन में एक ओर शुद्ध नैतिक कर्तव्य की पुकार है और उसके मुकाबले में सामाजिक मर्यादा का भाव, जाति-रक्षा का भाव तथा पारिवारिक मोह ममता का भाव—तीनों संघर्ष कर रहे हैं। इसके साथ एक अदृश्य रूप में यह भय का भाव भी मिला हुआ है कि भीष्म जैसे इच्छामृत्यु-प्राप्त अजेय योद्धा तथा द्रोणाचार्य जैसे एक चिरंजीवी पुत्र के पिता जो युद्ध भूमि में अजेय होने का वर प्राप्त कर चुके थे उन्हें पराजित करना तो असम्भव ही है। अत: इस महायुद्ध में विजय भी संदिग्ध ही है। इसलिए अर्जुन कहता है न जाने हम जीतेंगे या वे जीतेंगे। वह पुन: कहता है इनको मारने के बजाय मेरे लिए उनके हाथों मरना ही श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार अर्जुन भय और शोक के मिश्रितभाव में हथियार डाल देता है।

शोक और मोह

शोक मन की वह विकृत मनोदशा है जो प्रिय वस्तु या व्यक्ति के छिन जाने या वियोग हो जाने के कारण होती है। मन के अनुकूल देश-काल, पात्र-परिस्थिति प्राप्त होने पर हर्ष होता है और प्रतिकूल अनुभूति में विषाद, दु:ख या शोक होता है। शोक का सबसे बड़ा कारण मोह है।

मोह शब्द संस्कृत की 'मुह्य' धातु से बना है जिसका अर्थ है मोहित करना, मुग्ध करना, बेहोश करना, जादू करना, इन्द्रजाल करना, मूर्च्छित करना, बुद्धि को अर्ध-सुषुप्तावस्था में डाल देना, Hypnotism करना, चेतन मन को सुलाना Mesmerize करना (दूसरों के मन को अपने नियंत्रण में करके इच्छानुसार नाच नचाना)। विवेकशक्ति को धूमिल कर मनचाही बात मनवा लेना।

अत: मोह ऊपर लिखे सभी परिणाम पैदा करता है। मोह में बुद्धि कुण्ठित होकर कुछ विपरीत भावना अथवा असत्य वस्तु को सत्य मानकर ऐसा पकड़ बैठती है, उसी के आकर्षण में अंधी हो जाती है तथा उसके लिए सब कुछ त्यागने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। दूसरे शब्दों में मोह ऐसी विचित्र माया है जो अपना अलग कल्पित संसार रचकर अपने इन्द्रजाल में जीव को फंसाकर उससे मनमाने नाच नचाकर, उसे हंसाकर, रुलाकर अन्त में शोकसागर में धकेल कर छोड़ देती है।

ईश्वर की सर्जक शक्ति का नाम माया है। इसके द्वारा ईश्वर अपने संकल्प के बल से ही **'एकोऽहं बहु स्याम्'** भाव की पूर्ति के लिए एक से ही इतनी विराट् सृष्टि पैदा कर देते हैं। ये प्रभु की बहुत बड़ी जादूगरी है कि वे बिना माल मसाले के अपने संकल्प के भीतर से इतनी विराट् और अद्भुत सृष्टि कैसे पैदा कर देते हैं। भगवान् गीता में कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। 7/14, गीता

'हे अर्जुन! मेरी यह देवी गुणमयी माया अगम्य है, इसका पार पाना कठिन है, किन्तु जो मेरी शरण में आ जाते हैं वे माया के पार हो जाते हैं।' ईश्वरीय माया जीवों को तो मोहित करती है किन्तु स्वयं अपने स्रष्टा ईश्वर को तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकती। उसी प्रकार जैसे जादू देखने वालों को मुग्ध करता है किन्तु स्वयं जादूगर को मुग्ध नहीं कर सकता। श्रीरामकृष्ण परमहंस दृष्टान्त स्वरूप में कहते हैं कि सांप के दांतों का विष अन्य प्राणियों को मार सकता है किन्तु स्वयं विषधर सर्प को नहीं मार सकता।

जैसे ईश्वर अपने संकल्प से माया द्वारा सृष्टि करता है उसी प्रकार जीव अपने संकल्प से मोह द्वारा अपना संसार रच लेता है। वह स्वप्न में अपनी कल्पना द्वारा

स्वप्न जगत् रचता है और जाग्रत् में अपने मोह सम्बन्धों से लगभग स्वप्न के समान ही अपना माना हुआ जगत् रच लेता है। जिसे वह अपना मान लेता है उसी के अज्ञानजनित आकर्षण में अंधा हो जाता है। संसार में अनेक जीव-जन्तु जीते-मरते रहते हैं। किन्तु बाजार के जिस आवारा कुत्ते को घर में पालतू बना लेते हैं उसे अपना मान लेने से उससे अपना मोह हो जाता है फिर उसके सुख-दु:ख में हंसने-रोने लगते हैं। इसी मोह के माने हुए कल्पित रिश्तों का नाम संसार है। यह पुत्र, मित्र, यह शत्रु, यह पराया, यह अपना है आदि सब मोह के रिश्ते हैं। यह मोह ही शोक का कारण है।

जीव का मोह दो प्रकार से प्रकट होता है।

यही दो माया के प्रमुख माध्यम हैं—

(1) अहंता,

(2) ममता।

अहंता का अर्थ है अपने वास्तविक मैं को भूलकर गलत मैं को मैं समझ बैठना और उसके आकर्षण में ऐसा अंधा हो जाना कि अपने वास्तविक मैं को पूर्णतया अथवा प्रमुखतया विस्मृत और तिरस्कृत करते रहना। यह अनात्म को आत्म समझ बैठना, यह शरीर को आत्मा समझ बैठना है। शरीर के आकर्षण में अंधे होकर इसी के नहाने-धोने, सजाने-संवारने, वस्त्रालंकार पहनाने, खाने-पीने, रहने, रक्षा करने, इसी के मान-अपमान की चिन्ता करते रहने, इसी के सौन्दर्य और बल का घमण्ड करने, इसी को ही असली मैं समझकर वास्तविक मैं (आत्मा) का तिरस्कार करते रहने का नाम शरीर मोह, देहासक्ति, देहबुद्धि, देहाध्यास, अहंता, अहंकार, अहंभाव आदि कहा जाता है। यही अहंता शरीर और शरीर से सम्बन्धित अन्य अनात्म पदार्थों में भी फैल जाती है। किसी को धन का अहंकार, किसी को तन का अहंकार, किसी को सूक्ष्म बुद्धि का अहंकार, किसी को कला का अहंकार, किसी को विद्वत्ता का अहंकार, किसी को योगसिद्धियों का अहंकार है। ये अहंकार स्थूल शरीर से शुरू होकर धीरे-धीरे सूक्ष्म मन, बुद्धि, चित्त और अहं भाव तक बना रहता है। जब तक जीव यह मानता है कि जो कुछ वह करता है वह उसके देह पिण्ड तथा उससे सम्बन्धित उसका व्यष्टि मैं कर रहा है जो समष्टि या सर्वात्मा से भिन्न है या विश्वात्मा से भिन्न है तब तक उसका अहंता का मोह बना रहता है।

सर्वात्मभाव से सर्व के हित के लिए किया गया कोई भी संकल्प भागवत संकल्प बन जाता है और उस संकल्प से किया हुआ कर्म भागवत कर्म, दिव्य कर्म, ईश्वरीय कार्य, राम काज, विश्वमंगल का कर्म बन जाता है।

व्यष्टि ने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए या सीमित हितसाधना के लिए व्यक्तिगत या वर्गगत ईर्ष्या-द्वेष के भाव से अपने कर्तापन के अहंकार को रखकर

कर्म के प्रति संग रखते हुए यह मेरा कर्म है अतः इससे मुझे पुरस्कार या प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए यह सूक्ष्मभाव मन में रखकर जो कर्म किया वह जीवात्मा को अहंकारयुक्त कर्मबंधन में बांधने वाला कर्म है। व्यष्टि भाव से कृत कर्म अहंकार का पोषण करते हैं, जीव को संसार से बांधते हैं और परमेश्वर से विलग कर देते हैं। समष्टि भाव से किए हुए कर्म अहंकार का विलय कर देते हैं, जीव को बंधन मुक्त करके भगवान् से मिला देते हैं। वह अपने तुच्छ मैं को त्यागकर अपने सच्चे अमर अविनश्वर विराट् मैं को प्राप्त कर लेता है।

मोह का दूसरा माध्यम ममता है—यदि अहंता गलत मैं है तो ममता गलत मेरा है। Me is false I. Mum is false my. गलत मेरा का मूल आधार गलत मैं ही है। यदि मैं को पहचानने में गलती नहीं होगी तो मेरा की भूल हो ही नहीं सकती। प्रायः मानव जब शरीर को मैं कहता है तो शरीर के सम्बन्ध से अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों को मेरा मान बैठता है। जैसे वेश मेरा, ताज मेरा, मेरा आभूषण, मेरा घर, मेरा धन, मेरा मकान, मेरा वाहन, मेरा मित्र-शत्रु, मेरा सम्बन्धी, मेरा अपना, मेरा पराया। ये सब भ्रान्त मान्यताएं उस मूलभ्रान्ति पर टिकी हैं कि मैं शरीर-मन-बुद्धि-चित और अहंकार का समूह हूं। स्थूलरूप से शरीर को मैं कहते रहते हैं किन्तु शरीर से आगे प्राणों तक सब सम्बन्ध माने जाते हैं। जिस पति को मेरा पति कहकर सम्बोधन किया जाता है उसके प्राण निकल जाने पर पत्नी छाती पीटकर विलाप करती है—हाय! मेरा पति चला गया। यदि शरीर ही पति होता तो वह तो सामने ही पड़ा रहता है, किन्तु वह कहती है नहीं वो तो मुझे छोड़कर चले गए। यदि शरीर ही माता-पिता, गुरु-आचार्य होते तो माता-पिता, गुरुजनों के मरने पर उनके शरीर का अग्निसंस्कार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मातृहत्या, पितृहत्या, गुरुहत्या का पाप लगता। इससे स्पष्ट है कि शरीर वास्तविक मैं नहीं है तथा उस पर टिके हुए सारे मेरे के सम्बन्ध भी भ्रामक हैं। यदि मैं सही हो तो मेरा भी सही हो। और यदि मैं गलत है तो मेरा कभी सही हो ही नहीं सकता। जिस शरीर के निमित्त से अन्य वस्तुओं को मेरा कहा जाता है वह शरीर यदि मेरा होता तो मैं अपने साथ लाता और संसार से वापस जाते समय अपने साथ ले जाता। शरीर की कहानी माता के गर्भ में शुक्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीड़े से प्रारम्भ होती है। शुक्र से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, शिशु से बाल, बाल से बालक, बालक से किशोर, तरुण, युवक, प्रौढ़, वृद्ध, रोगी, मृत्यु और फिर, श्मशान भूमि का कण। इसमें आखिर, किसको मैं कहा जाए?

जिस धन को मेरा-मेरा कहकर संसार में कलह, संघर्ष, छीना-झपटी, चोरी-डकैती और मारकाट मची हुई है क्या वह धन मेरा है! कोई व्यक्ति एक कौड़ी लेकर आया नहीं और एक छदाम लेकर जा नहीं सकता।

श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि भगवान् दो बार हंसते हैं। एक तो तब जब दो भाई हाथ में रस्सी लेकर जमीन को मापते हैं और कहते हैं यह भूमि का टुकड़ा मेरा है यह तेरा, तो भगवान् हंसते हैं कि अपने तन की मिट्टी पर तो तुम्हें अधिकार है नहीं और धरती की मिट्टी पर व्यर्थ मेरा-मेरा कहकर अहंता जता रहे हो। दूसरे जब कोई डॉ. छाती पर हाथ रखकर गर्व से कहता है मैं इस रोगी को बचा लूंगा तो भगवान् उस भोले डॉक्टर पर हंसते हैं। डॉक्टर! जब तेरी फूंक निकल जाएगी तो अपने आपको बचा लेना। यह डॉक्टर का मिथ्या अहंकार है। वास्तव में Doctor treats God saves मानव की अहंता और ममता रूपी मोहमयी मूर्खता पर भगवान् हंसते हैं।

किन्तु मानव कांचन और कामिनी के लाभ-लोभ में पागल बना हुआ सब प्रकार के पाप, अनर्थ और अपराध करने में तनिक भी लज्जित नहीं होता। संसार का समस्त ऐश्वर्य ईश्वर का ही है, सारा वैभव विभु का ही है, समस्त लक्ष्मी नारायण की है अत: मेरेपन के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

जिन सम्बन्धियों को हम ममतावश इदं मम (यह मेरा है) कह-कहकर अपने हृदय के प्रेम बंधन में बांधने का प्रयास करते हैं, वे सभी हमारे जीवन में किसी दिन अकस्मात् आ गए थे और किसी दिन अकस्मात् ही छोड़कर हमें वियोग के गर्त में डालकर, हमें धोखा देकर, हमारे संग से दूर अथवा संसार से दूर चले जाते हैं। यदि वे सचमुच हमारे होते तो तीनों काल में हमारे ही रहते। जो अभी मेरा है कुछ क्षण बाद नहीं रहेगा, वह वास्तव में धोखा ही है।

महर्षि वेदव्यास जब अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्र शुकदेव के जन्मते ही संसार से विरक्त होकर जंगल की ओर भागने पर उनके पीछे-पीछे हे पुत्र! हे पुत्र! पुकारते हुए दौड़ते जा रहे थे, तब जंगल के वृक्षों ने भी हे पुत्र! हे पुत्र! की प्रतिध्वनि करना प्रारम्भ किया। वृक्ष मानो वेदव्यासजी का उपहास करते हुए कह रहे थे कि इस विराट् विनाशी विश्व में कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र है। अनेकों बार तुम किसी के पुत्र बने और अन्य जन्मों में उसके पिता बन गए। जैसे नाटक में पर्दे के पीछे वेश बदलकर कभी किसी का पुत्र, कभी किसी का पिता बन जाता है। पति-पत्नी का नाटक खेलने लगता है, किन्तु वास्तव में वह इन सब सम्बन्धों से अलिप्त होता है। उसी प्रकार यह निर्लिप्त वीतरागी बाल ब्रह्मचारी शुकदेव किसी का पुत्र नहीं है।

इस संसार में हमारे हजारों माता-पिता हुए, सैकड़ों पुत्र-स्त्री आदि हुए और इस प्रकार काल के चक्र में हमारे अनेक सम्बन्ध बने और मिटे। इन सम्बन्धों से मूढ़ व्यक्ति ही प्रभावित होता है, विचारवान नहीं।

अहंता और ममता में परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनों में अधिक आधारभूत अहंता ही है। यदि अहंता की भूल न हो तो ममता को टिकने का स्थान

ही न मिले। किन्तु अहंता से उपजी हुई ममता अहंता का पोषण कर उसे इतना बलवान बना देती है कि उस अहंकार को जीतना बड़े-बड़े साधकों के लिए अति दुष्कर कार्य बन जाता है। कई बार साधक व्यक्तिगत अहंकार को मिटाने, उसको कम करने, उसको धीरे-धीरे समाप्त करने का सफल प्रयत्न भी करता है किन्तु अहंता का किला जब आधा या तीन-चौथाई जीता जा चुका होता है तब अचानक ममता की चतुरंगिणी सेना उसकी मदद के लिए पहुंच जाती है और इससे हारता हुआ अहंकार पुनः विजय का डंका बजाने लगता है। जैसे पिता से उत्पन्न पुत्र पिता पर आधारित होता है किन्तु पिता के दुर्बल होने पर पिता का आधार बन जाता है। उसी प्रकार ममता, अहंता के आधार पर अहंता से पैदा होती है। किन्तु अहंता के दुर्बल या नष्ट प्रायः होने पर पुनः उसकी सहायता कर उसको प्रबल रूप में बढ़ा देती है। इसलिए बड़े-बड़े वीतरागी साधक का भी अपने पूर्व आश्रम के सम्बन्धों की स्मृति चर्चा, प्रासंगिक दर्शन-स्पर्शन से पुनः मिटा हुआ अहंकार, जाग उठता है। कई बार मरी-मिटी हुई ममता, अहंता के कारण फिर से जी-उठती है। जैसे कपूत को उसकी करतूतों के कारण घर से निष्कासित कर देने पर भी उसको देखते ही मां की ममता पुनः जाग उठती है। जब तक मैं बना हुआ है तब तक त्यागा हुआ मेरा भी पुनः मेरा बनकर मन पर आक्रमण कर बैठता है। इस प्रकार अहंता और ममता परस्पर एक-दूसरे का पोषण करती रहती है। दोनों में से किसी एक के दुर्बल होने पर दूसरा तुरन्त सहायता कर देता है। यह अहंता और ममता का विषमचक्र बड़ा विचित्र है। एक के छूटते-छूटते मनुष्य दूसरे में फंस जाता है और दूसरा पुनः पहले को अपने पास घसीट लाता है। इन दोनों से बचने का उपाय भगवद्गीता बताती है।

मोह से शोक—मोह अहंता और ममता के माध्यम से जीव को मुग्ध करके सत्य के प्रति अंधा या बेहोश बना देता है।

(क) जीव जब यह मान बैठता है कि मैं शरीर ही हूं तो उसे शरीर के पोषण की चिन्तायें आ घेरती हैं। हाय! संध्या का भोजन कैसे मिलेगा? हाय! कल क्या होगा? भावी दुःखों की कल्पना से चिन्ता होने लगती है। ये शोक से पहले शोक को आमंत्रण है।

(ख) शरीर देश से परिच्छिन्न है। अतः एक ही समय में यत्र-तत्र सर्वत्र नहीं हो सकता। यह देश की सीमा भी उसे शोकसंविग्न कर देती है। काश! मैं वहां पहुंच सकता। अफसोस कि मैं आपसे शरीर से दूर हूं। मुझे शोक है कि एक ही समय में मैं रांची, मुंबई और जोधपुर में नहीं हो सकता।

(ग) शरीर क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। इसकी अवस्थायें बदलती रहने से भी शोक होता है। जवान रोता है कि हाय! बचपन चला गया, वृद्ध कहता है हाय,

जवानी छिन गई, रोगी रोता है कि स्वास्थ्य छिन गया। मरणासन्न व्यक्ति रोता है कि प्राण छीना जा रहा है। इस प्रकार शरीर को मैं मान लेने से शोक से छुटकारा नहीं है।

(घ) गीता में भगवान् ने कहा है कि शरीरधारी को जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि में दु:ख और दोष का दर्शन होता रहता है।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्। 13/8, गीता

रोग और मृत्यु शोक के दो बड़े हेतु हैं। इन दोनों की कल्पना से भी जीव शोक में डूब जाता है।

(ङ) मनुष्य जिन वस्तुओं को मेरा समझता है वस्तुतः वे उसकी पूंजी नहीं है। और सदा उसकी रहने वाली भी नहीं है। उन वस्तुओं के नाश की आशंका से भी शोक होता है। उन वस्तुओं के वास्तविक नाश पर व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है जैसे किसी ने उसे ही मार डाला।

(च) जिन व्यक्तियों को हम अज्ञानवश मेरा-मेरा कहते रहते हैं उनके रोग और मृत्यु की आशंका से भी शोक होता है और वास्तविक व्याधि और मरण पर भीषण शोक होता है।

मोह और प्रेम में अन्तर—किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति अज्ञानजनित अंधा आकर्षण ही मोह है। किसी व्यक्ति या तत्त्व के प्रति ज्ञानयुक्त निःस्वार्थ, आत्मीय भाव ही प्रेम है। संसारीजन संसार के व्यक्ति और वस्तु के प्रति जिसे प्रेम कहते रहते हैं वह वास्तव में मोह ही है। मोह ही शोक का कारण है। प्रेम भक्ति का हेतु है और मुक्ति का कारण है। सच्चा प्रेमी वस्तुतः शोक में नहीं डूबता। मोही के शोक में जो आंसू गिरते हैं वह मन को व्यथित करने वाले, चित्त को अशांत करने वाले, हृदय को भीषण पीड़ा पहुंचाने वाले, मस्तिष्क को मरणांतक व्यथा देने वाले होते हैं। जैसे माता जवान बेटे की मृत्यु पर शोक में विलाप करती हुई स्वयं अधमरी हो जाती है।

इसकी तुलना में सच्चा प्रेमी या भक्त जब प्रभु के वियोग में आंसू बहाता है तो प्रेम के आंसू बड़े शीतल होते हैं। मन-मस्तिष्क को शांत करने वाले होते हैं। हृदय को अपार आनन्द देने वाले होते हैं। इसलिए मीरा बाई के भजन गाकर या रामायण की कथा सुनकर जो प्रेमाश्रु निकलते हैं वे सुख की अपार अनुभूति के प्रतीक हैं। राम वनवास की कथा में आंसू बहाकर भी हर श्रोता यही कहता है कि आज कथा में बड़ा आनन्द आया।

मोह में कुछ काल के लिए स्वार्थ का रिश्ता रहता है। स्वार्थ पूरा होने न होने पर अथवा विपरीत भावना हो जाने पर वह मोहजनित प्रेम घृणा या वैर में बदल जाता है। सच्चा प्रेमी कभी भी किसी भी परिस्थिति में विकृत नहीं हो सकता। मोहजनित आकर्षण परिस्थिति सापेक्ष होता है। जब तक पुरुष कमाता है उसका घर

के सभी लोग आदर करते हैं। वही जब वृद्ध, रोगी, असहाय हो जाता है तो घर की पत्नी, बच्चों के लिए बोझा बन जाता है। सच्चा प्रेम परिस्थिति निरपेक्ष होता है वह सदा एकरस रहता है। दु:ख में, सुख में, हानि में, लाभ में सदा एकसमान रहता है।

मोहजनित प्रेम स्वार्थ पर आधारित होने के कारण भय से दब जाता है और प्रलोभन पर बिक जाता है। सच्चा प्रेम न भय से कांपता है न प्रलोभन पर अपना ईमान बेचता है—

धरा में धंसा दो सूली फांसी पर चढ़ा दो चाहे
मिट्टी में मिला दो या गिरा दो गगन से
तेग तलवार तेज तीर से तराशो तन
छूटेगी न लगी जो लगन प्राणधन की।

मोहजनित आकर्षण बहिरंग या मानस आकर्षण होता है। सच्चा प्रेम अंतरंग, आध्यात्मिक प्रेम होने के कारण स्थायी होता है।

मोहजनित आकर्षण मर्त्य का मर्त्य से मर्त्य प्रेम होता है। आत्मिक प्रेम अमर का अमर वस्तु से अमर सम्बन्ध होता है।

मोह से शोक की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया—मोह द्वारा किस प्रकार शोक पैदा होता है इसको समझने के लिए शोक उत्पत्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को जान लेना चाहिए। भागवत संकल्प से सृष्टि होती है। जीव के संकल्प से उसका अपना मित्र-शत्रु, सम्बन्ध का संसार रचा जाता है। जैसे महाप्रलय में सारी सृष्टि लय हो जाती है उसी प्रकार प्रतिदिन जीव के सुषुप्तिकाल में उसका संकल्प रुक जाने पर उसकी अपनी रची हुई मित्र-शत्रु सम्बन्धों की सृष्टि भी लय हो जाती है। गहरी निद्रा में न अहंता बचती है न ममता। अहंता-ममता का संसार लुप्त हो जाता है। योगी जब समाधिवस्था में होता है तब उसकी वृत्तियां रुक जाती हैं। उसके लिए भी संसार का लय हो जाता है किन्तु समाधि खुलने पर पुनः संसार अपने द्वन्द्वों सहित मन पर आक्रमण करता है। इसकी तुलना में जो ब्रह्मज्ञान की ज्ञानसमाधि में रहता है, ब्राह्मी स्थिति में स्थितप्रज्ञ हो जाता है उसे चलते-फिरते, उठते-बैठते नाम-रूपात्मक संसार के पीछे सर्वत्र ब्रह्म तत्त्व का दर्शन होता है। अत: वह मोह-ममता से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर की माया स्वयं ईश्वर को मुग्ध नहीं करती किन्तु जीवों को मुग्ध करती है। जीव की माया ममता स्वयं जीव को मुग्ध करती है, उससे सम्बन्धित अन्य जीवों को भी प्रभावित करती है। किन्तु ईश्वर को प्रभावित नहीं कर सकती।

ईश्वर न माया के वश में है न मोह के वश में। जीव ईश्वर की माया के वश में भी है और अपनी माया (मोह) के वश में भी है। जब ज्ञानसमाधि में वह

परमेश्वर के साथ अपने मन के तार को जोड़ लेता है तब वह ईश्वरीय माया और व्यक्तिगत मोह-ममता, दोनों से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर के रचे हुए संसार में अनेक घटनाएं घटती रहती है। अनेक मिलन-वियोग होते रहते हैं। जन्म और मृत्यु, विकास और विनाश की अनवरत लीला चलती रहती है। किन्तु उससे जीव को कोई हर्ष या शोक नहीं होता। जंगल के वृक्षों ने महर्षि वेदव्यास को यह भी संकेत दिया कि हमारे फल हमारे पुत्र के समान हैं, उन्हें लोग तोड़कर ले जाते हैं या वे गिर जाते हैं तो हम उनके लिए शोक नहीं करते। प्रतिदिन मिटने वाले बुलबुलों के लिए कौन शोक करता है। प्रतिदिन संसार में हजारों जीव जन्म ले रहे हैं और हजारों मर भी रहे हैं। किन्तु उनका हमारे मन पर कोई प्रभाव नहीं होता।

जब हम ईश्वर की सृष्टि के भीतर उससे पृथक् अपनी माया ममता की अपनी एक अलग सृष्टि रच लेते हैं और उस सृष्टि में किसी को अपना पुत्र, पति, मित्र, बंधु मान लेते हैं तो हमारी मानसिक सृष्टि में मोह की दुनिया निर्मित हो जाती है। हम अपने उस चुने हुए परिचित ममता के घेरे में आने वाले लोगों, व्यक्तियों या वस्तुओं को अपना या तेरा-मेरा मानने लगते हैं। ईश्वर की सृष्टि में कोई व्यक्ति या वस्तु नष्ट हो जाए और हमें सूचना न मिलने के कारण हमारी ममता की सृष्टि में वह व्यक्ति या वस्तु बनी रहे तो हमें कभी शोक नहीं होता। हमें शोक तब होता है जब हमारी मानसिक सृष्टि में हमारी ममता से रची हुई उस व्यक्ति या वस्तु की काल्पनिक मूर्ति टूटती है। उदाहरण—एक स्त्री का पति महायुद्ध में मारा गया, किन्तु दस साल तक उसे कोई सूचना नहीं मिल सकी। वह निरन्तर अपने आपको सुहागिन मानकर मांग में सिंदूर भरती रही और सब व्रत-नियम, खुशी-खुशी करती रहती है। दस साल पश्चात् उसे पत्र मिलता है कि बहुत खोज के बाद यह अन्तिम पुष्ट सूचना दी जा रही है कि उसका पति दस साल पूर्व अमुक स्थान पर युद्ध में मारा गया था। सूचना मिलने पर वह भीषण शोक से ग्रस्त होकर छाती पीटने लगती है। चूड़ियां तोड़ देती हैं, मांग पोंछ डालती हैं और भयंकर विलाप करती है। वास्तव में वह जिस पति के लिए विलाप कर रही है वह तो भगवान् की सृष्टि में दस वर्ष पूर्व ही नष्ट हो चुका था। किन्तु पत्नी की मानसिक सृष्टि में, उसके ममता के संसार में जीवित था। पत्र मिलते ही उसके मन की कल्पना से निर्मित पति की मोहमयी मूर्ति टूट गई। इसलिए शोक भगवान् की सृष्टि में मृत्यु से नहीं हुआ बल्कि स्वयं अपनी निजी मानसिक सृष्टि में मोह की मूर्ति के टूटने से हुआ।

कई बार भगवान् की माया सृष्टि में व्यक्ति या वस्तु का नाश नहीं होता और व्यक्ति की मोहरचित सृष्टि में काल्पनिक विनाश हो जाता है और जीव अकारण ही प्राणान्तक शोक में डूब जाता है। श्री अरविन्द के इंग्लैण्ड से भारत लौटते समय

उनके पिता कृष्णघन घोष को जब यह उड़ती हुई अफवाह सुनाई गई कि जिस जहाज से श्री अरविन्द आ रहे थे, वह दुर्घटनाग्रस्त हो गया है तो पुत्र के प्रति असीम मोह के कारण पिता के मन में बनी हुई पुत्र की ममतामयी मूर्ति खंडित हो गई और पिता का प्राणान्त हो गया। जबकि वास्तव में श्री अरविन्द पूर्णतया सुरक्षित थे। इस प्रकार शोक या दु:ख का वास्तविक कारण मोह ही है। भागवत सृष्टि में जन्म या मृत्यु से न भगवान् को दु:ख-सुख होता है और न जीव को। जीव अपने ही मोह के कारण सुख-दु:ख भोगता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

काहु न कोउ सुख दु:ख कर दाता।
निज कृत करम भोग सब भ्राता।।

वनवास काल में श्री लक्ष्मणजी ने निषाद को लक्ष्मणगीता के नाम से यही उपदेश दिया है कि मनुष्य स्वयं ही अपने सुख-दु:ख का कारण है।

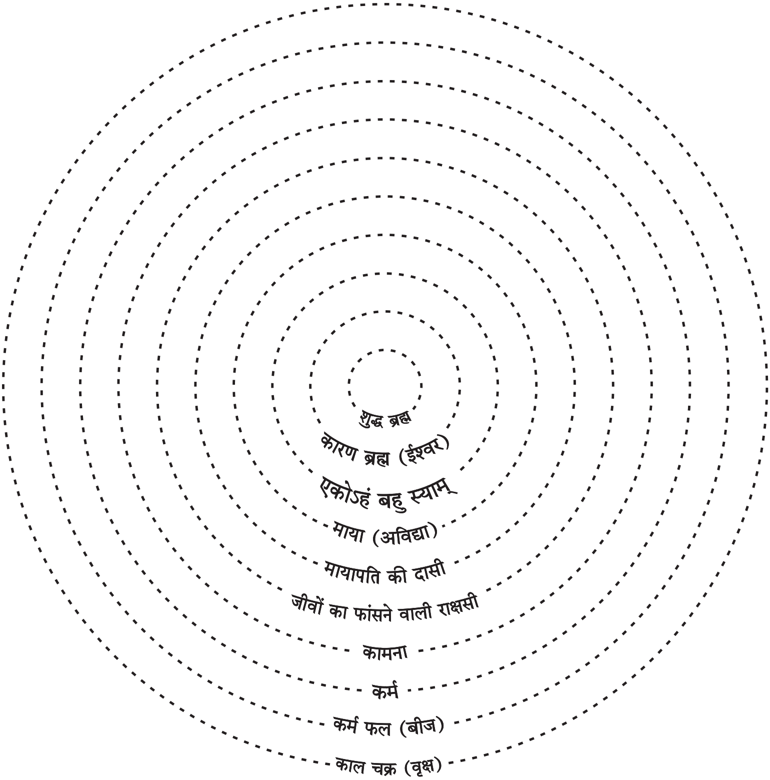
गली में खेलता हुआ बच्चा अंधेरे में रस्सी को सांप समझकर जब चिल्ला उठता है हाय मां बचाओ तो तीन मंजिल पर मां तड़प कर बच्चे से भी अधिक वेदना से चीख उठती है, कभी तीन मंजिल से छलांग लगा देती है या कभी बेहोश होकर गिर पड़ती है। अब विचार कर देखा जाय तो बच्चे को वास्तविक सांप ने तो डसा नहीं। उसे तो केवल रस्सी के सांप ने डसा था। किन्तु मां को कौन-से सांप ने डस लिया। निश्चय ही मोह के सांप ने डस लिया।

इस प्रकार मोह ही शोक का वास्तविक कारण है। जो मोह मुक्त है वह शोकमुक्त है। सारी महाभारत में अनेकानेक लोगों के मरने पर अनेकों ने आंसू बहाए किन्तु भगवान् कृष्ण का मंद-मंद मुस्कराता हुआ मुखारविंद सदा प्रफुलित रहा। जिसको मोह नहीं उसको शोक कैसे हो सकता है?

मोह के नाना रूप—मोह अज्ञान का ही दूसरा नाम है। अत: मोहांध व्यक्ति अज्ञानतिमिर से अंधा कहा जाता है। जिस प्रकार उलूक को दिन का उज्ज्वल प्रकाश दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मोहांध धृतराष्ट्र, गांधारी, दुर्योधन आदि को न भगवान् कृष्ण का भागवत रूप दिखाई देता है, न वेदव्यास का धर्मोपदेश या विदुर एवं भीष्म का न्याय नीति का उपदेश ही रुचता है। पश्चिम के भौतिकवादियों को आत्मा-परमात्मा का सहज विश्वास ही नहीं होता। पूर्व के आध्यात्मिक देशों के भी बहुसंख्यक लोग भौतिक सुख-भोग, ऐश्वर्य के मद में इतने अंधे हैं कि उन्हें भी स्वयं अपना आप (आत्मा) न अनुभव होता है न दिखाई देता है। अज्ञान का दूसरा नाम ही अविद्या है।

(ख) ईश्वर के दृष्टिकोण से माया उसकी सर्जना शक्ति है किन्तु जीव की दृष्टि से माया महाठगिनी है। मोह-ममतामयी, अज्ञान अविद्यारूपिणी, देहाध्यास

कारिणी, देह-गेह-नेहबंधनकारिणी परमेश्वर से विलग करने वाली अवांछनीय यवनिका (पर्दा) है।



जीवात्मा जब मोहवश अपने शुद्धात्मा स्वरूप को भूल बैठता है तब देहात्म भाव से उसके देह, मन, चित्त, अहंकार में मैं और मेरा का भाव पैदा हो जाता है। देह, इन्द्रिय, मन आदि अपने शुद्ध आप्तकाम पूर्णकाम रूप को भूलकर सांसारिक विषयों की कामना करने लगते हैं। इस प्रकार मोह से (अज्ञान से, अविद्या से) काम पैदा होता है। जैसे चक्रवर्ती सम्राट् का पुत्र अपने राज्याधिकार को भूलकर तथा अपनी जेब में पड़े हुए 10 हजार के नोट को भूलकर अज्ञानवश गली-कूचे में भीख मांगने लगे। उसी प्रकार सर्वशक्तिमान निखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी परमपिता परमेश्वर के अमर साम्राज्य का उत्तराधिकारी होते हुए भी यह जीव अज्ञानवश मोहवश अपने निज के शरीर के लिए और निज के सम्बन्ध से मेरा कहलाने वाले परिवारजनों या मित्रजनों के स्वार्थ के लिए कामना का भिक्षापात्र लिए दर-दर भटक रहा है।

(घ) कामना की पूर्ति होते जाने से लोभ बढ़ता जाता है। लोभ काम का साझीदार और उत्तेजक है। काम में बाधा आ जाने पर क्रोध पैदा हो जाता है। क्रोध काम का अधिक उग्र भयंकर भाई है। यदि काम दुर्योधन है तो क्रोध दुःशासन है। भगवान् ने गीता में काम, क्रोध, लोभ इन तीनों को नरक का द्वार माना—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। 16/21, गीता

'काम, क्रोध और लोभ तीन नरकद्वार हैं, जो आत्मा का नाश करने वाले हैं। इसलिए हे अर्जुन! इन तीनों को त्याग दो।'

(ङ) भगवान् ने पांच महान् शत्रु (काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) में से यहां तीन ही प्रमुख विकारों को गिनाया है। इसका कारण यह है कि अहंकार (अहंता) और मोह (ममता) के बिना कोई कामना पैदा ही नहीं हो सकती। पंच शत्रुओं में अहंकार सबसे सूक्ष्म और चार अन्दर की इन्द्रियों (अंतःकरण चतुष्टय) में से अहंकार सबसे सूक्ष्म इन्द्रिय भी है। जब जीव कहता है मेरी हार्दिक कामना है तो वह अहंकारयुक्त जीवात्मा की ही कामना है। जब वह कहता है कि मैं दुःखी हूं तो अहंकार ही दुःख अनुभव कर रहा है। जब कहता है मुझे और धन-ऐश्वर्य चाहिए, अहंकार ही लोभ कर रहा है। जब कहता है हाय, मेरे बच्चों का क्या होगा, अहंकार ही ममता का विस्तार कर रहा है। अहम् एक ओर अपने सुख-दुःख को पहचान रहा है तब ज्ञानेन्द्रिय का कार्य कर रहा है। वहीं अहम् जब कामना से प्रेरित होकर कर्म करता है तब कर्मेन्द्रिय के रूप में कार्य कर रहा है। इस अहम् से भय पैदा होता है इसलिए अहंता से ममता पैदा होती है। कुछ लोग मोह को ही ममता कहकर उसे पंच-महारिपुओं में गिनते हैं। किन्तु मोह वास्तव में मूल अज्ञान या अविद्या है जो अहंता-ममता के माध्यम से प्रकट होता है।

(1) मोह (ममता के अर्थ में) पांच महारिपुओं में से एक।

(2) मोह (मूल अविद्या, अज्ञान, माया के अर्थ में) सभी रिपुओं, सभी सम्बन्धों, समग्र संसारचक्र का मूल कारण।

(च) जिस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोहजनित आकर्षण हो जाता है उसके प्रति लगाव, राग या ममत्वभाव हो जाता है। उसे हम अपना समझकर उसके दोषों, अपराधों और पापों पर आंख बंद कर लेते हैं या मोह के कारण हमारी आंखें अपने आप बंद हो जाती हैं। धृतराष्ट्र के अंधा होने के कारण पापी बेटों के कुकर्म प्रत्यक्ष आंखों से तो दिखाई नहीं देते थे, पर मन और अन्य इन्द्रियों द्वारा वह सब जानता था कि मेरे बेटे कैसे-कैसे भीषण पाप कर रहे हैं। किन्तु वह मोहांध पिता तन का अंधा होने के साथ वह नीति, मन, बुद्धि और विवेक का भी अंधा था।

इसी प्रकार गांधारी मोहांध माता अपने दुष्ट दुराचारी बेटों के सब कुकर्मों पर जान-बूझकर आंखें बंद कर लेती थी और भगवान् कृष्ण जैसे धर्म धुरीन दिव्य पुरुष को शाप दे बैठती है।

(छ) जिस व्यक्ति या वस्तु के प्रति अज्ञानजनित विकर्षण हो जाता है उसके प्रति द्वेषभावना जाग उठती है। उसके गुण भी दुर्गुण दिखाई देने लग जाते हैं। राग से मनुष्य प्रेमांध हो जाता है। द्वेष में क्रोधान्ध हो जाता है। राग से कुछ लोगों को कुछ सीमित व्यक्तियों को अपना मानकर उनके प्रति अनुचित रियायत करने लगता है और द्वेष से अपनों के अतिरिक्त अन्य जनों को पराया समझकर उनसे द्वेष करने लगता है। धृतराष्ट्र जब पूछता है, 'मामकाः पाण्डवाश्चैव' तो निश्चय ही वह केवल अपने बेटों को मामका कह रहा है और सगे भतीजों (पांडवों) को मेरे की परिधि से बाहर, पराया समझ रहा है। इस प्रकार मोह व्यक्ति को न्याय-नीति से अंधा बना देता है।

(ज) जब मैं कहने से शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का बोध हो तो मानना चाहिए कि मैं मोहग्रस्त तथा अहंकार से बंधा हुआ है। जब मैं शब्द बोलने से सर्व के अन्तर के मैं का बोध हो तो मानना चाहिए कि ये अहंकारमुक्त है। सभी मानव अपने को मैं शब्द से ही सम्बोधन करते हैं। दूर वाला व्यक्ति जिसे 'वह' कहकर संकेत करता है सामने वाला व्यक्ति जिसे 'तुम' कहकर पुकारता है वह स्वयं अपने को 'मैं' कहकर परिचय देता है। अन्य प्राणी जो मूक हैं या जिनकी वाणी हम समझते नहीं उनमें भी मैं ही पिरोया हुआ है। चिड़िया स्वयं गाने लगी, घोड़ा स्वयं दौड़ने लगा, सर्प स्वयं फुफकारने लगा, मक्खी स्वयं भिनभिनाने लगी आदि सब जीव मात्र में स्वयं पिरोया हुआ है। सब नाम और रूप, योनि सब पृथक्-पृथक् है परन्तु सबमें स्वयं समान है। जिसका स्वयं सारे विश्व का स्वयं बन गया है जिसका मैं सर्व का मैं बन गया है वह सर्वात्मभाव से विश्वात्मभाव से बोलता, चलता और कर्मचेष्टा करता है। वह अहंकारमुक्त है। उसका मैं सारे विश्व के मैं में मिल चुका है। अहंकार को गलाने में ज्ञानयोग उपयोगी है।

आत्मदर्शी संत लखासिंह के शब्दों में—

धूल से गंदली हुई यह नहीं है तेरी मैं,
भूल से बदली गई यह नहीं है तेरी मैं,
तेरी मैं में सबकी मैं और सबकी मैं में तेरी मैं,
जब तक नहीं बनती वह मैं तब तक बनी रहती यह मैं।

(झ) गलत मैं के समान गलत मेरा का चक्र बड़ा विचित्र है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि संसार की वस्तुओं को बांधने-बटोरने के लिए मैं

प्रतिदिन शृंखला की कड़ियां बनाता गया और जब शृंखला बन गई तो देखा कि मैं स्वयं बंदी हो गया। संसार के सब सम्बन्ध उस शृंखला की कड़ियां हैं। यह मेरा पुत्र, मित्र, शत्रु, अपना-पराया सब कड़ियां हैं। इस ममता की शृंखला की कड़ियों से जीव बुरी तरह जकड़ा जाता है। वह संसार से छूटने के लिए जितना प्रयास करता जाता है उतना ही और उलझता जाता है।

दलदल में फंसे हुए हाथी के समान जितनी जोर से पांव मारकर दलदल से बाहर निकलना चाहता है उतना और गहरे ही गहरे धंसता जाता है। अहंता से भी अधिक व्यापक जाल ममता का है। ममता का उपचार यज्ञभाव से होता है। यज्ञ के मंत्रों में हम अनेक बार दोहराते हैं—'इदं न मम, इदं न मम' यह मेरा नहीं है यज्ञभाव है। जब मेरा कुछ नहीं है तो सब कुछ प्रभु का ही है। तो प्रभु की वस्तु में स्वामित्व भाव रखने का स्थान कहां है?

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर।

इस प्रकार के समर्पण से ममता नष्ट होती है। अतः ममता के नाश के लिए भक्तियोग परम उपयोगी है। यदि ज्ञानयुक्त भक्ति हो तो अहंता न रहने से ममता हो ही नहीं सकेगी। अन्यथा किसी को ज्ञान का ही अभिमान हो जाता है और किसी को भक्ति का अभिमान हो जाता है। कभी-कभी भक्ति अंधभक्ति बनकर विकृत हो जाती है। इसलिए ज्ञानयुक्त भक्ति तथा लोकमंगल के लिए कर्मयोग तीनों के समन्वय से मोहनाश (अहंता-ममता) दोनों धुल जाएगी और मोहनाश हो जाने पर शोक का कोई कारण नहीं बचेगा।

अहंकार

आध्यात्मिक अहंकार—आध्यात्मिक अहंकार का रूप यह है कि मैं शरीर हूं।

आधिदैविक अहंकार यह है कि मैं मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रिय का स्वामी दैवी सम्पदा के गुणोंवाला जीवात्मा पुण्य कर्मों का कर्ता हूं।

आधिभौतिक अहंकार यह है कि मैं धनी हूं, सुन्दर हूं, शक्तिशाली हूं, समर्थ हूं। अपने धन, पद-प्रतिष्ठा के बल से किसी को उठा या गिरा सकता हूं।

संसार में संघर्ष दो प्रकार का चल रहा है—

(क) ममता के संघर्ष-(स्वार्थ के संघर्ष)—एक ही वस्तु को दो या अधिक व्यक्ति जब आग्रह से कहते हैं कि यह मेरा-यह मेरा है तो संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। ममता के संघर्ष स्वार्थों के संघर्ष हैं। कामना और लोभ के संघर्ष हैं। कामना में बाधा से क्रोध पैदा होता है वही संसार के सब संघर्षों का मूल है।

(ख) अहंता के संघर्ष—इन संघर्षों में कुछ पाने या जीतने का प्रश्न नहीं रहता। यह तो मात्र पद की, प्रतिष्ठा की, अहंकार की लड़ाई होती है। यह ममता के संघर्ष से भी अधिक भयानक हो जाता है। मूंछ की लड़ाई के पीछे कई-कई पीढ़ियों तक परिवारों में संघर्ष एवं रक्तपात चलता रहता है। दोनों के भयंकर नाश के बाद पता चलता है कि इस वृथा अहंकार की लड़ाई में दोनों ने बहुत बड़ी हानि उठाई और मिला कुछ भी नहीं। कई बार अपनी हानि करवाकर भी दूसरे का सर्वनाश करने के कुचक्र खेले जाते हैं, केवल इसलिए कि दूसरे के अहं को चोट पहुंचाई जा सके।

जिस प्रकार व्यक्तियों के अहं दृढ़ीभूत हो जाते हैं उसी प्रकार दलों के, जातियों के, संस्थाओं के, पार्टियों के, भाषाओं के, देशों के, विचारधाराओं के भी अहंकार दृढ़ीभूत हो जाते हैं। फिर अपने इस संस्थागत या दलगत अहंकार को संतुष्ट करने के लिए मानव अथवा मानव समूह दूसरे दलों को नीचा दिखाने, उनको क्षति पहुंचाने अथवा नाश करने के लिए अपना तन-मन-धन निछावर करने पर तुल जाते हैं। यह सामूहिक अहं और भी भयानक बन जाता है। मानवता का इतिहास ऐसे दलगत अहम् के अत्याचारों से रक्तरंजित हुआ पड़ा है। रोमन कैथोलिक लोगों द्वारा प्रोटैस्टेन्ट ईसाइयों को हजारों की संख्या में सामूहिकरूप से जीवित जला देना, पोप द्वारा गैर ईसाई समूहों या देशों पर फतवे देकर उनका धरती से उच्छेद कर देने के लिए सैनिक अभियान (Crusade) धर्मयुद्ध करना एवं करवाना। ईसाई कट्टरपंथी अदालतों (inquistion) द्वारा गैर ईसाइयों को मनमाने दोष लगाकर लाखों की संख्या में जलाना, यातना देना, फांसी पर चढ़ाना, कब्र खोदकर मुर्दे को पुनः फांसी देना इसी दलगत अहंकार के घिनौने कृत्य हैं। इस्लाम के प्रचार हेतु एक हाथ में तलवार और दूसरे में कुरान लेकर गैर मुस्लिमों के विरुद्ध जिहाद करना, उनके मठ-मन्दिरों को तोड़ना, उनके देवताओं की मूर्तियों को खण्डित करना, उनके मानचिह्नों को नष्ट करना, उनकी बहू-बेटियों को लूटना और छल, छद्म, भय अथवा प्रलोभन से उनका धर्मान्तरण कर अपना संख्याबल बढ़ाना सब दलगत अहंकार के अंग, खेल हैं।

जहां व्यक्तिगत अहंकार हमें परमेश्वर से अलग कर देता है वहां सामूहिक अहंकार हमें न्याय-नीति के प्रति अंधा बनाकर मानवता से ही च्युत कर देता है। आध्यात्मिक एकता में जहां एक के सिवा दूसरा है ही नहीं वहां नैतिकता का लोप हो जाता है। वहां शुद्ध अध्यात्म ही बचता है। वह अहंकार में हमें अपने सच्चे मैं (शुद्ध आत्मा-परमात्मा) से अलग कर देता है। नैतिकता का क्षेत्र तो समाज है वहां पर अहंकार हमें सामाजिक न्याय, नीति, नैतिकता के प्रति अंधा बना देता है। अतः अहंकार आध्यात्मिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से मानव के पतन का ही कारण बन जाता है।

भगवान् शंकराचार्य ने ठीक ही कहा—

तस्मादहङ्कारमिमं स्वशत्रुं
भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम्।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं
भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम्।।

'इसलिए भोजन करने वाले पुरुष के गले में कांटे के समान खटकने वाले इस अहंकाररूप अपने शत्रु को विज्ञानरूप महाखड्ग से भली प्रकार छेदन कर आत्मसाम्राज्य सुख का यथेष्ट भोग करो।' शंकराचार्य पुनः कहते हैं 'अहंकार अविद्याख्या कष्टतमा सर्वदोषानां मूलम् सर्वानर्थप्रवृत्तीनाम्' अर्थात् अहंकार अविद्या का ही नाम है, जो सब दोषों में से सबसे अधिक कष्ट देने वाला है। सब प्रकार की अनर्थ प्रवृत्तियों का मूल है।

अहंकार मन की वह अवांछनीय घटिया वृत्ति है जो जीव को बहिर्मुखी बनाकर उसे संसार का दास बना देती है।

आत्मा (शुद्ध मैं) की स्फटिक मणि के समान उपमा दी जाती है जो किसी वस्तु के निकट रखा जाए तो तुरन्त उसी की रंगत ग्रहण कर लेता है। जीवात्मा को जब शरीर मिला तो शरीर की रंगत लेकर बोलने लगा कि मैं शरीर हूं। जब मन को व्यथा हुई तो उसकी रंगत लेकर कहने लगता है मैं दुःखी हूं। जब बुद्धि में प्रकाश आता है तो कहता है मैं विद्वान् हूं, जब धन प्राप्त होने लगता है तो कहता है मैं धनी हूं, जब किसी भाषा को बोलने लगता है तब भाषा का अहंकार लेकर कहने लगता है कि मैं हिन्दीभाषी हूं, जब राजनीतिक दल के निकट जाता है तो उसकी रंगत लेकर कहता है कि मैं कांग्रेसी हूं, मैं कम्यूनिस्ट हूं, जब किसी पंथ के संसर्ग में जाता है तो उसी की रंगत लेकर कहने लगता है मैं मुसलमान हूं, मैं ईसाई हूं। वास्तव में इन सबको कुछ समय के लिए धारण करने वाला तत्त्वतः सदा इनसे अलिप्त शुद्धात्मा (सच्चा मैं) है।

शरीर इदम् (यह) सर्वनाम से पुकारा जाता है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। 13/1, गीता

'हे अर्जुन! इस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है। इसको जानने वाला जो सच्चा मैं है उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।'

इदं को अहं समझ लेना ही अहंकार है। क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ समझना, खेत को किसान समझना, यंत्र को यंत्री समझना, वाहन को वाहक समझना, मोटरगाड़ी को

गाड़ी का मालिक समझना एक बहुत विचित्र भूल है जिसे मोह कहा जाता है और संसार के 99 प्रतिशत लोग इसी भूल के शिकार हैं।

भगवान् गीता के तृतीय अ. के 27वें श्लोक में कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

'वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं तो भी अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष मैं कर्ता हूं, ऐसा मान लेता है।'

वास्तव में प्रकृति भगवान् की माया शक्ति है। इसी के द्वारा इसके तीन गुणों सत्त्व, रज, तम के द्वारा इसके पांच तत्त्वों पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश के बीच पांचभौतिक शरीरों के माध्यम से तीन गुणों की प्रेरक शक्ति से समस्त क्रियाकलाप हो रहे हैं। अतः व्यक्ति के अहंकार के लिए कोई स्थान बचता ही नहीं है। क्रियायें दो प्रकार की हो रही हैं। समष्टि क्रिया और व्यष्टि क्रिया। समष्टि क्रिया में सूर्य, चन्द्र, तारागण, ग्रह-नक्षत्र आदि की गतियां, ऋतुओं का चक्र, दिन-रात का चक्र, कालचक्र, पंचमहाभूतों के खेल और पांचभौतिक प्राणियों के समस्त खेल समष्टि क्रियायें हैं। जीवों में भी माता के गर्भ में बीज से भ्रूण का विकास, भ्रूण से शिशु, शिशु से बालक, बालक से किशोर, किशोर से युवक, युवक से प्रौढ़, प्रौढ़ से वृद्ध, वृद्ध से रोगी, रोगी से मृतक समस्त समष्टि क्रियायें हैं।

मानव के शरीर के भीतर भी श्वास-प्रश्वास, पंच प्राणों का खेल, रक्त संचार, हृदय गति, नाड़ी गति एवं शरीर के समस्त कार्यकलाप का संचालन अन्न का पचना, रक्त, मांस-मज्जा, मेद आदि का बनना, मल-मूत्र आदि निकलना सब समष्टि क्रियायें हैं। जो प्रकृति ब्रह्माण्ड को चला रही है वही हमारे पिण्ड को भी चला रही है। जिन पंच महाभूतों से ब्रह्माण्ड बना है उन्हीं पंच महाभूतों से पिण्ड भी बना है। ब्रह्माण्ड की चेतना जो ब्रह्मतत्त्व है वही जीव के पिण्ड में जीवात्मा बनकर द्रष्टारूप से सब क्रियायें देख रहा है। किन्तु अज्ञानवश हम जीवात्मा को व्यष्टि क्रियाओं का कर्ता मान बैठते हैं। हमारी व्यष्टि क्रियायें जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना-फिरना, बोलना, आना-जाना, देना-लेना, परिश्रम करना, प्यार, तिरस्कार, सेवा, संहार इन व्यष्टि क्रियाओं को जीव अपना मान बैठता है और अपने आपको इनका कर्ता मान लेता है। किन्तु वास्तव में प्रकृति के पंच महाभूतों में से एक भी कम हो जाने पर अथवा तीन गुणों में से एक का भी अभाव हो जाने पर कोई कर्म हो ही नहीं सकता। अतः समष्टि और व्यष्टि, समस्त कर्मों का आधार प्रकृति ही है। इसलिए जीव को जो स्वयं प्रकृति के क्रीडा-कौतुक में भागीदार बन अपने को भूल से प्रकृति का अंग ही मान बैठता है, उसे अपने

आपको कर्ता मानने का कोई अधिकार ही नहीं है। यदि वह शुद्धात्मा है तो प्रकृति का द्रष्टा है। द्रष्टा स्वयं क्रिया करता है तो द्रष्टा हो ही नहीं सकता। परिवर्तनशील प्रकृति के समस्त खेल को जानने वाला उसका द्रष्टा स्वयं क्रियारहित और अपरिवर्तनशील ही होना चाहिए अन्यथा उसका सारा ज्ञान परिवर्तनशील होने से अविश्वसनीय हो जाएगा।

यदि साधकावस्था में जीव को अपने शुद्धात्मा स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ तो वह स्वयं प्रकृतिसम्भूत संसार का अंग है। जो प्रकृति सारे ब्रह्माण्ड को नचा रही है वह उसके पिण्ड को भी क्रियाशील बना रही है। अत: उसके कर्तापन के अहंकार का कोई स्थान तक नहीं बचता।

सिद्धावस्था में तो ज्ञान उदय होता है कि मैं शुद्ध आत्मा, निर्लिप्त आत्मा, असंग आत्मा के रूप में प्रकृति के समस्त लीलानृत्य का द्रष्टा हूं। साधकावस्था में जब तक शुद्धावस्था का ज्ञान नहीं हुआ, तब तक जीव अपने आपको प्रकृति-जन्य संसार का अंग (शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) ही मान रहा है, तब तक वह प्रकृति के यंत्र का अंग ही है। तब भी उसके समस्त कार्यकलाप प्रकृति द्वारा ही हो रहे हैं। जो प्रकृति ब्रह्माण्ड को प्रचालित करती है वह उसके पिण्ड को भी प्रचालित कर रही है। वह भ्रान्तिवश समझ बैठता है कि मैं ही कर्म कर रहा हूं। दोनों स्थितियों में चाहे वह साधक है या सिद्ध है कर्तापन के अहंकार का कुछ स्थान बचता ही नहीं। फिर भी यदि वह अपने को कर्ता मानता ही है तो वह गीता के शब्दों में 'अहंकारविमूढ़ात्मा' है अर्थात् गलत मैं से ठगा हुआ, पगलाया हुआ मैं है।

अहंकार दो प्रकार का होता है—

(क) शुद्ध अहं—शुद्ध निर्लिप्त आत्मा को मैं मानना।

(ख) अशुद्ध लिप्त जीवात्मा। इसमें जीव मोहवश अपने शरीर, इन्द्रिय, मन आदि को कर्ता मान बैठता है। वास्तविक मैं एक ही है। किन्तु गलत मैं से भेद बताने के लिए यह विभाजन, काल्पनिक विभाजन किया जा रहा है—

वास्तविक मैं	**काल्पनिक मैं**
शुद्धात्मा	'अहंकारविमूढ़ात्मा'
स्वाभाविक	अस्वाभाविक
शुद्ध	अशुद्ध
नित्य	अनित्य
शुद्ध आत्मा की विस्मृति हो सकती है मिट नहीं सकती।	कुछ काल के लिए मानी जा सकती है किन्तु टिक नहीं सकती।

अहंकार दूर करने के उपाय

(क) ज्ञानयोग के द्वारा—अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना।

(ख) भक्तियोग के द्वारा—मैं, मेरा सब कुछ प्रभु के चरणों में समर्पित कर देना।

(ग) कर्मयोग द्वारा—विनम्रता से सेवा करके कर्मों के फूल, कर्मफल का नैवेद्य, कर्मासक्ति एवं कर्तापन का अहंकार सभी कुछ भगवान् के चरणों में समर्पित करना। एक दार्शनिक मान्यता यह है कि सब कुछ प्रभु कर रहा है, मैं कुछ नहीं कर रहा हूं।

दूसरी दार्शनिक मान्यता यह है कि प्रभु के आदेशानुसार प्रकृति सब कुछ कर रही है। प्रभु केवल निर्लिप्त द्रष्टा है।

साधकावस्था में प्रकृति के चक्र में प्रकृति के साथ घूम रहा है और सिद्धावस्था में द्रष्टा बनकर प्रकृति की लीला का दर्शन कर आनन्द पा रहा है।

तीसरी दार्शनिक मान्यता यह है कि भगवान् यंत्री है मैं उनका यंत्र हूं। भगवान् रथी है, मैं उनका रथ हूं। भगवान् प्रेरक हैं, मैं उनका निमित्तमात्र हूं और उन अन्तर्यामी के आन्तरिक आदेशानुसार उन्हीं की प्रीति के लिए कर्मों की लीला कर रहा हूं।

श्रीमद्भगवद्गीता में मानव को अहंकार मुक्त करने के लिए यथा स्थान तीनों मान्यताओं को उचित महत्त्व दिया गया है।

स्वामी रामतीर्थ ने अपनी बोधकथा में एक रोचक कथा कही है। एक व्यक्ति ने किसी व्यापारी से बार-बार अनेक रकमें उधार ली थी और वापस करने में समर्थ नहीं था। तंग आकर सेठ ने सबके सामने उसे लज्जित किया। लोगों के बीच-बचाव करने पर सेठ ने कहा कि उधार बही में से जिस किसी एक लाइन को काट दे उतनी राशि को मैं माफ कर दूंगा। उस चालाक व्यक्ति ने बही में अपने नाम की लाइन ही काट दी और सेठ से बोला, अब जो कुछ लेना है, ले लो। सेठ बहुत पछताया। इसी प्रकार यदि मनुष्य के ऊपर अनेकानेक जन्मों के पापों का, पिछले कर्मफलों का भार लदा हो, उनसे छूटने का कोई उपाय दिखाई न दे तो उसे अपने अहंकार का ही विलय कर देना चाहिए। कर्मफल सिद्धान्त तभी तक जीव को बांधता है जब तक उसका कर्तापन का अहंकार बना हुआ है। जब कर्तापन का अहंकार ही मिट गया तो कर्ता के ही न बचने से भोक्ता कौन बनेगा। तब पिछले कर्मों के सारे जंजाल भी क्षणभर में लुप्त हो जाएंगे। अहंकार के लय होते ही जीव और ब्रह्म के बीच का पर्दा हट जाएगा और जीव के ब्रह्म में लय होने पर उसे कर्मों का फल कौन दे सकता है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।। 15/5, गीता

'अशुद्ध अहंकार दूर हो जाने पर (जिसका) मान और मोह दूर हो जाता है, उसका संसार की वस्तुओं के साथ जो संसर्ग दोष है वह अपने-आप दूर हो जाता है। वे नित्य अध्यात्मज्ञान में स्थित हो जाते हैं। आप्तकाम, पूर्णकाम होने से उनकी कामना बचती नहीं, इसलिए निवृत्तकामा बन जाते हैं। कामना से कर्म—कर्म से सुख-दुःख। जब कामना ही शेष बची नहीं तो कर्म का प्रयोजन ही नहीं बचा, तब कर्मफल रूपी सुख-दुःख के द्वन्द्वों से अपने आप मुक्त हो गया। इस प्रकार अहंता और ममता को जीतने वाला व्यक्ति अव्यय परम पद को प्राप्त कर लेता है।'

इसी भाव को भगवान् ने 18वें अध्याय में पुनः कहा है—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। 18/17, गीता

'जिसमें अहंकृत (अर्थात् मैं कर्ता हूं इस प्रकार) भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (कर्मफल में) लिप्त नहीं होती, वह इन (समस्त) प्राणियों को मारकर भी (वास्तव में) नहीं मारता है और न (पाप से) बद्ध ही होता है।'

मनुष्य का शरीर इस विराट् संसार का एक अंग है। पर विचित्र बात यह है कि मनुष्य सारे संसार को मैं नहीं कहता और अपने साढ़े तीन हाथ के लोथड़े को मैं कह बैठता है। या तो सारा ब्रह्माण्ड ही मैं है या नहीं तो शरीर मैं नहीं। समुद्र की लहर का अस्तित्व समुद्र में ही है, लहर और समुद्र में जातिगत एकता है उसी प्रकार शरीर और संसार में जातिगत एकता है। बिना समुद्र के लहर का अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार बिना संसार के शरीर का अस्तित्व भी नहीं। किन्तु अज्ञानवश मनुष्य व्यष्टि को मैं और समष्टि को मेरा मान बैठता है। इसी से बंधन में पड़ जाता है। स्वामी रामतीर्थ ने व्यष्टि और समष्टि का बहुत सुन्दर चित्र खींचा है—

अपने मजे के खातिर गुल (=फूल) छोड़ ही दिये जब।
रुये-जमी (=पृथ्वी भर के बाग) के गुलशन मेरे ही बन गए सब।।
जितने जुबां (=जिह्वा) के रस थे कुल तर्क कर दिये जब।
बस जायके जहां (=संसार भर के) के, मेरे ही बन गए सब।।
खुद के लिए जो मुझ से दीदों (=नेत्रों की) दीद (=दृष्टि) छूटी।
खुद हुस्न (=सौन्दर्य) के तमाशे मेरे ही बन गए सब।।
अपने लिए जो छोड़ी ख्वाहिश हवाखुरी की।
बादे-सबा (=पुरवा वायु) के झोंके मेरे ही बन गए सब।।

निज की गरज से (=अपने स्वार्थ की दृष्टि से) छोड़ा सुनने की आरजू को।

अब राग और बाजे मेरे ही बन गए सब।।

जब बेहतरी के अपनी फिक्रो-खयाल (=शोक) छूटे।

फिक्रो-खयाले-रंगी (=आनन्ददायक या भांति-भांति के विचार) मेरे ही बन गए सब।।

आहा अजब तमाशा मेरा नहीं कुछ भी।

दावा नहीं जरा भी इस जिस्मो-इस्म (=नाम-रूप) पर ही।।

यह दस्तो पा (=हाथ-पैर) हैं सबके आंखें यह है तो सबकी।

दुनिया के जिस्म (=शरीर) लेकिन मेरे ही बन गए सब।।

स्वामी रामतीर्थ अपने अन्य व्याख्यानों में भी व्यक्तिगत अहं से क्रमशः विराट् व्यापक अहं तक विकास करने का संदेश देते हैं। जिस अहं को बहुत बड़ा दुर्गुण माना जाता है उसी को धीरे-धीरे विकसित करते जाने से वही मानव मुक्ति के लिए वरदान बन जाता है।

(क) शरीर को मैं मानकर, इसी के भोग विलास, इसी की कामना, क्रीड़ा में व्यस्त रहना सबसे निकृष्ट स्वार्थ का खेल है।

(ख) शरीर के स्वार्थ भी अकेले शरीर का ही चिन्तन करते रहने से कभी पूरे हो ही नहीं सकते। शरीर का जन्म भी किसी परिवार की गोदी में होता है। इसका लालन-पालन भी किसी परिवार में ही अन्य सदस्यों के सेवा सहयोग से ही हो सकता है। अतः शरीर के हित के लिए भी परिवार की रक्षा करना, परिवार की सेवा सुरक्षा करना अनिवार्य है। अपने निजी शरीर की सुख-सुविधाओं का कुछ मात्रा में त्याग करके ही परिवार की सेवा सुरक्षा हो सकती है। यदि घर का मुखिया यह सोचे कि मेरी कमाई पर दूसरों को पलने का क्या अधिकार है तो उसके परिवार में दूसरों का जीवित रहना असम्भव हो जाएगा। यदि उसके विषय में उसके माता-पिता ने भी ऐसा ही सोचा होता तो आज उसका अस्तित्व ही न होता। कम्यूनिस्टों का नारा है कि कमाने वाला खाएगा। यदि इस नारे पर चला जाए तो सारे बच्चे मर जाएंगे क्योंकि वे कुछ कमा नहीं सकते। सारे वृद्धों को भी मरना पड़ेगा क्योंकि वे भी कमाने योग्य नहीं रहे। आधुनिक अर्थशास्त्र भी मानता है कि मानव प्रकृति से स्वार्थी है। यदि सचमुच माता स्वार्थी बन जाए तो सारी मानवता मर जाए। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं कि माता यज्ञ की मूर्ति है। इसी यज्ञ तत्त्व पर सारी सृष्टि टिकी हुई है। अपने से बड़ी इकाई के लिए उत्सर्ग करना ही यज्ञभाव है। जब मानव अपने अहं

को शरीर से विकसित कर परिवार तक ले आता है तब पूरा परिवार उसके मैं के भीतर सम्मिलित हो जाता है। वह परिवार के हित को अपना हित और परिवार के किसी सदस्य के अपमान को अपना अपमान मानता है। इसमें कुछ मात्रा में मोह का भाव भी काम करता है और कुछ अंश में कर्तव्य का भाव भी। किन्तु परिवार के अहं वाला शरीर के अहं वाले की अपेक्षा अधिक विकसित अवश्य है।

(ग) धीरे-धीरे अहं विकसित होकर जाति तक में अपने मैं को अनुभव करने लगता है। जाति के ऊपर प्रहार मेरे ऊपर प्रहार है। जाति की उन्नति मेरी उन्नति है तथा जाति की क्षति मेरी क्षति है। जातिगत अहं वाला परिवारगत अहम् वाले की अपेक्षा कुछ अधिक उदार, कुछ अधिक विकसित है।

(घ) समाज के प्रति मैं की भावना रखना और अधिक विकसित अहं का लक्षण है।

(ङ) राष्ट्रीय स्वाभिमान अहं का और भी बड़ा विकास एवं शोधक है।

(च) विश्वात्मभाव वाले व्यक्ति के मैं में सारा विश्व सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार अहं का क्रमशः शोधन एवं विकास करते जाने से मानव का अहं जो प्रारम्भ में दुर्गुण रूप में होता है वही उसका सद्गुण बनकर उसकी मुक्ति का साधन बन जाता है। ऐसे व्यक्ति के समस्त कर्म व्यष्टि कर्म न रहकर समष्टि कर्म बन जाते हैं। ऐसा विशुद्धात्मा-सर्वभूतात्मा कुछ भी कर्म करते हुए कर्मों से लिपायमान नहीं होता। गीता के अध्याय पांच में—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। 5/7, गीता

'जो (कर्म) योग से युक्त है, विशुद्ध अन्तःकरण वाला है, जिसने देह पर विजय पा ली है, जो जितेन्द्रिय है तथा समस्त प्राणियों की आत्मा ही जिसकी आत्मा हो गई है, ऐसा पुरुष कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता है।'

अहंकार और अस्मिता—अहं का अर्थ है मैं और अस्मि का अर्थ है—मैं हूं। जब मैं पर अधिक बल दिया जाता है तो अहंकार कहलाता है। और जब हूं पर अधिक बल दिया जाता है तो अस्मिता बन जाता है। अहं में 'मैं' की प्रतिष्ठा का भाव प्रबल होता है। अस्मिता में मैं की स्थिति, मैं की हस्ती, मैं के बने रहने का भाव प्रबल होता है। जब विदेशी ब्रिटिश शासक भारत के स्वाधीनता आन्दोलन या क्रान्तिकारियों की सशस्त्र क्रान्ति के सम्मुख झुकने को तैयार नहीं होते तो उसके मन में अहंभाव गर्जता है। हम शासक होते हुए, सारे देश के स्वामी होते हुए इन गुलामों की धमकियों से कैसे दब जाएं। दूसरी ओर जब अंग्रेजों की लाठी, गोली प्रहार, यातना और फांसी तक के सामने न झुकते हुए देशभक्त पुकार

उठते हैं—'कोई भी आसुरी शक्ति हमारी हस्ती को, हमारे अस्तित्व को, हमारी अस्मिता को मिटा नहीं सकती।' तब अस्मिता का भाव प्रकट होता है। अहंकारी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए बेचैन है और अस्मितावादी अपनी हस्ती या स्थिति को बचाने के लिए व्यग्र है। अहंकार दूसरे को लताड़कर आगे बढ़ना चाहता है और अस्मिता अपने अस्तित्व के लिए डटी हुई है। जैसे रावण अहंकारवादी है तो सीता अस्मितावादी है। रावण को बल, शक्ति का अहंकार है, तो सीता में अपने चरित्र की दृढ़ता का बल है।

अहंकार और दम्भ—प्राय: लोग अहंकार और दम्भ का एक अर्थ में प्रयोग करते हैं। किन्तु दम्भ अहंकार से थोड़ा भिन्न है। यह केवल पाखण्ड है, ढकोसला है, आडम्बर है, कपट है। वास्तविक शक्ति न होते हुए भी शक्ति का ढोंग रचना दम्भ है। रूस या अमेरीका का किसी देश को कुचल देने की गर्वोक्ति करना अहंकार है। किन्तु पाकिस्तान के प्रधानमंत्री भुट्टो का भारत के विरुद्ध एक हजार वर्ष तक संग्राम करने का वचन केवल दम्भ है। पुलिस अधिकारी का हठ तो अहंकार है किन्तु पुलिस की वर्दी पहनकर किसी क्षुद्र व्यक्ति पर रोब गांठना मात्र दम्भ होगा।

दम्भ और मिथ्याचार में भी अन्तर है। दम्भी अपने आपको दिखाने की कोशिश करता है जो वह वास्तव में नहीं है। मिथ्याचारी ऊपर से सज्जन दिखता है जबकि भीतर से दुर्बलता या शिथिलता के कारण सज्जनता पर स्थिर नहीं रह सकता। भगवान् गीता में कहते हैं कि जो बाहर से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का स्मरण करता रहता है वह मिथ्याचारी कहलाता है। कोई व्यक्ति ऊपर से बड़ा चरित्रवान दिखता या दिखाता है किन्तु मन ही मन विलासिता का चिन्तन करता रहता है जो ऊपर से ईमानदार बनकर अन्तर में बेईमानी के दुर्बल भाव रखता है। जो ऊपर से भगवान् के चिन्तन के लिए बैठता है अन्तर से मन कहीं और भटकता है, ऐसा व्यक्ति बाहर का प्रयत्न करता है किन्तु दुर्बलतावश आन्तरिक प्रयत्न में असफल हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मिथ्याचारी है क्योंकि उसका आचार आन्तरिक प्रयत्न न होने के कारण असफल, निष्फल या मिथ्या हो जाता है। प्राय: 90 प्रतिशत लोग इसी कोटि में आते हैं। वे मन्दिर जाते हैं, माला जपते हैं, ध्यान में बैठते हैं, पूजा-पाठ करते हैं पर उनका मन कहीं और भटकता रहता है। वे मिथ्याचारी हैं, वे दया के पात्र हैं। वे आन्तरिक दुर्बलता के कारण अपने आचार में निष्फल हो रहे हैं। वे किसी को ठगने के लिए ऐसा नहीं करते वरन् आन्तरिक दुर्बलता के कारण भटक जाते हैं। इसके विपरीत पाखण्डी (दम्भी) व्यक्ति साधक है ही नहीं। न अन्दर की साधना करता है न बाहर की, वह केवल अपने आडम्बर-युक्त ढकोसले से समाज को ठगना चाहता है।

मनोविज्ञान में हीनता ग्रंथि (inferiority complex) और श्रेष्ठता ग्रंथि (Superiority complex), दोनों मन की अवांछनीय ग्रंथियां मानी गई हैं जो मानसिक अस्वस्थता की परिचायक हैं। हीनता ग्रंथि में मनुष्य अपने को सदा घटिया मानकर आत्मग्लानि, आत्मनिंदा करता रहता है। मैं दुर्बल हूं, मैं रोगी हूं, मैं नालायक हूं, मैं असफल हूं, कभी सफल नहीं हो सकता, आदि। श्रेष्ठता ग्रंथि में मनुष्य अपने आपको वास्तविकता से अधिक श्रेष्ठ दिखाने का प्रयास करता रहता है। यह एक प्रकार की आत्मवंचना है। ऐसा व्यक्ति बहुत दम्भ करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का मत है कि श्रेष्ठता ग्रंथि वास्तव में होती ही नहीं। यह हीनता ग्रंथि की क्षतिपूर्ति करने के लिए कृत्रिम आडम्बर है। अत: प्रत्येक दम्भी व्यक्ति भीतर से हीनता ग्रंथि का रोगी होता है, स्वस्थ मन वाला अन्दर और बाहर से समान रहता है। जिसके भीतर बहुत अभाव रहता है वही बाहर से बहुत बनाव-श्रृंगार करके अपने भीतर के अभाव की काल्पनिक पूर्ति करता है। आज के कृत्रिमता के युग में दम्भ, पाखण्ड, आडम्बर और बाहर की लिफाफेबाजी बहुत बढ़ गई है। यह दम्भ भी खोखले लोगों के लिए अहंकार प्रदर्शन का एक प्रकार है। थोथा चना बाजे घना। चीन के एक दार्शनिक ने कहा है कि मानव जीवन अहंकार की पतंगबाजी का खेल है। जैसे पतंग उड़ाने वाला सदा प्रयत्नशील रहता है कि उसकी पतंग की नोक सदा ऊपर रहे। वह थोड़ी देर डोरी की ढील देकर भी एक झोंक में पतंग को सबसे ऊपर ले जाए और इर्द-गिर्द की पतंगों को काटकर नभोमण्डल का एकछत्र सम्राट् बन जाए। उसी प्रकार मानवों के अहंकार उनकी नाक को ऊपर रख, थोड़ी बनावटी नम्रता की ढील के बाद अधिक अकड़ से ऊपर उठकर इर्द-गिर्द के अन्य मानवों की अहंकार की पतंगों को काटकर स्वयं सर्वोच्च प्रतिष्ठा पाने के लिए बेचैन रहते हैं।

जर्मनी का दार्शनिक नीत्शे मानव के अहं को इतना महत्त्व देता है कि उसके बिना मानव जीवन को बेकार मानता है। नीत्शे के शब्दों में—समाज का वास्तविक उद्देश्य यही है कि वह कुछ सम्भ्रान्त एवं ऐश्वर्यशाली बड़े लोगों के विकास के लिए अंकुरण की क्यारी बने। इसके द्वारा साधारण लोगों को जो कष्ट सहना पड़े उसका कुछ महत्त्व नहीं है। स्वाधीन मानव वही है जो यह माने कि ईश्वर मर चुका है और हमें ईश्वर बनने के लिए नहीं वरन् एक ऊंचा मनुष्य बनने के लिए प्रयास करना चाहिए। नीत्शे की अहंकारवृत्ति एवं अहंभाव की महिमा से प्रेरणा प्राप्तकर महाकवि इकबाल भी मानव की खुदी (अहंवृत्ति) को सम्बोधन करते हुए लिखता है—

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले
खुदा बंदे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है?

जिस प्रकार यूरोप में वेदान्त (उपनिषद्) एवं बौद्ध धर्म के परम प्रशंसक शोपनहार के बिल्कुल विपरीत उग्र अहंभाव की महिमा गाने वाला दार्शनिक नीत्से प्रकट हुआ। उसी प्रकार भारत में भगवान् के सम्मुख सर्वस्वसमर्पणभाव से अपने अहं को गला देने वाले विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के बिल्कुल विपरीत भाव, अहम् वृत्ति के महिमागान को गाता हुआ कवि इकबाल प्रकट हुआ। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर गीताञ्जलि के अमर गीत में गाते हैं—

एक ही नमस्कारे प्रभु
एक ही नमस्कारे।

अर्थात् हे प्रभु! एक ही नमस्कार में मेरा मस्तक सदा-सदा के लिए आपकी चरण धूलि में झुक जाए और मेरा सारा अहंकार गल जाए।

आमार माथा नत करे दाऊ, तुम्हार चरण धूलि तोले।

रवीन्द्र की इस समर्पण भावना में जो दिव्य भक्तिभावना, आध्यात्मिक विनय एवं समर्पण की पावन प्रेरणा है उसकी तुलना में इकबाल में अहंकार की बू होने के कारण नोबल पुरस्कार समिति ने रवीन्द्रनाथ को विश्व के सर्वोच्च साहित्य पुरस्कार (नोबल पुरस्कार) के योग्य माना। इकबाल को नहीं।

अहंकार निवृत्ति के उपाय—(क) ज्ञानयोग, (ख) भक्तियोग, (ग) कर्मयोग और (घ) राजयोग।

राजयोग

राजयोग में चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। चित्त बहुत चंचल है। जैसे समुद्र में निरन्तर लहरें चलती रहती हैं उसी प्रकार चित्त के सरोवर में संकल्प-विकल्प की लहरें निरन्तर चलती रहती है। संकल्प एक विधायक मानसिक कल्पना है कि मुझे यह काम करना चाहिए। विकल्प एक नकारात्मक कल्पना है कि यह काम नहीं करना चाहिए। जैसे समुद्र की लहर आगे-पीछे निरन्तर चलती रहती है, उसी प्रकार संकल्प-विकल्प की लहरें भी मनुष्य को आगे-पीछे नचाती रहती हैं। चित्त की इस चंचलता के कारण ही चित्त में शान्ति नहीं रहती है। इस प्रकार चित्त की बहुत बड़ी शक्ति परस्पर करने न करने के संकल्प-विकल्प के घात-प्रतिघात में नष्ट हो जाती है। चित्त जब कुछ कामना करता है, जब वह विषयों की ओर भागता है इससे भी उसकी शक्ति निम्न विषयों में व्यर्थ होती है। ऐसे चित्त को जीवन के उच्च मूल्यों या आदर्शों के लिए समय और शक्ति दोनों की कमी अनुभव होती है। यदि किसी मकान में नीचे के छत में नल खुले हों तो ऊपर की छत पर पानी बहुत कम चढ़ता है, नीचे का नल बंद करने पर ही ऊपर पानी चढ़ सकता है। इसी प्रकार चित्त की शक्ति यदि घटिया विषयों की ओर लगी

रहे तो उच्च आदर्शों के लिए शक्ति ही नहीं बचेगी। योग द्वारा मन की घटिया वृत्तियों को रोक दिया जाता है। संयम और इन्द्रिय निग्रह द्वारा मन की शक्तियों को ऊर्ध्वमुखी बनाया जाता है। जो वीर्य प्रायः नीचे की ओर पतित होता है संयम के द्वारा वह ऊपर उठता है और मनुष्य ऊर्ध्वरेतस बनता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि—इस अष्टांग योग द्वारा मन की शक्तियां विकसित होते-होते समाधिवस्था में आकर व्यष्टि अहम् का समष्टि अहं में लय हो जाता है। उस समय वह अलौकिक सुख एवं अपार आनन्द का अनुभव करता है। उस समय व्यक्तिगत अहं नहीं बचने के कारण संकल्प-विकल्प रुक जाते हैं। मन अन्तर्मुखी होकर अन्दर की निधियों को पाता है।

असंयमी व्यक्ति का चित्त उसके नियंत्रण में न रहने के कारण उसकी वृत्तियां निरन्तर परस्पर एक-दूसरे के विपरीत संघर्ष करती हुई उसकी मन की शक्ति व्यर्थ में क्षय होती रहती है। अतः वह कोई महान् कार्य नहीं कर सकता। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियां सामान्य अवस्था में धरती की वस्तुओं को नहीं जला सकती, किन्तु आरसी शीशे से केन्द्रित हो जाने पर उसका तेज और ओज एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है और वह वस्तुओं को जलाने में समर्थ हो जाती है। मानसिक एकाग्रता, वृत्तियों का नियंत्रण, एक लक्ष्य पर ऐकान्तिक ध्यान एक बहुत बड़ी चमत्कारी शक्ति पैदा कर देता है जिससे ज्ञान भी बहुत सुस्पष्ट हो जाता है और कर्म भी बहुत ऊर्जस्वी बन जाते हैं। इसी कारण योगी जो अपनी इच्छाशक्ति से अपने मन की वृत्तियों को रोक सकता है, नियंत्रित कर सकता है और वांछित बिन्दु पर लगा सकता है वह किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक चमत्कारी ढंग से ज्ञान-विज्ञान का रहस्य जान लेता है। अदृश्य और दूरस्थ घटनाओं को जान लेता है, दूरदर्शन कर लेता है और दूरश्रवण में भी समर्थ बन जाता है। वह दूसरों के मन में झांक कर उनके मन के गुप्त रहस्यों तक को जान लेता है और काल के पर्दे को चीरकर भूत, भविष्य और वर्तमान को सुस्पष्ट देखकर त्रिकालदर्शी बन जाता है। उसके कर्म में विलक्षण शक्ति आ जाती है जिसे देखकर सामान्य लोग सिद्धियों का चमत्कार कहकर आश्चर्यचकित हो ठगे से रह जाते हैं। योगी का ज्ञान असाधारण बन जाता है। उसका कर्म चमत्कारी बन जाता है तथा उसकी दूरसंचार शक्ति अन्य के मन को अन्तःज्ञान से पहचान लेने, प्रेरित करने की शक्ति इतनी विकसित हो जाती है कि योगी भगवान् की एक दिव्य विभूति बन जाता है। उसका व्यष्टि अहं समष्टि अहम् में लय हो जाता है। जैसे सर्वान्तर्यामी भगवान् अनायास ही सब कुछ जानते हैं और अनायास ही सब कर्म कर या करवा रहे हैं, उसी प्रकार योगी सर्वज्ञाता एवं सर्वसमर्थ बन जाता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए अष्टांग योग की क्रमिक सीढ़ियां हैं। योगी

का सच्चा स्वरूप उसके योगसिद्ध होने पर ही प्रकट होता है। चंचल एवं उत्पाती मन को शांत एवं मौन करना एक बहुत बड़ी बहादुरी का खेल है जिसे साधारण दुर्बल मन कर ही नहीं सकता। कुछ इसी प्रकार के चंचल मन वाले असंयमी, नियंत्रणविहीन, इन्द्रियलोलुप, विलासिता में उन्मत्त मानव जिनका मन सदा शैतान का चरखा बना रहता है वे योगी के चित्तवृत्तिनिरोध को निद्रा या बेहोशी कहकर उसका उपहास उड़ाते हैं। वास्तव में सोये हुए तो वे हैं जिन्होंने अपने चित्त की वास्तविक शक्ति को पहचाना ही नहीं। सबसे बड़ी बेहोशी में वे ही बुरी तरह डूबे हुए हैं जो नित्य विषयों की ठोकर पर ठोकर खाकर भी अपने ध्येय के प्रति नहीं जागते और जो कामना के कीड़े और विलासिता के कुत्ते बने हुए संसार में भटक रहे हैं और आज तक अपने आपको न जानकर स्वयं के प्रति ही अंधे बने हुए हैं। योगी न सोता है और न मूर्च्छित होता है। यदि वह सोता तो दूसरों के मन की बात को कैसे जान लेता और मूर्च्छित होता तो एक स्थान पर बैठे हुए अपने संकल्प के बल से ही दूर बैठे हुए लोगों को प्रेरित कर वांछित कर्म कैसे करवा लेता। मूर्च्छित व्यक्ति न दूरदर्शन कर सकता है न दूरसंचार। न दूसरे में शक्तिपात, न दूसरे का उपचार और न असम्भव कर्मसम्पादन।

मन में अपार शक्ति छिपी हुई है। किन्तु साधारण मनुष्य उस अपार शक्ति का कुछ भी सदुपयोग नहीं कर पाता वरन् वह मन के तूफानों से स्वयं तबाह होता रहता है। जिस प्रकार प्रतिवर्ष सतलुज नदी की बाढ़ से फिरोजपुर तथा पंजाब के कई जिले बाढ़ में डूब जाते थे। मनुष्य और पशु मर जाते, भवन गिर जाते, खेती उजड़ जाती, कारखाने बर्बाद हो जाते। वहां सतलुज पर भाखड़ा डेम बांध देने से बाढ़ की विनाशकारी लीला रुक गई। जन-धन की हानि समाप्त हो गई। इसके साथ ही विद्युत् का बहुत बड़ा भण्डार प्राप्त हो गया जिससे उत्तर भारत जगमगा उठा। कल-कारखानों में उत्पादन बढ़ गया और सारे क्षेत्र में अविश्वसनीय प्रगति हो गई। सतलुज के जल को बांध में बांधना उसकी विनाशकारी जलराशि को विश्वमंगलकारी बनाना है। अनियंत्रित मन को नियंत्रित करना अपने सर्वनाश के स्थान पर अपना सर्वांगीण विकास करना है।

चित्तवृत्तिनिरोध का अर्थ चित्तवृत्ति को नियंत्रित करना है। विद्युत् के नियंत्रण का अर्थ यह नहीं कि विद्युत् की धारा को बंद कर देना। वरन् वे कहते हैं कि विद्युत्धारा को वश में रखना और आवश्यकतानुसार उसको खोलना और बंद करना ताकि विद्युत् का वृथा नाश न होता रहे। चित्तवृत्तिनिरोध से योगी पहले यम-नियम का पालन कर अपनी प्रवृत्तियों को शुद्ध भर करता है। उसको पवित्र करने में लगता है। जीव मात्र के प्रति अहिंसा का व्रत लेता है। वह सत्यमार्गी बनता है। मानव की छोटे-छोटे तुच्छ स्वार्थों के लिए झूठ बोलने की उलटी बुद्धि

उसे बहुत पतित कर देती है। इस झूठ की प्रवृत्ति को रोकना और सत्य का व्रत लेना बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक साधना है, दर्शन की मूल भीत (नींव) है और महान् कर्मों की आधारशिला है। झूठ की प्रवृत्ति को रोकना न तो सोना और न ही मूर्च्छा है। इसी प्रकार कुसंस्कारवश तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए अधिकांश मानव दूसरों के धन की चोरी करते रहते हैं। देश में रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, लूट-खसोट और प्रशासन में ऊंचे पदों पर बैठे हुए लोगों द्वारा भी देश को लूटकर घर भरने की प्रवृत्ति चोरी, तस्करी की प्रवृत्ति है। इस चोरी की प्रवृत्ति का निरोध कर अस्तेय का व्रत लेना लोक-मंगलकारी है और मानव को विकसित कर देवता बनाने वाला है। क्या चोरी की प्रवृत्ति के निरोध को सुषुप्ति या मूर्च्छा कहा जा सकता है?

प्रायः सब मानव आलस्यवश कर्म से भागते हैं और निकम्मे बैठे-बैठे सब प्रकार के भोग-विलास को भोगना चाहते हैं। ऐसा व्यक्ति समाज का बोझ एवं कलंक बन जाता है। वह परोपजीवी (दूसरों की कमाई का हिस्सा खा लेने वाला) देश एवं समाज की प्रगति में बाधक होता है। इस आलस्य एवं भोग की प्रवृत्ति को तप द्वारा रोका जा सकता है। अपने से बड़ी इकाई के लिए कष्ट उठाना ही तपस्या है। तपस्वी व्यक्ति आलसी, भोगी और कामचोर नहीं हो सकता है। तप को निद्रा या मूर्च्छा मानना सत्य का घोर अपमान करना है।

आलसी, निद्रालु एवं मूर्च्छनाग्रस्त व्यक्ति कभी स्वाध्याय नहीं करता है और न करा सकता है। योग के मार्ग पर चलने के लिए प्रारम्भिक तैयारी में ही व्यक्ति को दैनिक स्वाध्याय का व्रत लेना पड़ता है। स्वाध्याय का यौगिक अर्थ स्व अर्थात् आत्मा का चिन्तन है। यह विचार करना है कि मैं कौन हूं। यह स्वाध्याय ही सारे दर्शन एवं अध्यात्म का जनक है। जब तक व्यक्ति स्वयं आत्मचिन्तन एवं आत्म-विचार योग्य नहीं बनता, तब तक वह शास्त्रों में अंकित आत्मवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता, ज्ञानी महापुरुषों की अनुभूति के प्रसाद को नहीं प्राप्त करता है। स्वाध्याय करना ही दैनिक ऋषियज्ञ है। वेद में कहा गया है—स्वाध्यायेन अर्चयेत् ऋषीन्—अर्थात् स्वाध्याय द्वारा ऋषियों की अर्चना कर।

क्या स्वाध्यायशील, जाग्रत्, विवेकी और आत्मचिन्तक जिज्ञासु को कोई निद्राग्रस्त या मूर्च्छित कह सकता है। वास्तव में स्वाध्याय से पराङ्मुख, भोगान्मुख स्वयं अपने आप के प्रति अंधे व्यक्ति ही निद्राग्रस्त एवं मूर्च्छित कहे जा सकते हैं। मूर्च्छा का लक्षण ही यही है अपने आपके प्रति चेतना का अभाव।

इसी प्रकार योग की प्रारम्भिक साधना में शौच का नियम है। अधिकांश लोग तन से अपवित्र, मन से अपवित्र, विचारों से अपवित्र, खान-पान में अपवित्र,

धन कमाई में अपवित्र और संकल्पों में अपवित्र बने रहते हैं। योगसाधक शुचिता, पवित्रता का व्रत लेता है। अतः वह अन्दर-बाहर से पवित्र होकर धरती का भूषण एवं मानवता का मुकुटमणि बन जाता है।

इसी प्रकार ईश्वर प्रणिधान के द्वारा भी मानव की समस्त प्रवृत्तियां सांसारिक भोगों से हटाकर सृष्टि के स्वामी विश्व के चरम सत्य की ओर लग जाती है। चित्तवृत्तियों का भोगों से निरोधकर सत्य से योग करना कभी निद्रा या मूर्च्छा नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार योग के प्रथम पग पर ही मानव मन का अन्तर-बाहर से ऐसा शोधन एवं पवित्रीकरण हो जाता है कि इतने मात्र से ही मनुष्य देवतुल्य बन जाता है। योग का अष्टांग सिद्ध हो जाने पर तो नर पूरा नारायण ही बन जाता है। तब उसका व्यक्तिगत अहम् व्यक्तिगत संकल्प भागवत संकल्प बन जाता है और उसके शरीर के निमित्त से दिव्य ईश्वरीय कर्म होने लग जाते हैं।

अहंकार निवृत्ति की युक्ति

अहंकार एक अशुद्ध, गलत मान्यता है कि मैं शरीर, मन, इन्द्रिय आदि का समूह जीवात्मा हूं। तथा मैं ही कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता हूं। गलत मान्यता को सही मान्यता से ही हटाया जा सकता है। अशुद्ध मान्यता को हटाने का इसके सिवा कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं।

हम विचार करें कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की सब क्रियाओं को मैं जानता हूं। हाथ की क्रिया, पांव की क्रिया, मन का संकल्प, बुद्धि के विचार, से सब क्रियायें हो रही हैं जिनका मुझे ज्ञान होता है। यदि मैं भी क्रिया कर रहा हूं तो मेरी क्रिया को जानने वाला कौन है? मैं यदि स्वयं क्रियाशील न रहूं तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की क्रियाओं को और इस विराट् प्रकृति के अन्दर घटने वाली नानाविध घटनाओं एवं क्रियाओं को जानेगा कौन? स्वयं ही नदी की धार में, नदी के साथ बहने वाला, नदी की गति और वेग को कैसे जान सकता है। शेर के दांतों से चींथा जाकर शेर का कलेवा बनने वाला व्यक्ति शेर के दांत कैसे गिन सकता है। जो स्वयं काल के मुख में है वह यह साक्षी कैसे दे सकता है कि काल सबको खा जाता है।

बौद्ध दार्शनिक कहते थे सर्वं क्षणिकम् अर्थात् सब कुछ क्षणिक अर्थात् परिवर्तनशील है। इससे बौद्धों ने अनात्मवाद का सिद्धान्त बनाया कि अमर आत्मा कुछ है ही नहीं। यह केवल चेतन धारा है जो स्मृति की शृंखला से जुड़ी हुई है। प्रत्येक घटना एक स्वतंत्र बिन्दु के समान है जो अगले बिन्दु से स्मृति शृंखला से जुड़ जाती है और इस प्रकार की घटनाओं की शृंखला स्मृति की बंधी हुई धारा को

में कह दिया जाता है। जब स्मृति की श्रृंखला टूट जाती है तो स्वयं अपनी ही बीती हुई घटना के मैं को आज का मैं पहचान ही नहीं पाता। यदि दस वर्ष पहले मैंने किसी से उधार लिया हो या किसी का उपकार किया हो और उस घटना को आज से जोड़ने वाली स्मृति की श्रृंखला कहीं टूट जाए तो मैं स्वयं अपने बीते हुए मैं को न मानता हूं, न पहचानता हूं। दूसरा व्यक्ति कहता है आपने मुझसे रुपये उधार लिए अथवा आपने मेरा तिरस्कार किया, किन्तु विस्मृति के कारण मैं मानता ही नहीं कि वह मैं ही था। भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का विचार इस रूप में इसलिए दिया कि मानव को अपने कर्तापन का अहंकार करने का स्थान ही न बचे। जिसे में मैं समझता हूं वह वास्तव में चेतना के क्षणों की स्मृति से जुड़ी श्रृंखलामात्र है। जब पक्का मैं है ही नहीं तब अहंकार किसका करें?

भगवान् शंकराचार्य ने बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पूछा—आप जो मानते हैं कि सब कुछ परिवर्तनशील है तो यह सत्य ज्ञान है या असत्य ज्ञान? यदि यह सत्य ज्ञान है तो इसका ज्ञाता कौन है? यदि शरीरधारी बुद्ध इसका ज्ञाता है तो बुद्ध के जन्म से पूर्व जब सब कुछ परिवर्तनशील था यह कैसे सिद्ध होगा और बुद्ध के शरीरांत के बाद भी सदा सब कुछ परिवर्तनशील रहेगा इसका क्या प्रमाण है? जो स्वयं परिवर्तनशील है वह सब कुछ परिवर्तित होने की साक्षी कैसे दे सकता है। शरीरधारी बुद्ध भी एकदेशी होने से सीमित परिवर्तन में द्रष्टा हो सकता है, सारे विश्व ब्रह्माण्ड की परिवर्तनशीलता का नहीं। शरीरधारी बुद्ध अल्पजीवी एवं नश्वर होने के कारण सीमित काल के परिवर्तनों का साक्षी हो सकता है, त्रिकाल अथवा सर्वकाल के परिवर्तन का कभी नहीं। सर्वदेश और सर्व काल के समस्त परिवर्तनों का साक्षी वह अमर आत्मा ही हो सकता है जो स्वयं अजर, अमर, अविनाशी, अखण्ड, एकरस, अपरिवर्तनीय सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक चेतन सत्ता है। किसी तीस मील लम्बी दौड़ में सर्वप्रथम स्थान का निर्णय वही निर्णायक कर सकता है जो दौड़ प्रारम्भ होने से पहले भी वर्तमान हो, सारी दौड़ के बीच भी जागरूक निरीक्षक बना रहे और दौड़ के अन्त में सर्वप्रथम आने वाले व्यक्ति से पहले ही लक्ष्य बिन्दु पर वर्तमान रहे। यदि रैफरी या निर्णायक स्वयं मील, आध मील दौड़कर हांफ कर गिर जाने वाला हो तो वह निर्णय क्या करेगा। सृष्टि के चरम और परम सत्य को और उसके रहस्यों को वही ठीक-ठीक जान सकता है जो सृष्टि की लीला प्रारम्भ होने से पहले भी चेतन सत्ता के रूप में वर्तमान है, सृष्टि की सारी लीला के बीच में भी निरन्तर वर्तमान है और सृष्टि के महाप्रलय की लीला का भी अमर साक्षी है। वरन् अनेकों महाप्रलयों का भी तमाशा देख चुका है।

यदि बौद्धों के मतानुसार कोई जीवात्मा या अमर आत्मा है ही नहीं तो कर्मफल किसको मिलता है। कर्म चेतना का एक कण करेगा और फल दूसरे कण

को मिल जाएगा। इस प्रकार नैतिक न्याय नहीं हो सकेगा। यदि मैं पक्का न माना जाए तो पुनर्जन्म किसका होगा और निर्वाण किसको मिलेगा? इन समस्याओं का समुचित उत्तर बौद्ध दर्शन में न होने के कारण शंकराचार्यजी ने बौद्धों पर दार्शनिक विजय प्राप्त की।

शंकर ने अहंकार से मुक्ति के लिए मैं की सत्ता को नकारा नहीं वरन् यह कहा कि शुद्ध मैं की विस्मृति और अशुद्ध मैं का अध्यास होने के कारण ही मन रूपी चन्द्रमा को अहंकाररूपी राहु ग्रस लेता है।

अहंकाररूपी अशुद्ध मान्यता को इस विपरीत मान्यता से हटाया जा सकता है कि मैं शरीर, मन, इन्द्रिय आदि जीवात्मा नहीं हूं। अथवा यह सही मान्यता लानी पड़ेगी कि मैं निर्लिप्त, शुद्ध आत्मा हूं। मैं शरीर, इन्द्रियादि की समस्त क्रियाओं का साक्षी हूं। मैं स्वयं कुछ न करते हुए बाह्य प्रकृति की लीला और अन्त:प्रकृति की कर्मलीला का साक्षी हूं। गीता में भगवान् ने पांचवें अध्याय के 8वें श्लोक में ऐसी ही मान्यता का उपदेश दिया है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। 5/8, गीता

पुरुषार्थ चतुष्टय द्वारा मोह मुक्ति

धर्म

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में धर्म का महत्त्व सर्वाधिक होने के कारण और इसकी आवश्यकता चारों पुरुषार्थों में होने के कारण इसका नाम सबसे पहले लिया जाता है। धर्म का अर्थ है कर्तव्य। गीता में स्वधर्म पालन (कर्तव्य पालन) पर बल दिया गया है। दूसरे के अधिक सुन्दर दिखने वाले धर्म की अपेक्षा अपना कम गुणों वाला धर्म भी अधिक कल्याण करने वाला है। परायी सुन्दर धनवान स्त्री की अपेक्षा अपनी निर्धन एवं रूपहीन माता अधिक कल्याण कर सकती है। भगवान् कहते हैं—

स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:। 3/35, गीता

'अपने स्वधर्म में मर जाना भी अधिक कल्याणकारी है। दूसरे का धर्म तो भय देने वाला है।' निष्काम भाव से शास्त्र के आदेशानुसार प्रभु की प्रीति के लिए कर्म का संग, कर्मफल एवं कर्तापन का अहंकार त्यागकर किया हुआ कर्तव्यकर्म मोहनाश कर जीव को मुक्त करने वाला है।

अर्थ

भारतीय संस्कृति में अर्थ का आदर्श है धर्म पर चलते हुए धन-धान्य की प्राप्ति एवं सदुपयोग। धन एवं धान्य परस्पर सम्बन्धित है। कोई धान्य उगाता है

और निर्वाह योग्य धान्य को रखकर शेष धान्य को बेचकर धन में परिवर्तित कर लेता है और उस धान्य से अन्य आवश्यकताओं की आपूर्ति करता है। जो व्यक्ति कृषि न करके अपने तन का श्रम या बौद्धिक श्रम लगाकर धन कमाते हैं, वे सीधे धन या पैसे को खाकर पेट नहीं भरते। वे धन को धान्य में परिवर्तित कर अपनी खाद्य समस्या का समाधान करते हैं। भारतीय संस्कृति का कथन है धन अथवा धान्य कमाओ किन्तु धर्म पर चलते हुए उनका उपार्जन करो। न किसी की जेब काटो, न गला काटो और न खेत काटो। अर्थ में शुचिता भारतीय संस्कृति का अनिवार्य मूल्य है। भगवान् मनु ने कहा—

सर्वेषामेव शौचानामर्थ शौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।। 5/106

अर्थात् सब प्रकार के शौचों में (पवित्रता के कार्यों में) अर्थ शुचिता ही सबसे श्रेष्ठ है। मिट्टी और जल से बारबार धोकर, रगड़कर हाथों की या शरीर के अन्य अंगों की सफाई करना तो मात्र बाहर की औपचारिकता ही है। जिस व्यक्ति की कमाई पवित्र नहीं है वह चाहे जीवनभर सब तीर्थों में स्नान करता रहे और गोपी चन्दन और गंगाजल से शरीर को दर्जनों बार नहलाता रहे, वह पवित्र नहीं हो सकेगा।

(क) अर्थशुचिता की मीमांसा—मानव को परिश्रम करके धन-धान्य का उपार्जन करना चाहिए। आलस्य और अकर्मण्यता में पड़े हुए दूसरों की कमाई खाना अथवा दूसरों के परिश्रम द्वारा उपार्जित अन्न पर जीना अर्थशुचिता नहीं है।

(ख) चोरी-चकारी का धन या लूट का अन्न कभी भी हमारी बुद्धि को पवित्र नहीं रहने देगा। दूसरे द्वारा चुराया धन-धान्य भी यदि अज्ञानवश भी प्रयोग कर लें तो वह बुद्धि को दूषित करता है। एक राजा के राजगुरु जो वीतराग संत थे, जब स्नानालय में स्नान हेतु गए तो हीरक हार देखकर उनके मन में लोभ पैदा हो गया और वे हार को ले गए। इधर राजा ने राज्य भर में हार की खोज और चोर को पकड़ने के लिए भरसक चेष्टा की किन्तु हार नहीं मिला। एक मास पश्चात् राजगुरु स्वयं राजा के पास हीरक हार लेकर पहुंचे तथा कहा कि मैं हार उठाकर ले गया था। राजा को विश्वास नहीं हुआ। गुरु ने कहा कि दूषित अन्न के प्रभाव से मेरे मन में चोरी का भाव उदय हुआ। राजा को इस बात पर विस्मय हुआ। खोज करने पर पता चला कि 40-45 दिन पूर्व राज-कर्मचारियों ने चोरी का अन्न ले जाते हुए कुछ चोरों को पकड़ा था। चोरों को कारागार में भेजा गया और अन्न अधिग्रहण कर सरकारी भण्डार में रखा। उसी भण्डार से कुछ अन्न के बोरे राजा की पाकशाला में आए थे, चोरी के अन्न को ग्रहण करने से राजगुरु तक के मन में चोरी का भाव उदय हो गया था। एक मास पश्चात् जब दूषित अन्न का प्रभाव पूर्ण रूप से शरीर से निकल गया तब अपने आप राजगुरु के मन में चोरी के कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ।

आज चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, ठगी के अन्न या धन से मानव का मन दूषित हो रहा है। दूषित मन में दूषितभाव ही जगते हैं। उससे अहंता-ममता बढ़ती है। जीव स्वयं पतित होता है और समाज को नरकतुल्य बना देता है।

(ग) जिस धन-धान्य की प्राप्ति के लिए हमने इसके समान परिश्रम न किया हो वह भी अपवित्र माना जाता है। इसलिए जुए का धन अपवित्र है। आजकल लॉटरी का फैशन चल पड़ा है किन्तु विचार कर देखेंगे तो लॉटरी भी सरकार द्वारा स्वीकृत फैशनेबुल जुआ ही है। इससे किसी व्यक्ति को बिना उचित परिश्रम किए ही अन्य लाखों लोगों का हक छीनकर मोटी रकम मिल जाती है। अतः लॉटरी के धन को भी अपने निजी प्रयोग में न लाकर किसी समाज कल्याण के कार्य में लगाना चाहिए।

(घ) जो व्यक्ति लेन-देन में साफ नहीं है, जो लिए हुए उधार को हड़प कर बैठ जाता है या भूल जाता है अथवा उसको डकार जाने के लिए कोई बहाना खोज लेता है उसका धन पवित्र नहीं है। ऐसे मित्र के यहां भोजन करने से भी उसकी पाप प्रवृत्ति का अंश हमें भी दूषित कर सकता है। ऐसा व्यक्ति मोह में अंधा है, लोभ के पाप में डूबा हुआ है तथा अन्यों को भी डुबाने में कारण बनता है।

(ङ) पाप की कमाई से परिवार को पालने पर बच्चों में भी पाप के भाव आते हैं। वे बड़े होने पर स्वयं अपने माता-पिता को भी ठगने या लूटने में अग्रणी होते हैं। जो धन अनर्थ से आता है वह अनर्थ में या व्यर्थ में ही जाता है।

(च) धन की चार गतियां हैं—

चत्वारो धनदायका धर्माग्निनृपतस्कराः।
तेषां ज्येष्ठापमानेन त्रयः कुप्यन्ति सोदराः।।

धन के हिस्सेदार चार भाई हैं—धर्म, अग्नि, राजा और चोर। इसमें बड़े भाई के अपमान से छोटे तीनों (अग्नि, राजा और चोर) कुपित हो जाते हैं और सब धन समाप्त हो जाता है।

अर्थात् धन की चार गति है। या तो धर्म में लगे या राजा कर रूप में छीन ले या चोर लूट ले या आग में जल जाए। जिस धन का प्रथम गति में धर्मार्थ विनियोग नहीं होता है उसकी अन्य गतियां होनी अनिवार्य हैं।

भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—

अर्थमनर्थं भावय नित्यम्

अर्थात् यह नित्य भावना करो कि अर्थ ही सभी अनर्थों का कारण है। वास्तव में कांचन और कामिनी ममता के दो बड़े आकर्षक एवं लुभावने आकर्षण बिन्दु हैं। इसलिए धन के मद में और कामिनी के मोह में अंधा होकर मनुष्य नाना प्रकार के

अनर्थ, अनाचार करता है। रावण ने सोने की लंका के लोभ में अपने भाई कुबेर को भगाकर सोने की लंका पर आधिपत्य जमा लिया और सीता के सौन्दर्य पर मोहित हो उसे चुराकर ले गया। इस प्रकार ब्रह्माजी का प्रपौत्र, पुलस्त्य ऋषि का पौत्र, विश्रवा ऋषि का पुत्र (ब्राह्मणवंशी) रावण वेदों का विद्वान् होते हुए भी कांचन और कामिनी के मोह के कारण इतिहास में राक्षस के नाम पर तिरस्कृत हुआ।

वनवास काल में जब लक्ष्मण भगवान् राम से पूछते हैं कि संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो कांचन और कामिनी के मोह में फंसता नहीं है तो भगवान् समाधान देते हैं—

पिता यस्य सदाचारी, माता यस्य पतिव्रता।
कंचन कामिनीं दृष्ट्वा न तस्य चलति मनः।।

अर्थात् जिसके पिता सदाचारी हैं, माता पतिव्रता है, ऐसे सदाचारी माता-पिता की संतान का मन कंचन और कामिनी को देखकर चलायमान नहीं होता है।

(छ) श्रीरामकृष्ण परमहंस गंगा के तीर पर एक हाथ में मिट्टी और दूसरे में सोना लेकर बैठते और कहते थे ये मिट्टी, ये सोना। पुनः सोना को मिट्टी और मिट्टी को सोना। फिर दोनों को सोना। फिर दोनों को मिट्टी कहकर गंगाजी में फेंक देते। यदि कोई गहरी निद्रा में भी उनके शरीर के किसी अंग से कोई सिक्का छुआ देता तो उनका अंग सिकुड़ कर पीछे हट जाता था। इस प्रकार उन्होंने कांचन के मोह पर विजय पाई थी। कामिनी पर विजय के लिए वे प्रत्येक नारी को भगवती, माँ काली का रूप मानकर वंदन करते थे। वे वेश्याओं तक में भी माँ भगवती का दर्शन किया करते थे।

(ज) श्रीरामकृष्ण जैसी सिद्धावस्था तो कुछ विरले जनों को प्राप्त होती है। किन्तु साधनावस्था में ही कांचन और कामिनी की मोह-ममता से बचने का सूत्र भारतीय ऋषियों ने दिया है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।।

अर्थात् परायी स्त्रियों को माता के समान और पराये धन को लोष्ठ (कंकर-पत्थर) के समान और सब भूत प्राणियों को अपनी आत्मा के समान जो देखता है वह ही सच्चा मानव मोह-ममता से मुक्त होकर सत्यदृष्टि से देखता है। इसी को रामायण में तुलसीदासजी ने गाया है—

जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव विष तें विष भारी।।
जो हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी।।
जिन्हहि राम तुम्ह प्राणपियारे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे।। 2/129/6-8

गोस्वामी तुलसीदास अन्यत्र उसी भाव को कहते हैं—

पर नारी सब मातु सम, पर धन धूलि समान।
एते से प्रभु ना मिले, तो तुलसी दास जमान।।

श्रीरामकृष्ण परमहंस की सिद्धावस्था में कांचन-कामिनी भाव शेष ही नहीं रहते—

मातृवत् स्वदारेऽपि सर्वद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मैव सर्वभूतेषु, रामकृष्णः जयतु सदा।।

(झ) शास्त्र का वचन है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'

अर्थात् आहार की शुद्धि से ही मन की शुद्धि होती है। आहार में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—

(i) पवित्र धन (पवित्र कमाई का पैसा)।

(ii) परिश्रम से उपार्जित धन।

(iii) बिना छल-छद्म से प्राप्त धन।

(iv) पवित्र अन्न।

(v) अहिंसक भोज्य पदार्थ।

(vi) पवित्र स्थान पर बना हुआ।

(vii) पवित्र व्यक्ति द्वारा पकाया हुआ।

(viii) पवित्र भाव से पकाया हुआ एवं परोसा हुआ।

(ix) पवित्र स्थान पर ग्रहण।

(x) पवित्र भाव से भगवान् को समर्पित।

(xi) अतिथि-अभ्यागत को भेंट कर।

(xii) शरीर निर्वाह भर के लिए जिह्वा के स्वाद या इन्द्रियों के लोभ से मुक्त, भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करना।

गुरु नानकदेव ने दीवान के भोगों के पूरी-पकवान को त्यागकर भाई लालो (एक निर्धन बढ़ई) की सूखी रोटी को आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। उन्होंने दर्शाया कि दीवान के भोजन में निर्धनों का रक्त है और गरीब बढ़ई की सूखी रोटी में परिश्रम का सात्त्विक दुग्ध है।

भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन का मेवा त्यागकर विदुर के घर का शाक स्वीकार किया। उन्होंने दुर्योधन से कहा कि मनुष्य भोजन तब करता है जब देने वाले के

मन में प्रेम हो या पाने वाले के मन में भूख हो, गरज हो। न तेरे मन में प्रेम है और न मेरे मन में गरज है।

अहंकारी एवं स्वार्थी (भोजन कराके अपना उल्लू सीधा करने की चेष्टा वाले) व्यक्ति के यहां भोजन करने से तो मन अशुद्ध होता है।

(ञ) शास्त्रों में मठ-मन्दिरों में चढ़ाए हुए चढ़त या दान के पैसों को भी बहुत भारी एवं दूषित माना गया है। सभी भक्तगण या आगन्तुक अपने किसी कष्ट क्लेश के निवारण के लिए मन में कुछ मनौती मांग कर देवता के सामने पैसा चढ़ाते हैं। अतः उस पैसे में उनके कष्ट-क्लेश, दुःख छिपे हुए और भगवान् से उनकी सकाम याचना लिपटी हुई है। उसे (उस धन को) पचाना बहुत कठिन काम है। केवल तपस्वी ब्राह्मण ही अपनी तपस्या की अग्नि से चढ़त के पैसे के दूषित संस्कारों को भस्मकर उन्हें प्रयोग करने का अधिकारी बनता है। तपस्याहीन, साधनाहीन, केवल खान-पान, नशा सेवन, निद्रा, आलस्य में जीवन बिताने वाले ढोंगी साधुओं एवं मठाधीशों को यह दूषित अन्न और धन और भी अधिक नीचे गिरा देता है।

एक बार भगवान् राम के दरबार में एक कुत्ते ने न्याय की पुकार की। उसने कहा कि एक ब्राह्मण ने बिना कुत्ते के भौंकने या काटने की चेष्टा के अकारण ही उसे डण्डा मारकर घायल कर दिया। भगवान् ने ब्राह्मण को बुलाकर सारी जांच-पड़ताल की। कुत्ते का आरोप ठीक था, जिसे ब्राह्मण को भी मानना पड़ा। भगवान् ने कुत्ते से पूछा—तुम्हीं बताओ कि इसे क्या दण्ड दिया जाए। इस पर कुत्ते ने उत्तर दिया, महाराज! इसे किसी मठ का मठाधीश बना दिया जाए। सबके विस्मय करने पर कुत्ते ने कहा—मैं भी पिछले जन्म में मठ का मठाधीश था। लोगों के दान का दूषित अन्न खाकर मुझे कुत्ते की योनि मिली। अतः इसे भी इस क्रम में जब कुकुर योनि मिलेगी तब इसे पता चलेगा कि डण्डा मारने से कैसी पीड़ा होती है।

(ट) धन की कमाई में और धान्य के उत्पादन में कुछ दोष अज्ञात रूप में मिल जाते हैं जिनका निवारण करना कई बार असम्भव हो जाता है। जैसे मिलने वाले वेतन के सिक्के या नोट, वेतन देने वाले ने कैसे कमाया इस पर ईमानदार परिश्रमी कार्यकर्ता का कोई जोर नहीं है। छुट्टी के दिनों का बिना परिश्रम का वेतन, हड़ताल के दिनों का, कर्फ्यू के दिनों का वेतन, अकस्मात् दाम बढ़ जाने से होने वाला लाभ, ग्राहक की भूल से अधिक पैसा आ जाना, खेत के जोतने में कुछ जीवों की हिंसा, काटने में, पीसने में, अग्नि जलाने में, पकाने में, अज्ञात एवं अनिच्छित रूप में होने वाली हिंसा के छोटे-मोटे दोष अन्न में आ ही जाते हैं। इन अनिच्छित-अकस्मात् होने वाले धन और धान्य दोषों के निवारण के लिए भारतीय

ऋषियों ने दान और पंच महायज्ञ का विधान किया है। अपनी कमाई का दस प्रतिशत समाजसेवा एवं धमार्थ कार्यों में दान करना चाहिए।

पंच महायज्ञों के द्वारा मनुष्य सारी सृष्टि के ऋण का कुछ अंश में भुगतान करना सीखता है।

पंच महायज्ञ

(1) **ब्रह्मयज्ञ—**दैनिक ब्रह्म चिन्तन करना।

(2) **ऋषियज्ञ—**ऋषियों के पवित्र ग्रंथों का स्वाध्याय करना।

(3) **पितृयज्ञ—**पितरों-पूर्वजों का श्राद्ध स्मरण रख उन्हें जलांजलि देना तथा यथासमय श्राद्ध करना।

औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहां को आगरा के लाल किले की मोती मस्जिद में कैद कर रखा था। तब एक बार वह उसे देखने के लिए गया, हाथ-पैर बंधे हुए अपने बाप को घिसट-घिसट कर पानी के प्याले की ओर जाते देखकर औरंगजेब ने अपने बाप को अधिक सताने के लिए पांव की ठोकर से प्याला तोड़ दिया। इस पर शाहजहां जोर-जोर से रोने लगा। उसने कहा—

ऐ पिसर तू अजब मुसलमानी, ब पिदरे जिंदा आब तरसानी।
आफरीन बाद हिन्दवान सत्‌बार, मैं देहंद पिदरे मुर्दारावा दायॅम आब।।

हे पुत्र! तू विचित्र मुसलमान है जो अपने जीवित पिता को जल के लिए भी तरसा रहा है। शत-शत बार प्रशंसनीय हैं वे हिन्दू जो अपने मृत माता-पिता को भी जल देते हैं।

गुरु नानकदेवजी ने भी कहा है—

आप न देइ चुलुभर पानी
निंदई सइ जिन गंगा आनी।

अर्थात् लोग स्वयं अपने पितरों को चुल्लू भर पानी तो देते नहीं किन्तु निन्दा उस राजा भगीरथ की करने लगते हैं जो अपने पितरों के उद्धार के लिए स्वयं गंगा को ही स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आया था।

(4) **नृ यज्ञ—**अर्थात् मनुष्य के कल्याण के लिए यज्ञ। इसी का दूसरा नाम अतिथि यज्ञ भी है। अतिथि ऐसा व्यक्ति है जो बिना पूर्व सूचना के बिना घोषित तिथि के हमारे गांव में अथवा हमारे द्वार पर आ जाए। आजकल किसी विशिष्ट आदमी के पूर्व सूचनानुसार पहुंचने पर उसे अतिथि या विशिष्ट अतिथि कहते रहते हैं। वास्तव में ऐसा व्यक्ति अतिथि न होकर अभ्यागत है। परिचित मित्र, बंधु, गोतिया भी बाहर से आने पर अभ्यागत की कोटि में आएंगे। अतिथि तो प्राय:

अपरिचित, बिना पूर्व सूचना के, बिना घोषित तिथि के अकस्मात् हमारे द्वार पर आ जाने वाला व्यक्ति है। वेद का वचन है **'अतिथि देवो भव।'** अर्थात् अतिथि को देवता मानो। अतिथि सत्कार, अतिथि पूजा, अतिथि सेवा, अतिथि धर्म, भारतीय संस्कृति की बड़ी दिव्य परम्परा रही है जिसकी महिमा मैगस्थनीज (यूनानी यात्री) तथा ह्वैनसांग, फाहियान आदि चीनी यात्रियों ने भी गायी है। यहां अतिथियों के पानी मांगने पर आदरपूर्वक दूध भेंट किया जाता है। राजा रन्तिदेव ने अपना भोजन अतिथि को देकर स्वयं भूख से प्राण देना भी श्रेयस्कर समझा। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में एक नेवला पहुंचा जिसका आधा शरीर सोने का था। उसने बताया कि युधिष्ठिर महाराज का यज्ञ एक गरीब ब्राह्मण के सत्तू दान यज्ञ से भी घटिया है। एक गरीब ब्राह्मण परिवार को कई दिन तक कई मास के दुर्भिक्ष में बहुत कष्ट झेलना पड़ा। कई दिन के उपवास के बाद जब उनका अपना प्राण संकट में था तब भिक्षा में एक मुट्ठी सत्तू मिल गया था। उसे घोलकर परिवार के चार सदस्य एक-एक घूंट पीने के लिए उद्यत थे, तभी एक भूखा अतिथि पहुंच गया। पति-पत्नी और पुत्र-पुत्री चारों ने बारी-बारी से अपना कटोरा अतिथि को दे दिया। और अतिथि के तृप्त हो जाने पर समाधानपूर्वक भूखे ही प्राण छोड़ दिए। अतिथि के सत्तू पीने से जो अनाज के दो-चार कण धरती पर गिरे उन्हें स्पर्श करते ही नेवले का आधा शरीर सोने का हो गया था। शेष आधे शरीर को भी स्वर्णिम बनाने लिए वह युधिष्ठिर महाराज के यज्ञशेष अन्न में लोट-पोट रहा था, किन्तु उसका शेष शरीर जब सोने का नहीं बना तो उसने कहा, हे युधिष्ठिर महाराज! आपका करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं के दान वाला यह विराट् यज्ञ उस निर्धन ब्राह्मण के सत्तू दान यज्ञ की अपेक्षा घटिया है। शास्त्र में विधान है कि जिसके घर में स्वतः अतिथि न पहुंचे उसे गांव के चौराहे में जाकर पुकारना चाहिए 'अहं अतिथिं याचे' अर्थात् मैं अतिथि की याचना करता हूं। ऐसी याचना करते हुए उसे गोधारा दोहनकालपर्यन्तम् (गो-दुग्ध धारा दुहने में जितना समय लगता है उतने काल तक) प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसका भाव यही है कि वह मेरे घर चलकर मेरे अन्न को पवित्र करे। इस परम्परा से अतिथि यज्ञ के चमत्कार द्वारा किसी गांव में कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं रह सकता।

एक भारतीय प्राध्यापक अनेक वर्षों तक इंग्लैण्ड में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा एवं शोध के पश्चात् जब भारत लौटा तो विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुआ। वह प्रायः प्रतिदिन नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता में एक अन्य युवा प्राध्यापक को शोध में मार्गदर्शन हेतु ले जाता था। संध्या समय लौटती बार में वे दोनों फिदरपुर मार्केट में एक साधारण होटल में चाय, जलपान करते। ऑक्सफोर्ड का पढ़ा हुआ प्राध्यापक प्रतिदिन भारत के सामान्य चाय होटल की इंग्लैण्ड के बड़े वैभवशाली होटलों से तुलनाकर भारत की निंदा करता रहता था। वहां के होटल

महल जैसे थे और भारत में खपरा से ढके हुए साधारण झोंपड़े में होटल चलता। वहां कालीन बिछे रहते, यहां कीचड़ और धूल से भरा हुआ मिट्टी का फर्श, वहां सुन्दर सूट-बूट पहने बेरे साफ सुथरी मेजों पर भोजन पहुंचाते, यहां अधनंगे अनपढ़ बच्चे गंदी सी टेबलों पर मैले हाथों से मैले बरतनों में खाना पहुंचाते थे। वहां सुगन्धित वातावरण, यहां मक्खी मच्छर की भरमार, वहां बैण्ड बाजा और नर्तकियां, यहां अजीब शोरगुल और नौकरों की चिल्लाहट, वहां का मैनेजर या मालिक रईस के समान, यहां का होटल मालिक पसीने से लथपथ एक गंजी व धोती पहने हुए ग्राहकों से पैसा लेने में और नौकरों को डांटने में लगा हुआ। इंग्लैण्ड की चकाचौंध के बाद विदेश से आए हुए उस भारतीय को भारत में कुछ भी अच्छा दिखाई नहीं देता। वह रोज कहता—This dirty India. I hate India. एक दिन नेशनल लाइब्रेरी में बहुत विलम्ब तक पुस्तकों का अध्ययन कर जब दोनों प्राध्यापक लौटे तो देखा कि बाजार बंद हो गया है। कोई खाने की दुकान भी खुली नहीं मिली। अन्त में उसी होटल के पास पहुंचे जहां प्रतिदिन का चाय-पान करते थे। होटल का द्वार ढका हुआ था। मालिक ने कहा—होटल बंद हो चुका है। ऑक्सफोर्ड वाले प्रोफेसर ने झांक कर देखा तो भीतर अन्दर के चूल्हे में रोटियां बन रही थी। उसने रोटियों की ओर संकेत करते हुए कहा—रोटियां तो बन रही हैं। मालिक उन्हें भीतर ले गया और आदरपूर्वक स्वयं दो थाली में भोजन परोसकर लाया। उन्हें उस दिन भोजन से बड़ी तृप्ति हुई। वे विस्मय में थे कि जो मालिक स्वयं गद्दी पर बैठे हुए नौकरों से काम कराता था वह आज स्वयं अपने हाथ से इतनी सेवा क्यों कर रहा है। भोजन के उपरान्त जब ऑक्सफोर्ड वाले प्रोफेसर ने पूछा कि बिल कितना हुआ तो मालिक ने हाथ जोड़कर कहा, हमें लज्जित मत करो। हमारा होटल बंद हो चुका है। यह भोजन आपको अतिथि के रूप में कराया है। पैसे का नाम लेकर हमारे अतिथि धर्म को कलंकित मत कीजिये। प्रोफेसर ने बहुत कहा कि दुकान यही है। यहीं पर हम दोनों जलपान लेते हैं। पर मालिक ने कहा कि दुकान की अपनी मर्यादा है। दुकान बंद हो चुकी है। यह भोजन दुकान के लिए नहीं हमारे निजी प्रयोग के लिए बन रहा था। इसका पैसा लेने पर हमारा धर्म नष्ट हो जाएगा। इस दृश्य से उस प्रोफेसर की आंखें श्रद्धा से गीली हो गई। और उसने कहा This is wonderful India. इंग्लैण्ड में होटल में भोजन करने पर सगे भाई से भी चार्ज किया जाता है, किन्तु भारत में नितान्त अपरिचित व्यक्ति को निष्काम भाव से भोजन कराना अतिथि धर्म माना जाता है। उस दिन उसे समझ आया कि भारत की निर्धनता के फटे चिथड़ों के नीचे भी भारत की दिव्य आत्मा छिपी हुई है।

(5) **भूतयज्ञ—**मनुष्य से इतर अन्य प्राणियों की सेवा के लिए धन और धान्य का कुछ अंश निकालना भूतयज्ञ कहलाता है। गऊ को ग्रास देना, चींटियों को

आटा देना, पक्षियों को दाना डालना, पशुओं के पीने के लिए पानी की व्यवस्था करना, मछलियों को आटे की गोलियां डालना, पशु-पक्षियों की रक्षा, गोशाला, अश्वशाला बनवाना, उनमें रोगों के निवारण हेतु औषधालय, पशु चिकित्सालय, पक्षी चिकित्सालय चलाना आदि भूतयज्ञ के पवित्र कर्म हैं।

इस प्रकार पंच महायज्ञ के पालन से धन और धान्य की कमाई में जो दोष अदृश्य रूप से हमारे न चाहते हुए भी आ जाते हैं उनका प्रायश्चित्त हो जाता है। धन-धान्य शुद्ध हो जाता है तथा प्रयोग करने वाले व्यक्ति को कोई दोष ग्रस्त नहीं करते। पंच महायज्ञ जैसा विधान अन्य किसी धर्म संस्कृति में नहीं है। हां, बाइबिल और कुरान में दान की महिमा अवश्य है।

लेन-देन दोनों में ईमानदारी अर्थशुचिता का बहुत बड़ा लक्षण है। अतः अर्थशुचि- व्यक्ति इस विषय में बड़ा जागरूक रहता है। उधार लेने वाले व्यक्ति को स्वयं चिन्ता करके उधार वापस चुकाने के लिए तत्परता दिखानी चाहिए अन्यथा जब तक उधार बना रहेगा तब तक वह अवांछित अर्थ उधार से दबा रहेगा। उधार देने वाले व्यक्ति को बार-बार मांगने और तकाजा करने से जो कष्ट-क्लेश होता है उससे उसकी सद्भावना को भी ठेस लगती है, समाज में हमारी प्रतिष्ठा भी गिरती है तथा उसके अन्तर्मन के दुर्भाव व शाप हमारे मन पर अदृश्य रूप से अवश्य प्रभाव डालते हैं। मानव मन एक बहुत शक्तिशाली प्रसारण केन्द्र है।

भौतिक ऊर्जा से चलने वाले यंत्र अदृश्य ध्वनि तरंगों के द्वारा सम्वादों को एक स्थान से प्रसारित कर सारे संसार में विकीर्ण कर देते हैं। रेडियो द्वारा होने वाला प्रसारण, वायरलेस द्वारा प्रसारण, टेलीफोन द्वारा प्रेषण सब भौतिक ऊर्जा के खेल हैं। मानसिक ऊर्जा इससे बहुत अधिक शक्तिशाली है। मन की गति ध्वनि तरंगों या विद्युत् तरंगों से बहुत अधिक है। रॉकेट को चन्द्रमा पर पहुंचने में समय लगता है किन्तु मन क्षण मात्र में वहां पहुंच जाता है। मानसिक ऊर्जा के प्रेषण और प्रसारण से ही योग एवं परामनोविज्ञान में चमत्कार हो रहे हैं। अतः जब तक हम दूसरों से लिया हुआ ऋण स्वतः नहीं चुका देते तब तक उसके मन से निकलने वाली अवांछनीय दुर्भाव तरंगें हमारे मन को प्रभावित करती रहती है। फिर विलम्बित होने से ऋण की स्मृति दाता या गृहीता के मन में धुंधली पड़ती जाती है जिससे अर्थ की अशुचिता स्थायी बन सकती है। किसी के बार-बार मांगने के पश्चात् या लज्जित करने के पश्चात् प्रतिष्ठा हानि होने पर या पंचायत न्यायालय में मामला दर्ज होने पर मजबूर होकर ऋण चुकाना अर्थशुचिता का लक्षण नहीं है।

भारतीय संस्कृति में अर्थ शब्द धन-धान्य के अतिरिक्त सारे अर्थ व्यापार एवं राज्यकरण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इसलिए आचार्य चाणक्य ने अपने

राजनीति के महान् ग्रंथ को अर्थशास्त्र नाम दिया है। जैसे व्यक्तिगत धन का स्वामी धनाढ्य सेठ, जागीरदार कहलाता है उसी प्रकार किसी बड़े क्षेत्र में पूरे राज्य के धन का स्वामी राजा कहलाता है। सेठ-साहूकार को धन का मद हो जाता है तो राजा को राज का मद। जैसे व्यक्ति धनमद में अंधा होकर अन्य जनों पर अत्याचार करने लगता है उसी प्रकार राजा राजमद में अंधा होकर प्रजाजनों पर अत्याचार तथा पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करने लगता है, जिस प्रकार अन्यों के धन से लुब्ध होकर लुटेरे (आक्रान्ता) उन पर आक्रमण करते हैं। धनवान अपने सेवकों पर शासन करता है। राजा अपने राज कर्मचारियों पर शासन करता है। अर्थ का ही व्यापकरूप राज्य है तथा राज्यकरण और राजनीति की सारी गतिविधि अर्थ-रूपी पुरुषार्थ के अन्तर्गत आ जाती है।

भगवान् राम और रामराज्य दोनों के प्रशंसक गांधी राजनीति में पवित्रता एवं सदाचार के पक्षधर थे। आजकल राजनीतिज्ञ कहने लगे हैं Everything is fair in love & war. गांधीजी का मत था Only fair is fair everywhere. अर्थात् केवल उचित ही सर्वत्र उचित है।

भगवान् राम न लंका के स्वर्ण भण्डार पर लुब्ध हुए और न वहां के साम्राज्य वैभव पर। यह है अर्थशुचिता का आदर्श—

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।

विभीषण के राजतिलक के समय विभीषण के बहुत आग्रह करने पर भी भगवान् राम लंका नगरी में जाकर उसका राजतिलक करने के लिए इसलिए तैयार नहीं हुए क्योंकि उन्होंने चौदह वर्ष वन में रहकर किसी नगर में न जाने का प्रण लिया था। स्वयं वनवासी रहकर भी शरणागत को सोने की लंका का दान अर्थशुचिता का महान् आदर्श है।

भीष्म द्वारा पिता की प्रीति के लिए राजपद का परित्याग, भगवान् कृष्ण द्वारा बड़े-बड़े साम्राज्यों के संस्थापक होते हुए भी शुद्ध धर्म की भावना से सज्जनों का रक्षण एवं दुष्टों का नाश करना। स्वयं अपने लिए राज्यतिलक स्वीकार न करना, निष्काम कर्मयोग एवं निर्लोभता-अर्थशुचिता के महान् आदर्श हैं। शिवाजी के कुल-पुरोहित दादाजी कोणदेव के मन में एक बार शाहजी के मकान में एक आम तोड़ने की इच्छा पैदा हुई। किन्तु बिना स्वामी की अनुमति के आम तोड़ने की चेष्टा करने वाले हाथ को दण्ड देने हेतु तलवार से हाथ काटने लगे। अचानक शाहजी ने उन्हें आदरपूर्वक रोक दिया। किन्तु अपने मन की इस असावधानी का प्रायश्चित्त करने के लिए उन्होंने जीवनभर अपनी एक भुजा को चोगे की आस्तीन में रखा। लोगों के पूछने पर वह उस हाथ के अपराध की घटना सुनाते थे।

भारतीय शिक्षा एवं संस्कृति के अमर चित्रों में ब्रह्मज्ञान के अमर जिज्ञासु बालक नचिकेता का चरित्र बड़ा प्रेरणादायी है। ब्रह्मज्ञान के स्थान पर जब यमराज ने नचिकेता को बहुत लम्बी आयु, स्वर्ग के दिव्य भोग, नृत्य, गीत, वाहन एवं बड़े से बड़ा वैभव देने का प्रलोभन दिया तो वह आत्मज्ञान का अलौकिक जिज्ञासु उत्तर देता है—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।

अर्थात् सच्चा मानव पैसे से, धन-वैभव से तृप्त नहीं हो सकता।

महापुरुषों ने अर्थशुचिता को सबसे बड़ी शुचिता और सबसे बड़ा धन मानकर इसकी प्रतिष्ठा की है। एक बार वर्धा आश्रम में एक विदेशी महिला ने श्रीमती कस्तूरबा गांधी के चरणों में पांच रुपए का नोट रख दिया। कस्तूरबा ने यह नोट उठाकर ताक में रख दिया ताकि बाद में आश्रम के खाते में जमा किया जा सके। तीन दिन तक वह नोट वहीं पड़ा रहा और आश्रम के खाते में जमा नहीं हो सका। सम्भवतः कस्तूरबा इस बारे में भूल गई थी। जब गांधीजी को यह सूचना मिली तो उन्होंने प्रायश्चित्त के रूप में कस्तूरबा को एक वर्ष के लिए आश्रम से निकाल दिया।

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन प्रतिवर्ष के अन्त में रेल विभाग को 50-100 रुपया मनीआर्डर द्वारा ये लिखकर भेजते थे कि मेरे द्वारा असावधानी से रेलवे का टिकट भाड़ा देने में कहीं कोई भूल रह गई हो तो उसकी क्षतिपूर्ति के लिए यह राशि स्वीकार की जाए।

स्विट्जरलैण्ड में एक बच्चा शाम को एक साहब से माचिस की डिबिया खरीदने का आग्रह कर रहा था। साहब ने अपनी जेब का लाइटर दिखाकर कहा कि मुझे दियासलाई की आवश्यकता नहीं है। बच्चे ने आंखों में आंसूभर आग्रह किया—हम गरीब, अनाथ बच्चे हैं। हम दोनों भाई दिनभर मेहनत कर माचिस की डिबिया बनाते हैं और इन्हीं की आय से भोजन करते हैं। कृपया हम पर दया कर एक डिबिया खरीद लीजिए। साहब ने एक डिबिया लेकर एक डालर का नोट दिया और डिबिया का मूल्य काट कर शेष को लौटाने के लिए कहा। बच्चा नोट तुड़वाने के लिए बाजार की ओर दौड़ कर गया। आध घण्टा भर प्रतीक्षा करने के बाद साहब निराश होकर घर लौट आया। उसे लगा कि बच्चा पैसा लेकर भाग गया है। दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय से कुछ पूर्व ही साहब के घर की घण्टी बजी। साहब को बिस्तर से उठने में आलस्य हो रहा था। बार-बार घण्टी बजने पर उसने ऊपर के छज्जे से नीचे झांक कर देखा तो एक बच्चा जो लगभग 5-6 वर्ष का था, दरवाजे की देहली पर पंजों के बल एड़ी उठाकर खड़ा बिजली की घण्टी बजाने का

प्रयास कर रहा था। साहब ने उसे झिड़क कर हट जाने को कहा किन्तु बच्चे ने बड़े कातर स्वर में साहब से एक क्षण नीचे आने की प्रार्थना की। साहब बड़े अचम्भे में था। यह बालक पिछले दिन वाले बालक से कुछ छोटा था। साहब ने टालने की कोशिश की किन्तु बच्चे के हृदयस्पर्शी आग्रह पर वह अन्यमनस्क भाव से नीचे आया। बच्चे ने उसके हाथ पर 95 सेंट रखते हुए कहा, आपने जो कल माचिस की डिबिया खरीदी थी यह उसका बाकी पैसा है। साहब ने अचम्भे से कहा, वह माचिस बेचने वाला बच्चा दूसरा था। इस छोटे बच्चे ने अश्रु विगलित-वाणी में कहा—हां, वह मेरा बड़ा भाई था। वह डालर का नोट तुड़वाने के लिए जब सड़क पार कर रहा था तो एक ट्रक के नीचे कुचल कर मर गया। किन्तु अन्तिम श्वास से पहले उसने मुझे कहा कि साहब की कोठी पर 95 सेंट अवश्य पहुंचा देना। यह सुनते ही साहब की आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। वह छोटे बच्चे के साथ उसके घर तक गया। मृतक बालक का समुचित संस्कार किया और उस बच्चे को पुत्र रूप में गोद ले लिया। उसने ईमानदार मृतक बालक का चित्र छपवाकर सब विद्यालयों में बांटा और लिखा कि जब तक हमारे देश में ऐसे अर्थशुचि-बालक होंगे तब तक हमारे देश को संसार की कोई शक्ति कभी पराधीन नहीं बना सकती।

रांची के एक पोस्टमास्टर श्री चौधरी कुछ वर्ष पूर्व प्रधान डाकघर में प्रधान लेखालिपिक थे। स्टेट बैंक से 10,000 रुपया मंगवाया गया किन्तु वहां के खजांची ने चेक पर 1,00,000 रुपया समझ कर उतनी राशि दे दी। संध्या को रोकड़ मिलाते समय श्री चौधरी ने प्रधान डाकघर के डाकपाल को बताया कि मेरे नकदी रोकड़ में नब्बे हजार रुपया अधिक है। डाकपाल श्री मुखर्जी ने इस पर विश्वास नहीं किया। श्री चौधरी अपनी रोकड़ में 90 हजार अधिक दिखाकर हस्ताक्षर करके घर चला गया। आधी रात को श्री मुखर्जी ने हिन्दपीढ़ी स्थित श्री चौधरी के घर पहुंच कर उसे जगा कर कहा कि 90 हजार वास्तव में अधिक आ गया है। आओ, हम दोनों मिलकर आधा-आधा बांट लें। श्री चौधरी ने प्रात:काल बात करने का बहाना कर उस बातचीत को टाल दिया और दूसरे दिन दफ्तर पहुंचने से पहले ही स्टेट बैंक फोन कर दिया कि उनके यहां से भूल से 90 हजार रु. अधिक आ गया है। स्टेट बैंक वाले पहले से ही चिंतित थे। उन्होंने कहा कि उन्होंने पांच-छ बार डाकपाल को फोन कर पूछा था और हर बार यही उत्तर दिया गया कि उनके पास एक पाई भी अधिक नहीं आई। इस पर श्री चौधरी ने कहा कि लेखापाल मैं हूं वे नहीं। अत: जो मैं कहता हूं वही ठीक है। आप 90 हजार रु. जो भूल से अधिक आ गया है, वापस ले जावें। जीप में स्टेट बैंक के अफसरों के आने पर उन्हें 90 हजार रु. लौटा दिया गया। इसे अपनी झूठी प्रतिष्ठा क्षति मानकर श्री मुखर्जी ने श्री चौधरी पर अनुशासनहीनता

के झूठे आरोप लगाकर उन्हें निलम्बित करवा दिया। श्री चौधरी ने पटना स्थित राज्य के सबसे बड़े अधिकारी को पत्र लिखकर रांची बुलवाया और सारी स्थिति साफ-साफ बताई। इससे श्री मुखर्जी को डाक विभाग से तुरन्त कार्यमुक्त कर दिया गया। श्री चौधरी को 30 हजार रु. पुरस्कार देने का प्रयास किया गया जो उन्होंने अस्वीकार कर दिया और अन्त में डाक तार विभाग की पत्रिका में उनका चित्र एवं विवरण ससम्मान छपा। अर्थशुचिता एक महान् सद्गुण है जिसके बिना व्यक्ति बेईमान हो जाता है। परिवारों में कलह प्रारम्भ हो जाती है। संस्थायें उजड़ जाती हैं और बड़े-बड़े राज्यों एवं साम्राज्यों के भवन खोखले होकर धराशायी हो जाते हैं।

अर्थ की ममता से मुक्त होने की सबसे प्रभावी युक्ति यह है कि हम अर्थ के अर्थ पर विचार करें। अर्थ का सीधा सादा अर्थ है प्रयोजन, उद्देश्य, हित, उद्दिष्ट आदि। भाषा में भी जब हम कोई शब्द बोलते या लिखते हैं तब भी उसका कुछ उद्देश्य (अर्थ) होता है। उसी प्रकार धन अथवा धान्य का संग्रह किया जाता है ताकि वह किसी अर्थ (प्रयोजन) में काम आ सके। जिस शब्द का कोई अर्थ ही नहीं है वह शब्द निरर्थक है और उसको बोलने वाला भी पागल है। इसी प्रकार जो अर्थ किसी अर्थ (महान् उद्देश्य, देशार्थ, धर्मार्थ) में न लग सके वह अर्थ व्यर्थ है और उसका संग्रह करने वाला भी पागल है। अकारण परिश्रम, निरुद्देश्य भटकना, निरर्थक धन-धान्य संग्रह के लिए जीवनभर जोखिम उठाना पागलपन ही कहलायेगा। इस विषय में हमारा स्व रचित सूत्र है—

धर्मविहीनं अर्थमनर्थम्
यज्ञविहीनं अर्थं व्यर्थम्।

अर्थात् जो अर्थ अधर्म से कमाया जाए वह अनर्थकारी है और जो अर्थ किसी के कल्याण में नहीं लगे वह व्यर्थ है। डाकू एवं भ्रष्टाचारी का पैसा अनर्थ है और कंजूस का धन व्यर्थ है। अर्थ को न अनर्थ होना चाहिए और न व्यर्थ। सच्चे अर्थों में अर्थ होने के लिए सार्थक होना चाहिए।

अर्थ अपने आप में स्वतः कोई मूल्य नहीं है। वह परतः मूल्य है। अर्थात् उसका मूल्य उसके अपने ऊपर निर्भर नहीं करता वरन् उसका मूल्य देश-काल, पात्र-परिस्थिति, उद्देश्य और सदुपयोग पर निर्भर करता है। यदि कोई सोने का बड़ा भार लेकर हिमालय पर्वत के हिमाच्छादित शिखर पर पहुंच जाए और सोने का सारा भण्डार देकर एक पानी का गिलास मांगे तो सम्भवतः तुरन्त सुलभ न हो। एक बार अकबर ने बीरबल से प्रश्न पूछा कि मेरे पूरे राज्य का मूल्य क्या है? मोल क्या है? बीरबल ने कहा, यदि सुनसान जंगल में बादशाह पानी के लिए तड़प रहे हों तो पानी के गिलास के लिए वह बड़े से बड़ा कितना मूल्य दे सकते हैं। अकबर ने कहा, आधा राज्य तक। तब बीरबल ने पुनः प्रश्न किया कि यदि पीया

हुआ पानी शरीर में अटक जाए और लघुशंका के रूप में बाहर न निकले तो उसे निकालने के लिए बड़े से बड़ा कितना मोल दे सकते हो। इस पर अकबर ने पुनः कहा, शेष का आधा राज्य। बीरबल ने कहा, आपके राज्य की कीमत एक पानी के गिलास से कम ही है।

पात्र बदलने से भी धन-धान्य का मूल्य बदल जाता है। मनुष्य के लिए जो धन सर्वाधिक आकर्षक है उस धन-वैभव से भरे हुए साम्राज्य को ठोकर मारकर सिद्धार्थ सत्य की खोज के लिए निकलता है। जिस शराब के लाखों रुपये के भण्डार के सामने एक बोतल के लिए शराबी बहुत लालायित होकर, अपने कपड़े फड़वाकर ब्लैक मार्केट में प्राप्त करने के लिए पागल-सा हुआ रहता है उस पूरे भण्डार को बिना मूल्य मिल जाने पर भी कोई सदाचारी साधक एक ठोकर में नाली में फेंक देने के लिए प्रस्तुत रहता है। जो धन बैंक में बंद पड़ा है और किसी के प्राणों पर संकट आने पर उपलब्ध नहीं हो सकता तो उस धन का क्या मूल्य है? अर्थ की सार्थकता किसी सद्उद्देश्य के लिए उसके सदुपयोग में ही है।

जो विषया संतन तजी, नर तासों लपटाय।
जैसे त्यागे वमन को, श्वान स्वाद सों खाय।।

बहुत से लोग अर्थशुचिता का आधा अंश ईमानदारी की कमाई को लेकर ही संतुष्ट हो जाते हैं किन्तु यह तो अर्थ का एक एकांगी पक्ष ही है। अर्थ का दूसरा समान रूप से महत्त्वपूर्ण अंग है उसका समुचित सदुपयोग। एक सेठ लाला तनसुखराम ईमानदारी से व्यवसाय करके करोड़पति बन गए थे वह दूसरे का धन दबाते नहीं थे। अमानत में खयानत नहीं करते थे। शाकाहारी भोजन करते थे और पानी को छानकर पीते थे। मरने पर यमदूतों ने यमराज से पूछा कि उन्हें कहां भेजा जाए? यमराज ने आदेश दिया कि उन्हें कुम्भीपाक नरक में डाला जाए। तनसुखराम ने विस्मित होकर पूछा, क्या धर्मपरायणता का यही फल है? यमराज ने कहा, तुम पर बाल हत्या का आरोप है। पांच नर हत्या, दस गो हत्या और दस नवयुवकों का जीवन भ्रष्ट करने का अपराध है। तनसुखराम ने चीत्कार करते हुए कहा कि यह बिल्कुल झूठ है। मैंने किसी चींटी तक को कष्ट नहीं पहुंचाया। पानी को छानकर पीता रहा। न किसी की जेब काटी न गला काटा फिर मैं किसी की हत्या, हिंसा कैसे कर सकता हूं। तुम्हारे यमलोक के रिकार्ड झूठे हैं। इस पर यमराज ने स्मरण दिलाया कि तुम्हारे पड़ोस में कुछ दूर पर एक वनवासी की झोंपड़ी थी। उसका छोटा बच्चा मीआदी बुखार से पीड़ित था। निर्धन वनवासी के पास न डॉक्टर को बुलाने के लिए कार थी, न डॉक्टर की फीस के पैसे, न ही औषधि के पैसे। तुम्हारे पास कार और पैसे सभी थे किन्तु तुमने उस बच्चे की जान बचाने के लिए कुछ सहायता नहीं की और वह बच्चा मर गया। तुम्हारे पास जो करोड़ों रुपया है क्या

उसमें से एक पाई भी लेकर संसार में गए थे और लौटती बार भी क्या छदाम साथ लेकर जाओगे। प्रभु के धन से प्रभु के जीवों की रक्षा न कर उसे अपना कहकर मोह-ममता से तिजोरियों या बैंकों में पड़ा रहने देना व्यर्थ है। इसी प्रकार बिहार में सूखा पड़ने पर 50 व्यक्ति भुखमरी से मर गए, तुम्हारे पास करोड़ों रुपये प्रभु की अमानत के रूप में पड़ा था। समय पर उसका समुचित सदुपयोग करते तो मानव जीवन बच सकता था। इसी प्रकार सूखे के समय दस गाय चारे के बिना तड़प कर मर गई। उन्हें चारा डालने में समर्थ होते हुए भी तुमने ममतावश धन को दबाए रखा। दस नवयुवकों ने मैट्रिक पास करने के पश्चात् कालेज में पढ़ने हेतु तुमसे कालेज में पुस्तकों की सहायता तथा फीस की सहायता के लिए प्रार्थना की किन्तु तुमने उन्हें डांटकर सहायता से इनकार कर दिया। करोड़ों रुपया कोष में होते हुए तुमने उसका उचित सदुपयोग नहीं किया। नवयुवक आगे न पढ़कर नक्सलपंथियों के चंगुल में फंस गए और उन्होंने जादूगोड़ा की यूरेनियम खदान पर आक्रमण किया। इस तरह उन नवयुवकों का जीवन बर्बाद हुआ तथा समाज की महान् क्षति हुई। अतः धन के उपार्जन की पवित्रता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है धन का विश्व कल्याणार्थ सदुपयोग। तनसुखराम का धन ईमानदारी की कमाई होने कारण अनर्थ तो नहीं था किन्तु व्यर्थ अवश्य था। तनसुखराम को स्वयं बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था कि जिस धन को न वह अपने साथ संसार में लेकर गया था, न अपने लिए प्रयोग कर सका, न दूसरों के लिए सदुपयोग कर सका और न ही अपने साथ वापस ला सका। उस धन का विश्व कल्याण के लिए विनियोग क्यों नहीं कर सका। धर्म से उपार्जित अर्थ का भी यदि धर्मार्थ या यज्ञार्थ सदुपयोग न हो तो भी अर्थ व्यर्थ हो जाता है। अर्थ को अनर्थकारी ढंग से लूटना, ठगना, चुराना यदि पाप है तो अर्थ को व्यर्थ नष्ट कर देना तथा जीवों को उसके कल्याणकारी सदुपयोग से वंचित कर दुःख, यातना या मृत्यु-मुख में धकेल देना भी बड़ा पाप है। अनर्थ तो बुरा है ही किन्तु व्यर्थ अर्थ भी कंजूसी के कारण, लापरवाही के कारण, विलास के कारण अनेक अनर्थों का कारण बन जाता है।

कृपण शब्द के तीन अर्थ निकलते हैं—

(1) दयनीय, कृपा के योग्य, तरस खाने योग्य। जिसकी स्थिति या कृति देखकर मनुष्य को अफसोस हो कि हाय! ये क्या कर रहा है। उचित कर्तव्य से जी चुराने वाला कृपण कहा जाता है। गीता में अर्जुन भगवान् से निवेदन करता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। 2/7, गीता

अर्जुन कहता है कि कार्पण्य के दोष से क्षात्र स्वभाव दब गया है और मैं वास्तविक कर्तव्य (धर्म) के विषय में मोहितचित्त होकर आपसे पूछ रहा हूं कि मेरा जिसमें अधिक बड़ा कल्याण हो वह मार्ग मुझे बता दीजिये। मैं आपका शरणागत शिष्य हूं, मुझे उचित शिक्षा देवें। यहां कार्पण्य का अर्थ कर्तव्य से मुँह मोड़ने के कारण दयनीय (दया या कृपा के योग्य स्थिति) है। अर्जुन जैसे संसार के शिरोमणि वीर का महायुद्ध के सर्वोपरि श्रेष्ठ सेनाध्यक्ष के रूप में खड़े होने, संसार भर के राजाओं एवं योद्धाओं को अपने धर्मयुद्ध में सहयोग के लिए आमंत्रित कर युद्ध भूमि में शस्त्र सज्जितकर उपस्थित कर लेने के पश्चात् उसका स्वयं गांडीव फेंककर कांपने तथा अश्रुपात करने लगना सचमुच में बड़ी दयनीय स्थिति है।

(2) कार्पण्य का दूसरा प्रचलित अर्थ है—कंजूस। वास्तव में कंजूस भी कर्तव्यच्युति के कारण तन का सहयोग, मन का सहयोग और धन का सहयोग करने से जी-चुराता है। तन का कंजूस आलसी है या कायर है। मन का कंजूस क्षुद्र भाव वाला है। वह स्वार्थी, लोभी या ईर्ष्यालु, धनकृपण, धन या धान्य को ही माई-बाप समझ बैठता है। तो धन के लिए दीन-धर्म, ईमान, मित्र, बंधु, मां-बाप सभी को ठुकरा सकता है। उसके पास धन रहते हुए भी उसके बच्चे कष्ट पाते हैं, बूढ़े माता-पिता बुढ़ापे की तकलीफों से एवं रोगों में सिसकते रहते हैं। पड़ोसी एवं परिचित संकटों में पड़कर बिना मौत मर जाते हैं किन्तु कृपण अपने धन को हवा भी नहीं लगने देता।

(3) कृपण का तीसरा अर्थ कमीना, क्षुद्र, कुत्सितभाव वाला है। वास्तव में मन का कृपण (स्वार्थी, लोभी, ईर्ष्यालु, अनुदार) कमीना होता ही है इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं—

कृपणाः फलहेतवः।

अर्थात् जो फल के लोभ से कर्तव्य कर्म करते हैं वे कृपण (कमीने) ही हैं। तन के कृपण, मन के कृपण या धन के कृपण तीनों पर धिक्कार मिश्रित दया आती है क्योंकि वे साधन होते हुए भी साधनों का उचित सदुपयोग न करके अपना और दूसरों का दोहरा अहित कर रहे हैं। दूसरों की स्वास्थ्यहानि, विकासहानि, धनहानि या प्राणहानि तो होती ही है, किन्तु कृपण की इहलोक में प्रतिष्ठाहानि होकर समाज के धिक्कार, तिरस्कार के साथ आत्मविकास की हानि होती है तथा परलोक में परिवारजनों एवं समाज बंधुओं के प्रति उपेक्षा एवं कर्तव्यच्युति के पापों का दण्ड भोगना पड़ता है।

अर्थ को व्यर्थ करने वाले दो प्रकार के लोग हैं—(1) कृपण—धन को अतिशय लोभ के कारण प्रयोग ही नहीं करता (2) विलासी—अपने भोग-

विलास में फिजूलखर्ची कर धन को व्यर्थ गंवा देता है। धन को समाज की उपेक्षा कर व्यर्थ जमा रखना अथवा धन को यज्ञार्थ न देना (समाज कल्याणार्थ सदुपयोग न करते हुए स्वार्थ भोग के लिए व्यर्थ लुटा देना दोनों सामाजिक अपराध हैं)। इस प्रकार अर्थ को व्यर्थ गंवाने वाला कृपण या विलासी दोनों अपना लोक-परलोक बिगाड़ लेते हैं।

अमेरीका के नार्थ करुलाइना विश्वविद्यालय के अन्तर्गत वेस्टर्न करुलाइना कालेज है। वहां के निकट Smoking mountains (धूम्राच्छादित पर्वतमाला) है। उन्हीं सुन्दर हरी-भरी पहाड़ियों में एक बहुत उच्चकोटि का पब्लिक स्कूल है। वहां की एक कक्षा में मैंने ममता पर एक मनोविज्ञान का प्रयोग किया। कक्षा के पचास विद्यार्थियों के लिए 50 छोटे प्लास्टिक बक्स उपहार स्वरूप दिए गए। उन बक्सों में पाकेटबुक, पेन्सिल, रबर, लेमनचूस, चाकलेट, रूमाल आदि छोटी-छोटी वस्तुएं थी। जो बच्चों को प्रिय लगती हैं। बच्चे उपहार प्राप्तकर बहुत प्रसन्न हुए तथा दिनभर अपने अन्य कक्षाओं के साथी-मित्रों को वे उपहार दिखाकर उपहारों की तथा उपहार देने वाले व्यक्ति की प्रशंसा करते रहे। दोपहर बाद अन्तिम घंटी में जब पुनः उसी कक्षा में गया तो सब बच्चों ने आनन्दोल्लास के साथ करतल ध्वनि करके मेरा स्वागत किया। अब मैंने अपील की कि निकट दो-तीन मील की दूरी पर एक नीग्रो बच्चों का विद्यालय है। वे निर्धन हैं तथा कापी, पेन्सिल, डायरी, रबर, लेमनचूस आदि खरीदने में असमर्थ हैं अतः जो बच्चे अपने प्राप्त किए हुए उपहारों में से कुछ सामग्री उनके लिए सहायतार्थ दे सकें तो वे खड़े होकर अपना नाम लिखा दें। इस पर पूरी कक्षा में सन्नाटा छा गया। बच्चों को प्राप्त किए हुए उपहारों में ममता पैदा हो चुकी थी। वे एक-दूसरे का मुख ताकने लगे। यदि जॉन दे तो जेन दे, यदि विलियम दे तो राबर्ट दे, यदि स्टूअर्ट दे तो सेवर्स दे, सभी एक-दूसरे का मुंह ताक रहे थे। तीसरी बार (अंतिम बार) कहने के उपरान्त 3 बच्चों ने टॉफी, रबर, पेन्सिल दान में लिखवाई।

अन्त में मैंने सभी बच्चों को आदेश दिया कि वे अपने सामान के डिब्बे हाथ में उठाकर एक पंक्ति में बंधकर मंच तक चले आवें तथा अपना-अपना बक्स मेज पर रखते जावें। इससे सब बच्चों को बड़ा अचम्भा हुआ। कुछ बोले, श्रीमान्! आपने ये बक्स हमें उपहार स्वरूप दिए थे। अब इन्हें वापस क्यों मांग रहे हैं। मैंने बताया कि यह सब तुम्हारी उदारता की भावना की परीक्षा के लिए एक प्रयोग किया गया था। बच्चे एवं बच्चियां पछताते हुए आकर टेबल पर अपने बक्से जमा कर रहे थे। एक बच्चे ने कहा यदि हमें पता होता कि हमारी उदारता की परीक्षा ली जा रही है तब हम सारा सामान दान कर देते। एक बच्ची ने रोते हुए कहा कि न

ये सामान हम घर से लाए थे, न दूसरों के भले के लिए दे सके, न अपने पास ही बचा सके और कमीने मुफ्त में बन गए।

यही स्थिति प्रत्येक मानव की है। न वह धन-धान्य अपने साथ लाया, न साथ वापस ले जा सकता है, जिस प्रभु ने सब दिया है उसके आदेश पर भी प्रभु के जीवों के कल्याण के लिए देता भी नहीं है और सब कुछ छिन जाता है। न कुछ भला किया न कुछ बचाया, कमीना मुफ्त में बन कर पछताया।

स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है—

The law of nature is to give, give and give. If you don't give, nature gives you a warning. If you dont hear, nature gives you a stronger warning—give. If you still don't hear the pistol of nature goes and everthing is left here.

कालरूपी डाकू जीवन की पगडंडी पर ताक में खड़ा है। वह उस घाटी से पार किसी को कुछ भी ले जाने नहीं देता। वह सब कुछ छीन लेगा। अतः उसके छीनने से पहले ही धन-धान्य को विश्वकल्याण के लिए सदुपयोग कर लेने में ही बुद्धिमत्ता है। उसी में धन की सार्थकता भी है। अन्यथा समाज दुःखी रह जाएगा, धन व्यर्थ हो जाएगा। हम मुफ्त में कमीने (कृपण) बन जाएंगे और जीवन का सारा परिश्रम निरर्थक हो जाएगा। अर्थ उपार्जन हेतु की हुई सारी तपस्या तथा उठाया हुआ सारा जोखिम निष्फल हो जाएगा। यह जीवन का सबसे बड़ा दुःखांत नाटक बन जाएगा।

धन का एक अर्थ है जमा या जोड़ या योग। यदि सोना, चांदी, पैसा, सम्पत्ति आदि जमा की जाए तो वह भी धन है। किन्तु वह व्यावहारिक जगत् का ही धन है, पारमार्थिक जगत् का नहीं। जगत् में धनसंग्रह करने वाले व्यक्ति को धन्य भाग्यवाला माना जाता है। किन्तु पारमार्थिक जगत् में सोना, चांदी आदि पदार्थ जमा न रहकर छिन जाते हैं। अतः वहां ऐसे धन को सच्चा धन कहा जाता है जो सचमुच सदा जमा रहे।

कबीरा सब जग निर्धना धनवंता नहि कोय।
धनवंता है सोइ नर जिह राम नाम धन होय।।

इस राम नाम के धन को न संसार का कोई चुरा सकता है ना कालरूपी डाकू ही इसे छीन सकता है। यह धन सच्चे अर्थ में सदा धन (जमा) ही रहता है। मीराबाई गाती है—

पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सत् गुरु,
किरपा कर अपनायो।

रहीम ने लोभ एवं ममता पर विजय पाने के लिए संतोष को भी एक महान् धन माना है—

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान।।

अर्थ का एक नाम द्रव्य भी है, जिसका अर्थ है सदा बहने वाला। इसलिए धन को कंजूस के समान एक स्थान पर बांध कर नहीं रखना चाहिए। जैसे बहते हुए जल में निर्मलता बनी रहती है और बंधा हुआ जल गंदगी और सड़ांध से भर जाता है, उसी प्रकार बहता हुआ द्रव्य विकाररहित रहता है और कंजूस की तिजोरी में बंद या लोभी के मन में कैद पड़ा हुआ धन अनेक विकार पैदा कर देता है। जैसे जल के उचित दिशा में बहने से कल्याण होता है और बाढ़ और सूखा दोनों अवांछनीय है, उसी प्रकार धन की कंजूसी और फिजूलखर्ची दोनों को रोककर उसे विचारपूर्वक सदुपयोग में लगाना चाहिए। कविवर रहीम ने कहा है—

ज्यों जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सज्जन को काम।।

जिस प्रकार नौका में जल बढ़ जाने पर दोनों हाथ से उलीच कर बाहर फेंकना अनिवार्य होता है अन्यथा नौका डूब जाएगी। उसी प्रकार घर में धन बढ़ जाने पर दोनों हाथ से उसे दान करना चाहिए अन्यथा धन के अंधे वेग में घर के ही डूब जाने की आशंका हो जाती है।

दैनिक संध्या के मंत्रों में हम प्रतिदिन बोलते हैं ओम् करतल करपृष्ठे। करतल हाथ की तली है जो लेने की स्थिति है और करपृष्ठ हाथ की पीठ है जो देने की स्थिति है। इसका एक भाव यह है कि हमारे लेने और देने में ओंकार परमेश्वर साक्षी है। वही हमारे लेने और देने में प्रतिष्ठित है। अत: हमें किसी की अमानत में खयानत कभी नहीं करनी चाहिए। मानव के साथ लेन-देन का धोखा वास्तव में परमेश्वर से ही धोखा है।

इस मंत्र का दूसरा अर्थ यह है कि हम ईश्वर की सौगन्ध से कहते हैं कि हमारा लेना हमारे देने के लिए ही होगा। भगवान् की कृपा से जो आएगा उसे भगवान् के लिए ही भगवान् के प्रति, धर्मार्थ भावना से समर्पित कर दिया जाएगा। जो कुछ करतल में आया वह करपृष्ठ द्वारा दे दिया गया। इस प्रकार धन की ममता बचेगी ही नहीं। वास्तव में भारतीय संस्कृति में संग्रह होता ही है दान के लिए, उपार्जन होता ही सदुपयोग के लिए है, प्राप्ति होती ही है। त्याग के लिए, कमाई होती ही भलाई के लिए है, संघर्ष का अन्तिम उद्देश्य शान्ति ही है। जीवन के समस्त संघर्षों में लगे हुए यदि हम शान्ति की ओर अग्रसर नहीं हो रहे तो सब संघर्ष बेकार हैं। पश्चिम ने जीवन को ही संघर्ष मानकर इसकी व्याख्या की। किन्तु

भारत की दृष्टि में जीवन संघर्ष नहीं साधना है। संघर्ष कुछ समय के लिए हमारी साधना का माध्यम हो सकता है किन्तु संघर्ष को ही जीवन का अर्थ और इति मान लेना, उपार्जन को ही जीवन का आदि और अन्त मान लेना, अर्थ को ही जीवन-सर्वस्व मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी।

एक आधारभूत प्रश्न है कि सृष्टि में जितना धन है उसका वास्तविक स्वामी कौन है? ईशावास्योपनिषद् ने घोषणा की है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।

अर्थात् सारी सृष्टि ईश्वर की है। ईश्वर से आच्छादित है। ईश्वर ही इसका स्वामी है। अतः उसी ईश्वर के नाम पर समर्पण करते हुए यज्ञ भावना से उसकी वस्तु उसके चरणों में चढ़ाकर उसके प्रसाद के रूप में हमें संसार की वस्तुओं को भोगना चाहिए और किसी अन्य की ओर गिद्ध (लोभ) दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध को समझने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए—

(क) ईश्वर सृष्टिकर्ता है। इस अर्थ में ईश्वर एक कुशल कारीगर मात्र रह जाता है। आलोचक कह सकते हैं कि ईश्वर अधिक से अधिक एक उत्तम बढ़ई या कारीगर के समान होगा। जिस प्रकार उत्तम महल बनाने वाला राजमिस्त्री स्वयं झोंपड़े में ही रहता है। बढ़िया फर्नीचर बनाने वाला बढ़ई स्वयं फर्नीचर का सदुपयोग नहीं कर पाता। उसी प्रकार ईश्वर बढ़ई, कारीगर, राज मजदूर, मिस्त्री आदि रह जाएगा।

(ख) इस आलोचना के निराकरण हेतु कहा जाता है कि ईश्वर केवल सृष्टिकर्ता ही नहीं, सृष्टि का स्वामी भी है। इससे ईश्वर का स्थान कुछ और ऊंचा होता अवश्य है किन्तु ईश्वर एक बढ़िया धनवान इंजीनियर जैसा बन जाता है जो स्वयं बढ़िया महल बनाकर उसमें स्वयं रहता है।

(ग) इससे ऊपर एक और स्थिति है जो ईश्वर की महत्ता को और सुन्दर रूप में दिखाती है। वेद में—

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि करके सृष्टि के अणु-अणु में स्वयं प्रवेश कर गया। कोई भी कुम्हार घड़ा बनाकर घड़े में प्रवेश नहीं कर सकता। यदि बड़ा घड़ा बनाकर उसमें बैठ भी जाए, यदि बढ़ई बड़ी आलमारी बनाकर उसमें घुस भी जाए, यदि इंजीनियर स्वयं मकान बनाकर उसमें रहने भी लगे तो भी वह उसके अणु-अणु में

प्रवेश कभी नहीं कर सकता। ईश्वर की महिमा यह है कि वह सृष्टि का कर्ता भी है, सृष्टि का स्वामी भी है और सृष्टि के अणु-अणु में समाया हुआ भी है।

(घ) आलोचक कह सकते हैं कि जो वस्तु किसी अन्य वस्तु में समा जाती है वह उसमें सीमित एवं बंदी हो जाती है। इसके उत्तर में शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि में निर्लिप्त भाव से समाया हुआ है। घड़े को फोड़ देने से, बक्से को काट देने, मकान को जला देने से उसके भीतर बैठा हुआ कुम्हार, बढ़ई या इंजीनियर बच नहीं सकता। किन्तु सृष्टि के महाप्रलय में लय हो जाने पर भी ईश्वर का बाल भी बांका नहीं होता। गुरु तेगबहादुर ने गाया है—

काहे रे वन खोजन जाय
सर्व निवासी सदा अलेपा तो ही संग समाय।

ईश्वर के सृष्टि में सर्वव्यापक होने पर भी प्रत्येक जीव में और अणु-अणु में व्याप्त होने पर भी वह शरीरों या वस्तुओं का बंदी नहीं है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। 9/4, गीता

'मुझ अव्यक्त स्वरूप (परमात्मा) के द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त है तथा समस्त प्राणी मुझमें स्थित हैं, (किन्तु) मैं उनमें अवस्थित नहीं हूं।'

भगवान् की सर्वव्यापकता का रहस्य बड़ा विचित्र एवं बुद्धि को चकराने वाला है। भौतिक वस्तुएं एक-दूसरे के भीतर होने या समाने पर सीमित या परिच्छिन्न हो जाती है। किन्तु ईश्वर अभौतिक तत्त्व होने के कारण न सीमित होता है और न बंदी होता है और न लिपायमान होता है। यही उसकी योगमाया का जादूभरा चमत्कार है। यदि ईश्वर को सृष्टि में व्याप्त माना जाए तो व्याप्त-व्याप्ति के सम्बन्ध से सृष्टि एक पात्र के समान बड़ी वस्तु बन जाएगी और उसमें व्याप्त होने के कारण ईश्वर उससे छोटा गिना जाएगा। कोई भी पात्र जिसमें कोई वस्तु समा सकती है, व्याप्त होने वाली वस्तु से कुछ बड़ा ही होता है। लेकिन ईश्वर सृष्टि में समाया है तो सृष्टि को ईश्वर से कुछ बड़ा ही मानना पड़ेगा। किन्तु ईश्वर की व्याप्ति वस्तुओं की व्याप्ति से विलक्षण है। जहां ईश्वर सृष्टि में समाया है वहां इसके विपरीत सारी सृष्टि भी ईश्वर के एक अंश में समायी हुई है।

एकांशेन स्थितो जगत्।। 10/42, गीता

भगवान् कहते हैं कि सारा जगत् मेरे एक अंश में ही स्थित है। इस स्थिति को उपनिषद् एवं गीता में आकाश की उपमा से समझाया गया है। जिस प्रकार सृष्टि में प्रत्येक वस्तु में आकाश व्याप्त है लेकिन निर्लिप्त भाव से व्याप्त है। आकाश उन

वस्तुओं में बंदी नहीं होता। साथ ही सारी सृष्टि और सब वस्तुएं आकाश के एक अंश में ही समा जाती हैं। उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि में व्याप्त है, सृष्टि से निर्लिप्त है और सारी सृष्टि उसके एक अंश में ही समा जाती है।

भगवान् कहते हैं मैं मूलतः निर्गुण-निराकार, निरुपाधिक ब्रह्म अव्यक्त मूर्ति हूं जिसे इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता। किन्तु संसार की व्यक्त सृष्टि की प्रत्येक वस्तु मुझ अव्यक्तमूर्ति द्वारा व्याप्त है। जिस प्रकार आकाश का कोई रंग-रूप, व्यक्त स्वरूप नहीं है। वह अव्यक्तमूर्ति के समान ही है किन्तु प्रत्येक व्यक्त मूर्ति में समाया हुआ है। भगवान् कहते हैं सब भूत प्राणी मुझमें स्थित हैं, अर्थात् मुझ परमतत्त्व पर टिके हुए हैं, मेरे पर आधारित हैं, मेरी सृष्टि के नियंत्रण में है, मेरे वश में हैं, इस दृष्टि से मेरे अन्दर ही हैं। किन्तु मैं उन पर व्याप्त रहते हुए भी उन पर आधारित नहीं हूं, उनमें बंदी नहीं हूं। उनकी दया पर नहीं हूं। मैं आकाश के समान सबको अपने भीतर लिए हूं किन्तु मैं उनमें बंदी नहीं हूं। जिस प्रकार जल की सारी सृष्टि तरंग, ज्वार-भाटा, भाप, बादल, बर्फ, तालाब, नदी, समुद्र, महासमुद्र सब जल पर आधारित है। जल उसमें व्याप्त है किन्तु जल उन पर आधारित नहीं और उनकी दया पर टिका हुआ नहीं है। सब नाम अनामी पर टिके हुए हैं, सब रूप अरूपी पर टिके हुए हैं। सब व्यक्त अव्यक्त पर टिके हुए हैं सब देश अदेशी पर टिके हुए हैं सब काल अकाल पुरुष पर टिके हुए हैं, सब ससीम असीम में टिके हुए हैं। सब मर्त्य अमर वस्तु पर टिके हुए हैं। सारी सृष्टि ब्रह्म पर टिकी हुई है (नासदीय सूक्त)। किन्तु ब्रह्म उस पर टिका हुआ नहीं है। वेद के नासदीय सूक्त में गाया गया है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्नः आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस।।2।।

जिसका भावार्थ यह है—जब जगत् था ही नहीं, न दिन था, न रात, न सूर्य, न चन्द्र, न पृथ्वी, न तारागण, न ऋषि, न जीव, न सृष्टि, न सृष्टिकर्ता। तब भी परमतत्त्व (अव्यक्त मूर्ति) था। विचार कर देखा जाए तो पुत्र के जन्म के बाद ही पिता का जन्म होता है क्योंकि पुत्र के जन्म से ही उसका पितृत्व प्रारम्भ हुआ, उससे पूर्व वह पिता नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जगत् पिता या सृष्टिकर्ता का भाव सृष्टि बनने के बाद ही पैदा होता है। अतः सृष्टि और सृष्टिकर्ता दोनों सापेक्ष शब्द हैं। पिता और पुत्र दोनों सापेक्ष, एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। निरपेक्ष ब्रह्म वह अव्यक्तमूर्ति परमतत्त्व है जो किसी की अपेक्षा नहीं रखता और किसी पर

अवलम्बित भी नहीं है। वह स्वयं से स्वयं की महिमा में ही महान् है। वह स्वयंभू है। भगवान् आगे कहते हैं—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। 9/5, गीता

'(परन्तु वास्तव में ये समस्त) प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं है। तू मेरे इस ईश्वरीय योगशक्ति (अर्थात् घटना) को देख कि मेरा आत्मा (अर्थात् स्वरूप) प्राणियों का भरण-पोषण करने वाला तथा प्राणियों का उत्पादन-वर्धन करने वाला होते हुए भी प्राणियों में स्थित नहीं है।'

भगवान् की अधिक बड़ी जादूगरी यह है कि जिस सृष्टि को वे रचते हैं उस सृष्टि के वे स्वामी हैं। जिस सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हैं, जिस सृष्टि का वे पालन करने वाले हैं उस सृष्टि से उनका कुछ भी बंधन नहीं है। ऊपर वाले श्लोक में भगवान् ने कहा कि सब भूत-प्राणी मुझ पर टिके हुए हैं, किन्तु मैं उन पर आश्रित नहीं हूं। अब भगवान् इससे ऊंची बात कहते हैं कि मेरी योगमाया का खेल तो देखो कि वे भूत प्राणी या पंच महाभूत भी मेरे में नहीं हैं तथा मेरे पर आश्रित नहीं हैं। यदि भगवान् के स्वरूप में भौतिक तत्त्व हो तभी तो पंच महाभूत एवं अन्य भूत-प्राणी अपनी सत्तास्फूर्ति के लिए उस पर आधारित हों। जब भगवान् में भौतिक तत्त्व है ही नहीं तो उस अभौतिक तत्त्व परब्रह्म परमेश्वर पर भौतिक वस्तुएं क्यों और कैसे निर्भर है? घी दूध पर निर्भर है क्योंकि दूध में घी का तत्त्व छिपा हुआ है। किन्तु जिस पत्थर में घी का अंश है ही नहीं, घी उस पर निर्भर कैसे कर सकता है। भगवान् की इस जादूगरी को माया अथवा योगमाया कहते हैं। कारण-ब्रह्म सृष्टिकर्ता है किन्तु शुद्ध ब्रह्म का सृष्टि से क्या सम्बन्ध है? भगवान् की संकल्प शक्ति ही माया के रूप में तीन गुणों और पंच महाभूतों को रचती है और सृष्टि का विस्तार करती है। शुद्ध ब्रह्म नितान्त निर्लिप्त भाव से उसका तमाशा देखता है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड पलभर में उसके संकल्प से उदय और अस्त होते रहते हैं। किन्तु ब्रह्म का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदान्त के ऊंचे ज्ञान में एक ब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता बचती ही नहीं इसलिए ज्ञान की अन्तिम कसौटी पर जिस सृष्टि की सत्ता ही नहीं है उसे परमसत्यरूप ब्रह्म पर टिका हुआ कैसे मान लें। जब भूतों की सत्ता ही नहीं तो उनके टिकने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वंध्यापुत्र के विवाह के भोज में खाये हुए लड्डुओं के कारण अजीर्ण की औषधि मांगना मूर्खता है। स्वप्न में सोने के पर्वतों को देखकर जीव लोभ में पागल हो उठता है और जगाने पर उन्हीं पर्वतों की खोज के लिए भाग-दौड़ करता रहता है और ज्योतिषियों तथा विद्वानों से सोने के पर्वतों का रहस्य पूछता रहता है कि वे पर्वत किस देश-प्रदेश में है, किस भूमि पर कितनी

ऊंचाई पर हैं, किस पर टिके हुए हैं। वहां तक पहुंचने के लिए कौन दिशा में जाना पड़ेगा आदि। तो ये सारे प्रश्न निरर्थक हैं क्योंकि जब वे पर्वत हैं ही कल्पित तो उनकी खोज में माथा खपाना मूर्खता ही है। यह असत् सम्वाद केवल भ्रान्तिकाल में ही प्रतीत होता है। भ्रान्ति दूर होने पर इसका अस्तित्व ही नहीं बचता है। जब तक भ्रान्ति रहती है तब तक यह प्रतीति किसी सत् वस्तु पर ही आधारित रहती है जैसे सर्प की भ्रान्ति अंधकार काल में रज्जु पर निर्भर करती है। सर्प की सत्ता रज्जु की सत्ता के कारण है। किन्तु भ्रान्ति दूर होने पर, प्रकाश हो जाने पर जब अपनी मूर्खता नष्ट हो गई तब सर्प की सत्ता ही लुप्त हो गई। उस स्थिति में यह प्रश्न करना कि सर्प किस पर आधारित है, मूर्खता ही है। अज्ञान काल की मिथ्या प्रतीति को ज्ञानकाल में जब उसकी सत्ता ही लुप्त हो गई उस समय उसको खोजना उसका आधार खोजना बाल बुद्धि का खेल कहा जाएगा। अंधेरे में जिस बालक को बड़ा भय लगता था, करोड़ों योजन तक फैला हुआ अंधेरा उसे दैत्य के समान डराता था। प्रकाश हो जाने पर उस अंधकार का सिर-पैर खोजना बाल बुद्धि का ही खेल है। पंचभूतों का सारा संसार ही तीनों कालों में असत्य ही है और ब्रह्म सर्वकाल में सदा सत्य है। अतः सत् में असत् को खोजना सत् वस्तु का अपमान है।

ईशावास्य में जो मंत्र दिया है उसमें व्यवहार काल में जो माया प्रतीत होती है उस माया के स्वामी भी परमेश्वर ही हैं। सारी प्रकृति का स्वामी परमेश्वर है। लक्ष्मी का स्वामी नारायण है, ऐश्वर्य का स्वामी ईश्वर है, वैभव का स्वामी विभु है। विशेषता यह है कि वह स्वामी निर्लिप्त और निष्काम स्वामी है। भगवान् गीता में कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। 3/22, गीता

'हे पार्थ! तीनों लोकों में मुझे न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी है। तो भी मैं कर्म में ही लगा रहता हूं।'

अर्थात् मुझे कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो और जिसके लिए मुझे कर्म चेष्टा करनी पड़े। किन्तु फिर भी मैं पूर्णकाम होते हुए भी लोक संग्रह के लिए कर्म करता हूं। जब सब सम्पत्ति प्रभु की है तब अर्थ के प्रति हमारा दृष्टिकोण ही बदल जाना चाहिए। ईशावास्य के अनुसार अर्थ का वास्तविक स्वामी परमेश्वर ही है। हम मात्र इसके न्यासी (Trustee) तथा प्रयोक्ता हैं। जितना धन प्रभु ने हमें दिया है यह विश्वास (Trust) करके दिया है कि हम उस ऋण का निजी हित, परिवार हित, समाज हित, राष्ट्र हित और विश्वहित के लिए ही नहीं वरन् जीवमात्र के अधिक से अधिक बड़े कल्याण के लिए सदुपयोग करेंगे। हमारे सारे अर्थ व्यापार का उद्देश्य होना चाहिए भगवान् के इस विश्वास के योग्य बनना। यदि

हम किसी सेवक को दस पैसे का सामान लाने के लिए कहते हैं और वह 10 पैसे के विश्वास को निभाता है तो हम उसका एक रुपया तक का विश्वास करने लग जाते हैं। एक का ठीक निभाने पर 10 का, 10 का ठीक निभाने पर 100 का... 1000.... 100000... फिर लाखों रुपयों का विश्वास करने लग जाते हैं।

ठीक इसी प्रकार हम अपने को भगवान् का विश्वासपात्र सिद्ध करें और भगवान् की निधि को भगवान् के आदेशानुसार भगवान् के जीवों के अधिक से अधिक बड़े कल्याण के लिए नि:स्वार्थ, निरहंकारभाव (यज्ञभाव) से लगा सकें तो भगवान् का सच्चा प्रेम और आशीर्वाद प्राप्त कर सकेंगे। जैसे विश्वास बढ़ते-बढ़ते व्यक्ति घर का अंग बन जाता है और उस पर हम प्राणों का विश्वास भी करने लगते हैं। उसी प्रकार भगवान् का अर्थविश्वास ठीक-ठीक निभाते-निभाते भगवान् के अपने बन जाते हैं और भगवान् हमें अपना आत्मा ही बना लेते हैं। इस प्रकार निर्लिप्तभाव से अर्थव्यापार से भी मोक्ष का राजपथ खुल जाता है। हमें निरन्तर यह भाव रखना चाहिए कि सृष्टि के उपवन के मालिक तो भगवान् ही हैं, हम तो माली के समान हैं। मालिक ने पूरा उपवन हमारे विश्वास पर छोड़ रखा है। हमें उपवन में रहना, उपवन की सुरक्षा करना, उपवन को सुन्दर सजाना, संवारना, उपवन का सौन्दर्य एवं सुगन्धि का निर्लिप्तभाव से आनन्द लेना, सब कुछ का अधिकार है। कई दृष्टियों से मालिक की अपेक्षा माली फुलवारी का सुख अधिक ही प्राप्त करते हैं किन्तु हमें सावधानी यही रखनी चाहिए कि हम भूल से अपने आपको मालिक न मानें। इसमें बड़ा लाभ यह है कि आनन्द तो मालिक से भी अधिक मिलेगा पूरी फुलवारी का तथा कोठी का उपयोग हम दिन-रात कर सकेंगे किन्तु न मिल्कियत की परेशानी में पड़ेंगे न कर (टैक्स) की सिरदर्दी झेलनी पड़ेगी, न अन्य सम्पत्ति वालों के साथ झगड़ों में कोर्ट-कचहरी की ठोकर खानी पड़ेगी। मालिक बनने में परेशानियां ही परेशानियां हैं। माली या Trustee बनने में कार्य अधिक अच्छा होता है। सिरदर्द कम हो जाता है।

Trusteeship की भावना हो जाने पर सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि हम मोहरूपी राक्षस से बचे रहते हैं। हमारे मन को अहंता और ममतारूपी राक्षस के चंगुल में पड़ने का अवसर नहीं रहता। जब सृष्टिरूपी उपवन मेरा है ही नहीं तब अहंकार को स्थान ही कहां बचता है? जब मैं मालिक नहीं तब मेरी ममता भी नहीं हो सकती। शरणानन्दजी ने अपने एक अमर गीत में गाया है—

मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।
जो भी अपने पास है वह धन किसी का है दिया।।1।।

देने वाले ने दिया, वह भी दिया किस शान से।
मेरा है, यह लेने वाला कह उठा अभिमान से।।2।।

मैं-मेरा यह करने वाला मन किसी का है दिया।
मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।।3।।

जो मिला है वह हमेशा पास रह सकता नहीं।
कब बिछुड़ जाए यह कोई राज कह सकता नहीं।।4।।
जिन्दगानी का खिला मधुवन, किसी का है दिया।
मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।।5।।

जग की सेवा, खोज अपनी प्रीति उनसे कीजिये।
जिन्दगी का राज है, यह जानकर जी लीजिये।।6।।

साधना की राह पर, यह साधन किसी का है दिया।
जो भी अपने पास है, वह सब किसी का है दिया।।
मैं नहीं, मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया।।7।।

मेरा नहीं—यह भावना ही यज्ञभावना है।

'इदं न मम' इस भावना से निर्लिप्ततापूर्वक, निरहंकारपूर्वक किया गया कर्म सुन्दर एवं कर्ता को बांधने वाला नहीं होगा।

वर्तन्तु ऋषि के शिष्य ब्रह्मचारी कौत्स ने गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें गुरु दक्षिणा देने का संकल्प किया। गुरु ने उसे निर्धन जानकर कुछ भी गुरुदक्षिणा नहीं मांगी। किन्तु कौत्स के बार-बार आग्रह करने पर गुरु ने उसे एक परीक्षा में डाल दिया। गुरु ने कहा—मैंने तुम्हें चौदह विद्यायें पढ़ाई है, यदि गुरुदक्षिणा देना चाहते हो तो चौदह लाख स्वर्णमुद्रायें लाकर दो। ब्रह्मचारी कौत्स गुरुदक्षिणा की निधि का संग्रह करने के लिए महाराजा रघु के पास गया। उन दिनों रघु महाराज दिग्विजय करने के पश्चात् अपना सर्वस्व दान करके रानीसहित जंगल में तपस्या कर रहे थे। ब्रह्मचारी कौत्स उन्हें राजधानी में न पाकर जंगल में खोजने हेतु गए। वहां उनकी फूस की झोपड़ी तथा मिट्टी के पात्र को देखकर कौत्स लज्जित होकर वापस लौटने लगा। किन्तु रघु महाराज ने उसे पुकार कर कहा, अपने आने का उद्देश्य निःसंकोच भाव से कहो। कौत्स ने झिझकते हुए अपना प्रयोजन बताया। महाराज रघु ने कहा—इस समय राजकोष में तो कुछ बचा ही नहीं। मैं जंगल में तपस्या कर रहा हूं। किन्तु द्वार से अतिथि खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। धनराज कुबेर ने बहुत वर्षों से हमारा कर नहीं चुकाया था। उनसे मेरी ओर से जाकर कहो और गुरुदक्षिणा हेतु स्वर्णमुद्रा ले आओ। कुबेर ने उत्तर दिया कि राजा रघु स्वयं वनवासी बने जंगल में रह रहे हैं अतः उनका ऋण नहीं दूंगा तो वे क्या बिगाड़ लेंगे। इस पर रघु महाराज ने ब्रह्मचारी के हाथ से संदेश भेजा कि चाहे मैं इस समय एक निर्धन वनवासी के

रूप में तपस्या कर रहा हूं किन्तु जिस धनुष से मैंने दिग्विजय किया है वह अभी भी मेरे पास है। इस पर कुबेर ने भयभीत होकर विजयादशमी पर एक शमीवृक्ष की ओट से स्वर्ण मुद्रायें बरसा कर सोने का ढेर लगा दिया। ब्रह्मचारी कौत्स अपनी गुरुदक्षिणा की मुद्रायें गिनकर ले जाने लगा तो राजा रघु ने कहा कि मैं तपस्या में लगा हुआ हूं। मैं धन को छू नहीं सकता। सारा सोने का ढेर तुम्हारे निमित्त से ही बरसा है इसलिए यह मेरा नहीं, सब तुम्हारा है। सब ले जाओ। ब्रह्मचारी ने कहा, महाराज! मैं तपस्वी ब्रह्मचारी हूं। मुझे केवल गुरुदक्षिणा हेतु स्वर्णमुद्राओं की आवश्यकता थी। कुबेर ने आपका ऋण चुकाया था। मैं एक भी अतिरिक्त मुद्रा स्पर्श नहीं कर सकता। यह धन मेरा नहीं, आपका है। बीच में सोने का ढेर लगा था और राजा और ब्रह्मचारी के बीच में बड़ा मीठा विवाद चल रहा था 'इदं न मम' अर्थात् यह मेरा नहीं है। आजकल कंचन और कामिनी को लेकर सभी विवादों का मूल मंत्र होता है 'इदं मम'—यह मेरा है। अन्त में सोने का ढेर न रघु ने छुआ न ब्रह्मचारी कौत्स ने। वह निर्धन प्रजाओं में बांट दिया गया। धन के प्रति निर्लोभ यज्ञभावना हो जाने पर यह धरती स्वर्ग बन जाए। जब भारत में ऐसी भावना थी तब भारत स्वर्ग से भी ऊंचा था। जहां स्वर्ग के देवता भी जन्म पाने के लिए तरसते रहते हैं।

दो भाइयों में चित्रकूट में इसी प्रकार का एक मीठा संवाद इतिहास में अमर हो गया। राम कहते थे कि भरतजी! पिता के मौन आदेश और माता कैकयी के वचन पर फूल चढ़ाते हुए मैंने वनवास स्वीकार किया और आप जैसे प्राणप्यारे भाई के लिए राज्य छोड़ा। अतः भरतजी राज्य मेरा नहीं आपका है। भरतजी राम से कहते हैं रामदुहाई, आपके चरणों की सौगन्ध, ऐसा पाप मुझ से मत करवाइये। यह राज सदा आपका है और आपका ही रहेगा। दोनों भाइयों के अन्तर से 'इदं न मम' की भावना गूंज रही थी। दोनों भाइयों ने मानों राज्य को कन्दुक (गेंद) बनाकर परस्पर एक-दूसरे की ओर ठुकरा कर फेंकना प्रारम्भ किया। दोनों खिलाड़ी भी इतने जागरूक थे कि गोल कोई भी नहीं होने देता था। अन्त में निर्णय किया गया जिससे कि भाइयों का प्रेम अमर बना रहे और राज्य की कीमत लगाई दो जूते। 14 वर्ष तक अयोध्या के सिंहासन पर राम की पादुका राज करती रही। अर्थ के प्रति निर्लोभ वृत्ति एवं साम्राज्य के प्रति यज्ञभाव का इससे श्रेष्ठ उदाहरण सारे विश्व के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलता। भरतजी की अर्थ-व्यापार में इस निर्लोभ वृत्ति का गुणगान करते हुए गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी।। 2/323/8, मानस

अर्थात् राम के सच्चे अनुरागी बड़भागी पुरुष रमा (लक्ष्मी) के भोग विलास को वैसे ही त्याग देते हैं जैसे विचारवान मनुष्य वमन को त्याग देता है (फिर उसकी ओर देखते भी नहीं)।

कविवर रहीम बड़े गुणग्राहक दानी थे। एक बार गंगकवि की एक कविता से प्रसन्न होकर 36 हजार मुहरें दान कर दी। किन्तु दान देते समय उनके नेत्र नीचे ही नीचे झुकते जाते थे।

इस पर गंगकवि ने प्रश्न किया—

सीखे कहां जनाब जू ऐसी देनी देन।
ज्यों-ज्यों कर ऊंचो उठे त्यों-त्यों नीचे नैन।।

इसके उत्तर में रहीम कवि ने आंखों में अश्रुजल भर कर कहा—

देनहार कोई और है भेजत है दिन रैन।
लोग भरम हमपै करैं ताते नीचे नैन।।

निरहंकार एवं निर्मोह के भाव का यह एक उज्ज्वल दृष्टान्त है। आजकल दानदाता के दान से अधिक भारी तो उसका अहंकार ही हो जाता है जो दाता और ग्रहिता, दोनों को ही ले डूबता है।

सेठ भामाशाह ने अपनी तथा अपने पूर्वजों की सारी कमाई जब निर्लिप्त भाव से देश हितार्थ राणा प्रताप के चरणों में चढ़ा दी तब राणा प्रताप के अचम्भे से पूछने पर भामाशाह ने कहा कि यह सम्पत्ति मेरी नहीं है। यह आपकी ही है। देश की सम्पत्ति देश के काम आ जाए तो सम्पत्ति का सदुपयोग और संग्रहकर्ता का भी सौभाग्य है। अर्थ किसी अर्थ (उद्देश्य) में लग जाए तो उससे बड़ी सार्थकता, सफलता और क्या हो सकती है।

यदि हम प्रभु की सम्पत्ति को मोहवश अपना मान बैठे तो एक बड़ा अपराध हो जाए। संसार में लौकिक न्याय में भी यदि कोई मुनीम या कारिन्दा किसी सेठ का धन लेकर मुंबई, कोलकाता, सेठ के आदेशानुसार माल खरीदने के लिए भेजा जाए और वहां जाकर वह स्वयं ही मालिक बन बैठे और वास्तविक मालिक के साथ धोखा करे तो उसे निश्चित दंड और जेल की यातना भोगनी पड़ती है।

जब लौकिक न्यायविधान में अमानत में खयानत करने वाले व्यक्ति के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था है तब ईश्वर की अमानत में खयानत करने वाले, वास्तविक मालिक को भूलकर स्वयं मालिक बन बैठने वाले कृतघ्न धोखेबाज लोगों के लिए कितना बड़ा दण्ड होगा। लौकिक न्याय में तो कई बार लोग चालाकी भरी वकालत, रिश्वत अथवा पैरवी से छूट जाते हैं किन्तु सर्वशक्तिमान जो सब जीवों का कच्ची डोरी पर शासन कर रहा है उसके साथ धोखा करके

उसकी अमानत में खयानत करके उसके स्थान पर स्वयं को मालिक दिखाने का दम्भ करके हम कहां टिक सकते हैं। इसलिए समस्त अर्थ-व्यापार में प्रभु को मालिक और अपने को विश्वासी (न्यासी) मानकर कर्तव्यपालन करने में इहलोक में सबका बड़े से बड़ा कल्याण होगा तथा परलोक में हम मोहमुक्त होने के कारण भी मोक्ष के अधिकारी बन जाएंगे।

ईशावास्य के प्रथम मंत्र के प्रथम चरण में यही कहा है—ईश्वर ही सारी सृष्टि का स्वामी है, वही संरक्षक है। सारी सृष्टि उसकी गोद में उसके द्वारा आच्छादित है, उससे व्याप्त है अर्थात् उसके एक अंश में टिकी हुई है।

दूसरी पंक्ति के प्रथम चरण में कहा है कि उस सर्वेश्वर, अखिलेश्वर, परमेश्वर के नाम पर समर्पण करके उसके प्रसाद के रूप में संसार की वस्तुओं को भोगो। इसी में बगीचे के माली का भाव और Trusteeship का भाव तथा यज्ञभावना छिपी हुई है। दूसरी पंक्ति के अंतिम चरण में कहा है कि—

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

अर्थात् किसी के धन की ओर गिद्धदृष्टि (Greed) लोभदृष्टि मत रखो।

सामान्य अर्थ में चोरी से बचने वाला संदेश है। किन्तु गंभीर अर्थ में यह कहा गया है कि धन किसका है? जो तुम लोभ दृष्टि रखते हो अर्थात् यह धन तेरा नहीं है। सब धन परमेश्वर का है। इसलिए यदि तू चोरी करता है तो परमेश्वर की ही चोरी कर रहा है, किसी व्यक्ति की नहीं। व्यक्ति के धन को चुराने पर कठोर दण्ड मिलता है तब परमेश्वर के धन को चुराने का कैसा दण्ड मिलेगा इसकी कल्पना की जा सकती है। फिर चोरी द्वारा जिस धन को थोड़ी देर के लिए तुम अहंकार से मेरा-मेरा कहते हो वह तुम्हारा है ही नहीं और रहेगा भी नहीं। क्योंकि सब धन प्रभु का है—'कस्य स्विद्धनम्' में से निम्नलिखित ध्वनि निकलती है—

(क) विचार करो कि यह धन किसका है? जिसका धन चुरा रहे हो उसका है ही कहां? यह तो प्रभु के भण्डार में डाका है।

(ख) मानो कि चोरी करने का फल कारावास के रूप में मिलता है। तब भगवान् की चोरी करने का फल संसार रूपी कारावास में बंदी होकर कष्ट भोगने के रूप में मिलता है।

(ग) गिद्ध आसमान में बहुत ऊंचा उड़ता है किन्तु उसकी दृष्टि धरती पर पड़े हुए मांस के लोथड़े में लगी रहती है। ज्योंही वह कोई गला-सड़ा मुर्दा देखता है तो तुरन्त झपट्टा मारकर उसे उड़ा ले जाता है। इसी प्रकार विचारों के संसार में बहुत ऊंची बुद्धि की उड़ानें भरने वाले लोग गिद्ध के समान जीवन के तुच्छ लोभों पर नजर लगाए रहते हैं और ज्योंही स्वार्थपूर्ति का अवसर मिलता है वे आमिषभोजी गिद्ध के समान

ही नीचे आकर तुरन्त लोभ का झपट्टा मारते हैं। बड़े-बड़े विद्वानों को, ज्ञान बघारने वाले लोगों को, शिक्षाशास्त्रियों को, राजनेताओं को प्रलोभन अथवा स्वार्थपूर्ति का अवसर आने पर सारे आदर्शवाद को भुलाकर नीचे गिरते देखा जाता है।

संस्कृत के गृध शब्द से ही अंग्रेजी और यूरोपीय भाषाओं में Greed शब्द बना है। इसका अर्थ ही लोभ लालच है। इसमें ध्वनि यह है कि अच्छा भला सज्जन व्यक्ति जब लोभ के वशीभूत हो जाता है तब मनुष्यता से गिरकर सड़े मुर्दे खाने वाले गिद्ध के स्तर पर आ जाता है। पशुओं में कुत्ता, जंगली पक्षियों में गिद्ध और ग्रामीण पक्षियों में कौआ ये सब विष्ठा भोगी, आमिषभोगी होने के कारण पशु-पक्षी जाति में शूद्र एवं चाण्डाल माने गए हैं। मानव जिस प्रकार की प्रवृत्ति दर्शाता है उससे उसकी भावी योनि का अनुमान लगाया जा सकता है।

जिस धन के लोभ के लिए मानव इतना लोभ पाप का जोखिम लेता है वह धन अन्ततोगत्वा उसके पास टिकने वाला नहीं है। इसलिए मानव की स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है—

दिन गंवाया दूनी से दूनी न चाली साथ।
पांव कुल्हाड़ा मारा मूरख अपने हाथ।।

जिस अर्थ के लिए जीवन भर अनर्थ किए वह अर्थ भी अपना न हुआ। यह दोनों ओर से घाटे का ही सौदा है।

गुरु नानकदेवजी ने एक साहूकार के विषय में सुना कि वह बहुत बड़ा धनाढ्य है। किन्तु साथ ही बहुत बड़ा कंजूस भी है और समाजसेवा के लिए कुछ भी व्यय नहीं करता। गुरु नानकदेव ने उससे कहा, मैं मक्का मदीने की यात्रा पर जा रहा हूं। मैं अपनी एक सूई आपके पास अमानत के रूप में रख जाता हूं, लौटने पर ले लूंगा। साहूकार ने कहा; आप बहुत दूर जा रहे हैं, आप वृद्ध भी बहुत हो चुके हैं, आपकी अमानत कहां तक सम्हालता रहूंगा। यदि आप न लौटे तब इसका क्या करूंगा। गुरुनानक ने कहा, यदि मेरा शरीर छूट गया तो मैं यह सूई आपसे परलोक में ले लूंगा। साहूकार ने कहा, परलोक में इसे कैसे ले जाऊंगा। गुरुजी ने कहा, जैसे तू अपना अपार धन, रत्न भण्डार परलोक ले जाएगा। उसमें मेरी एक सूई भी ले आना। इससे कंजूस धनाढ्य की आंखें खुल गई। उसे समझ आ गया कि यह धन मेरा नहीं है। न मेरे साथ आया है और न मेरे साथ जाएगा।

धन का एक पर्याय सम्पत्ति है। जिसका अर्थ है सफलता, समृद्धि, प्राचुर्य, अनुकूलता आदि। पत का अर्थ होता है गिरना या घटना। सम्पत्ति का शाब्दिक अर्थ हुआ अच्छी प्रकार से घटना। अच्छी प्रकार से प्राप्त होना या अच्छी प्रकार

से बरसना। मानव बिना भगवान् की प्रपत्ति के सीधे सम्पत्ति चाहता है और मिलती है उसे विपत्ति। जब लक्ष्मी नारायण की सहचरी है तो नारायण की शरणागति के बिना लक्ष्मी को चाहना, उस पर अधिकार जताना नितान्त अनुचित एवं पापपूर्ण है। यदि किसी पति की अनुमति एवं सहमति के बिना हम उसकी धर्मपत्नी के प्रति लोभ की कामना करें तो हम अपने लिए जान-बूझकर विपत्ति को ही बुला रहे हैं। जब हम प्रभु के चरणों में अपने आपको निष्काम भाव से समर्पित कर देते हैं तब हम प्रभु की समस्त सम्पत्ति के अपने आप उत्तराधिकारी बन जाते हैं प्रभु अपने भक्तों को पुत्रवत् अपने हृदय से लगा लेते हैं तथा अपना सब कुछ उन पर निछावर कर देते हैं। सच्चा भक्त भी लक्ष्मी माता या प्रकृति माता से पोषण मात्र चाहता है उस पर स्वामित्व नहीं। प्रकृति हमारे पालने के लिए है, हमारे भोगने के लिए नहीं। 'ईशा वास्यामिदं....' इस मंत्र में 'भुंजीथाः' का अर्थ भी पालन ही है, किसी अमर्यादित अर्थ में भोग नहीं। भुज धातु से एक संज्ञा बनती है भोज या भोजन और दूसरी संज्ञा भोग। भोजन निर्वाह के लिए होता है और भोग विलास के लिए।

अर्थ का एक अन्य पर्याय है वित्त। जिसका अर्थ प्राप्त, ज्ञात, विचारित, परीक्षित, प्राप्त वस्तु, अधिकार, धन, सम्पत्ति। धातु के रूप में वित्त का अर्थ है जानना या प्राप्त करना। शास्त्रवित्त का अर्थ है शास्त्र को जानने वाला, वेद वित्त का अर्थ है वेद को जानने वाला, धीरे-धीरे वित्त शब्द ज्ञात या ज्ञानप्राप्त के स्थान पर धनप्राप्त या धनप्राप्ति के लिए रूढ हो गया। मानव की तीन बड़ी एषणायें, कामनायें होती है। **वित्तैषणा** अर्थात् धन प्राप्ति की कामना। **पुत्रैषणा** अर्थात् परिवार एवं संतान प्राप्ति की कामना। **लोकैषणा** अर्थात् लोक में प्रसिद्धि की कामना। वित्तैषणा और पुत्रैषणा ममता को बढ़ाने वाली और लोकैषणा अहंता को बढ़ाने वाली है। धन को अतिशय महत्त्व देने से समाज के जीवन मूल्य बदल जाते हैं। अर्थपरायण समाज में धनवान को ही बड़ा, कुलीन, समाज में प्रतिष्ठित, गुणवान आदि सब गुणों से मण्डित माना जाने लगता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। भर्तृहरि ने ऐसे अर्थपरायण समाज पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति।। 41, नीतिशतक

अर्थात् जिसके पास वित्त है वह कुलीन माना जाता है। वही पण्डित, ज्ञानी माना जाता है वही गुणज्ञय भी समझा जाता है, वही वक्ता भी मान लिया जाता है और वही दर्शनीय गिना जाता है। इस प्रकार अर्थपरायण समाज में, सोने में सब

गुण मान लिए जाते हैं। इसके विपरीत भारतीय धार्मिक परम्पराओं में सोने में भी कलयुग का वास माना गया है। भारत के संतों ने सोने की मादकता को धतूरे से भी अधिक भयानक माना है—

कनक कनक ते सौ गुणी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौराय नर यह पाये बौराय।।

अर्थात् कनक (सोना) कनक (धतूरे) की अपेक्षा सौ गुणा अधिक मादकता पैदा कर देता है। धतूरे को खाने से आदमी पागल हो जाता है किन्तु सोने को तो पाने से ही पगला जाता है।

धन का उर्दू एवं फारसी में नाम है दौलत। इसका व्यंग्यात्मक अर्थ यह किया जाता है कि ये दौलत दो लात मारती है। जब आती है तो एक लात मारकर मनुष्य की गर्दन में घमण्ड की अकड़ पैदा कर देती है और जब जाती है तो दूसरी लात मारकर अकड़ी हुई गर्दन को तोड़ जाती है। अतः दौलत के नशे में पागल होकर अधिक अकड़ जाना समाज के लिए बुरा है और दौलत के छिन जाने पर छाती फटना स्वयं हमारे लिए घातक है। अकड़ में हम अहंता में बंध जाते हैं और धन के चले जाने पर हम ममता से छटपटाने लगते हैं।

आज आधुनिक पाश्चात्य अर्थशास्त्र घोषणा करता है कि जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य अर्थोपार्जन ही है। वे दूसरी चेतावनी देते हैं कि पूरे अर्थशास्त्र के अध्ययन में धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। कार्लमार्क्स भी इतिहास की अर्थशास्त्रीय व्याख्या करके घोषित करता है कि नैतिकता और धर्म सब अर्थ की दास-दासियां हैं। महाभारत काल में पापी कौरवों का पक्ष लेने वाले ने सफाई देते हुए यहां तक कह डाला कि—

अर्थस्य पुरुषो दासः।

अर्थात् मनुष्य तो अर्थ का ही दास होता है। हृदय से पांडवों की विजय कामना करते हुए भी भीष्म पितामह ने कौरवों का अन्न खाने के कारण उनका पक्ष लिया। गीता ऐसे ही धर्मसंकट का उत्तर देने के लिए गाई गई। भगवान् ने एवं समस्त ऋषिपरम्परा ने चेतावनी दी थी—धर्म और अर्थ की टक्कर में मानव को अर्थ को थूककर धर्म की रक्षा करनी चाहिए। धर्म एक नित्य शाश्वत तत्त्व है जो मरने पर भी जीव के साथ परलोक तक जाता है। किन्तु अर्थ तो निर्जीव धातु के सिक्के या भौतिक वस्तुओं के रूप में अनित्य एवं नश्वर वस्तु है जो मनुष्य का साथ नहीं दे सकती तथा मरने पर परलोक में साथ भी नहीं जाती। इसलिए अनित्य अर्थलाभ के लिए नित्य धर्मतत्त्व को कभी नहीं त्यागना चाहिए। भगवान् वेदव्यासजी ने चेतावनी दी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेत्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

अर्थात् कभी भी तनिक भी कामना के लिए, न भय न लोभ से, वरन् अपने जीवन तक की रक्षा के लिए भी धर्म न छोड़ें। धर्म नित्य है, सुख-दुःख तो अनित्य है। जीव नित्य है और उसका जन्म मरण का हेतु अनित्य है। इसलिए अनित्य के लिए नित्य को कभी नहीं त्यागना चाहिए। भगवान् ने गीता में भी धर्म की महिमा में कहा है—**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।** 3/35, गीता

अर्थात् अपने धर्म में मर जाना अच्छा है। दूसरों का धर्म सदा भय देने वाला होता है। दुर्भाग्य से पश्चिम की भौतिकवादी अर्थपरायण सभ्यता की नकल से आज मानव का भीषण नैतिक पतन हो रहा है। इंग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बेनहम (Benhem) ने लिखी है एक पुस्तक Economics of prostitution अर्थात् वेश्यावृत्ति का अर्थशास्त्र। उसने तर्क दिया है कि क्योंकि जीवन का अन्तिम लक्ष्य अर्थोपार्जन ही है और अर्थशास्त्र के पूरे अध्ययन में नीतिशास्त्र का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इसलिए वेश्यावृत्ति शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से एक माता या गृहपत्नी के कार्य से अधिक लाभप्रद है। उसने बताया कि एक माता या गृहपत्नी के कार्य का मूल्यांकन दो नौकरानियों के कार्य के बराबर करने से उसका मूल्य सौ पौण्ड मासिक तक हो सकता है। इसकी तुलना में एक वेश्या हजार दो हजार पौण्ड मासिक तक कमा सकती है। इसलिए आर्थिक दृष्टि से वह माता या गृहपत्नी से अधिक लाभप्रद धंधा करने वाली है। जिस माता को भारतीय संस्कृति में सबसे ऊंचा स्थान और पवित्रतम पद दिया गया है उसे अर्थपरायण समाज ने वेश्या के पतित जीवन से भी घटिया मानकर वेश्या के पांव के नीचे डाल दिया। अर्थ पर धर्म का अंकुश न रहने से मानवता के सभी श्रेष्ठ जीवनमूल्य नष्ट, भ्रष्ट हो जाएंगे। इसलिए भारतीय ऋषियों की भावना का प्रतिपादन करने वाली हमारी चेतावनी है—

धर्मविहीनं अर्थमनर्थम्
यज्ञ विहीनं अर्थं व्यर्थम्।

अर्थात् पाप की कमाई का पैसा अनर्थकारी होता है और समाज कल्याण रूपी यज्ञ में समर्पण किए बिना अर्थ व्यर्थ होता है। डाकू का पैसा अनर्थ है और कंजूस का पैसा व्यर्थ है। अर्थ न अनर्थ होना चाहिए और न व्यर्थ। अर्थ सार्थक तभी होता है जब धर्म के द्वारा कमाया जाए और यज्ञ की भावना से अर्थ लगे।

मानव सेवा संघ के प्रतिष्ठाता स्वर्गीय स्वामी शरणानन्दजी महाराज ने मानव सेवा संघ के 10 नियम में कहा है हमें सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना चाहिए। धन की अपेक्षा धान्य को अधिक महत्त्व देना चाहिए। लोगों को धन का घमण्ड अधिक होता है और धान्य का कम। धन का दुरुपयोग अधिक हो सकता है धान्य का कम। धन से धोखाधड़ी अधिक हो सकती है धान्य से कम। धन केवल बैंकों या तिजोरियों में पड़ा रहता है, वस्तुओं का उत्पादन देश को समृद्धिशाली बनाता है। धन का संग्रह करने वाला कंजूस, आलसी होता है किन्तु वस्तुओं का उत्पादन करने वाला परिश्रमी होता है। अधिक उत्पादन से अधिक लोगों का कल्याण होगा। अधिक लोगों को अधिक सुविधा मिलेगी। उदाहरण के रूप में यदि सरकार के परिवहन कोष में 50 करोड़ रुपया जमा रहे और जनता को यात्रा करने के लिए बसें उपलब्ध न हो तो सरकार के जमा पैसे का क्या लाभ है? यदि सरकार के कोष में खाद्यपूर्ति विभाग में अरबों रुपया जमा रहे और जनता अन्न के अभाव में दम तोड़ती रहे तो वह जमा धनराशि बेकार है। धन वस्तुओं की सुविधा के लिए ही है। अपने आप में उसका कुछ महत्त्व नहीं। अब वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व अधिक है। यदि गोदाम में अनाज भरा हुआ है और बाहर व्यक्ति भूखों मर रहे हैं तो उस अन्नभण्डार का कोई लाभ नहीं। औषधि यदि अलमारी में बंद पड़ी रहे और रोगी तड़प-तड़प कर मर जाए तो औषधि निरर्थक है। सिक्का वस्तुओं के क्रय और उत्पादन के लिए ही बना है और वस्तुएं मानव के सदुपयोग के लिए ही बनी हैं। किन्तु मानव को विवेक न रहे तो वह वस्तुओं का उचित सदुपयोग भी नहीं कर सकता। मानव के सामने विष और रसायन दोनों वस्तुएं पड़ी हैं। उसे विवेक से जानना है कि उसके लिए कौन अधिक कल्याणकारी है। दूध और शराब में से किसको चुनें किसको त्यागें, यह विवेक से ही मार्गदर्शन मिलता है। यदि वस्तुओं के भण्डार को देखकर बहुत से व्यक्ति टूट पड़ें कि वस्तु तो व्यक्ति के लिए होती है तो वस्तुओं को लूटने की चेष्टा करने वाले अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा कोई विवेकयुक्त व्यक्ति अधिक ऊंचा मार्गदर्शन कर सकता है। अनेक लोगों के एक साथ भण्डार पर टूट पड़ने से वस्तुएं भी नष्ट हो जाएंगी और व्यक्ति भी परस्पर संघर्ष में हताहत हो जाएंगे। अतः व्यक्ति से भी उसका विवेक अधिक मूल्यवान है। एक विवेकी व्यक्ति सैकड़ों अविवेकी व्यक्तियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। विवेक का उपयोग सत्य की खोज के लिए है। विवेक वस्तुओं को परखने के लिए ही नहीं है, वह असत्य को त्यागकर सत्य को प्राप्त करने के लिए है। विवेक की सार्थकता इसी में है कि वह सत्य की खोज कर सत्य के साथ अभिन्न हो जाए।

भारतीय संस्कृति के चार पुरुषार्थों में से अर्थ सबसे छोटा एवं प्रारम्भिक पुरुषार्थ है। कुछ विचारक काम को सबसे छोटा पुरुषार्थ मानते हैं। किन्तु अर्थ अपने आप में पूर्णतः जड़ है। पैसे में न जीवन है न ही चेतना। धान्य में कुछ प्रारम्भिक स्तर का जीवनतत्त्व मिलता है। काम बिना मानसिक चेतना के हो ही नहीं सकता। धर्म बौद्धिक एवं नैतिक चेतना पर निर्भर करता है। और मोक्ष आध्यात्मिक चेतना से ही सम्भव है। जड़ अर्थ एवं अन्य जड़ पदार्थों के निरन्तर चिन्तन एवं उपार्जन हेतु कार्यकलाप से धीरे-धीरे चेतन मनुष्य के जड़प्रायः हो जाने का भय रहता है। अतः अर्थ के व्यापार पर मानसिक, बौद्धिक एवं नैतिक नियंत्रण अनिवार्य है। मानव की भूख चार स्तर की है। वह कुछ भौतिक सम्पदा चाहता है, उसका चाहना कामना कहा जाता है। इसका उत्तर काम के आदर्श से दिया जाता है। किन्तु कामनापूर्ति के लिए अर्थ भी आवश्यक है। अतः अर्थ की भूख का उत्तर भारतीय संस्कृति के अर्थ के आदर्श से दिया जाता है।

अर्थ और काम, दोनों अन्योन्याश्रित एवं एक-दूसरे के पूरक, उत्तेजक एवं सहायक बन जाते हैं। अर्थ की इच्छा भी एक दृष्टिकोण से काम के अन्तर्गत ही आ सकती है क्योंकि अर्थ की कामना भी कामना ही है। अर्थ में कामनापूर्ति के साधन खरीदने की शक्ति रहती है। अतः अर्थ द्वारा वर्तमान कामनाएं भी पूरी होती हैं और भावी कामनाओं को पूरा करने का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है। इसलिए कुछ विचारकों का मत है कि अर्थ काम से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली है। उनका यह मत है कि अर्थ और काम के संघर्ष में मनुष्य को काम को दबाकर भी अर्थ को बचा लेना चाहिए क्योंकि अर्थ भावी कामनाओं को पूरा करने का साधन है। समस्त पशु-पक्षी जगत् में काम (कामना) सर्वत्र अपना खेल खेल रहा है। किन्तु अर्थव्यापार केवल मनुष्य में ही पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में अर्थ, धन के साथ धान्य को भी सम्मिलित करता है। पशु-पक्षी प्रायः एक दिन का भोजन प्राप्त कर संतुष्ट हो जाते हैं। वे अन्नभण्डार या मालगोदाम नहीं बनाते। हां कुछ छोटे जीव जैसे चींटियां और मधुमक्खियां संकट के दिनों के लिए कुछ भोजन जमा कर रखती हैं। किन्तु उस भण्डार के संग्रह में भी वे मिलकर सामूहिक प्रयास करती हैं और उसका उपभोग भी सामूहिक स्तर पर करती हैं। मनुष्य के पास अर्थ भण्डार बढ़ जाने पर वह अधिक स्वार्थी बन जाता है। धन की अधिकता से उसकी कामनाएं भी और बढ़ जाती है। धन, कामाग्नि को भड़काने में ईंधन का काम करता है। इस प्रकार अर्थ काम का उत्तेजक बन जाता है। अर्थ हमारा भौतिक एवं आर्थिक आदर्श है। काम हमारा मनोवैज्ञानिक आदर्श है। धर्म हमारा नैतिक आदर्श है। और मोक्ष हमारा आध्यात्मिक आदर्श है।

भारतीय संस्कृति में अर्थ का उचित स्थान एवं महत्त्व है। किन्तु उसे अनुचित रूप से अधिक महत्त्व देने से जीवन की सारी सुन्दरता नष्ट हो जाती है।

जैसे शरीर में पहनने के लिए जूता अनिवार्य है पर उसके अपने उचित स्थान पर ही रहने से मर्यादा का निर्वाह एवं अपना कल्याण हो सकता है। जूते को अनिवार्य मानकर सिर पर उठा लेने से जूता निरुपयोगी हो जाएगा और अपना तिरस्कार होगा। जब अर्थ ही सर्वोपरि हो जाता है तब प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति अर्थ की तुलना में घटिया माना जाने लगता है। तब अर्थ के लिए ईमान बिकने लगता है, सम्मान लुटने लगता है। और पवित्र जीवनमूल्य पैसे पर नीलाम होने लगते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कलयुग में ऐसे अर्थप्रधान युग का चित्र खींचा है—

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं।
उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं।

वे पुनः लिखते हैं—

ऊंचे-नीचे करम, धरम, अधरम करि,
पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी।

उस काल में अर्थ प्रलोभन एवं पद प्रलोभन के वशीभूत होकर बड़े-बड़े राजपूत राजाओं ने अपना आत्मसम्मान बेचकर अपनी मां-बहनों की डोली मुगल दरबार भेजनी प्रारम्भ कर दी थी। अर्थपरायण व्यक्ति सिद्धान्तहीन हो जाता है। वह सिद्धान्त के लिए न अर्थ समर्पित कर सकता है और न प्राण का बलिदान। इसके विपरीत वह पैसे के प्रलोभन में सिद्धान्त का भी बलिदान कर सकता है और बहुत बार प्राण भी खो बैठता है। जिस अर्थ के लिए वह प्राणों का जोखिम उठाता है वह अर्थ भी हाथ नहीं लगता और प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है। इसीलिए अर्थ पर धर्म का अंकुश परम अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति कहती है अर्थ धर्म के लिए साधन है, अपने आप में साध्य नहीं। अर्थ की धन्यता इसी में है कि वह धर्म के लिए काम आ सके। अन्यथा वह मिट्टी-पत्थर के तुल्य ही है।

अर्थ की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी हैं। जब समुद्र मंथन से लक्ष्मी का उदय हुआ तो देव और दानव सभी उसे प्राप्त करने के लिए ललचाने लगे। किन्तु भगवान् विष्णु नितान्त उदासीन भाव से कुछ भी कामना न करते हुए एकांत में एक ओर आसीन थे। लक्ष्मी ने सोचा जो मेरे प्रति उदासीन है, जो मेरे लिए तनिक भी ललचाता नहीं है वही मेरा स्वामी होने योग्य है। लक्ष्मी ने अपने को तनिक भी न चाहने वाले विष्णु भगवान् के गले में वरमाला पहना दी। महात्मा कबीर ने लिखा है—

माया छाया एक सी, विरला जाने भेद।
भक्ता के पीछे फिरे, सन्मुख भागे सोय।।

अर्थात् माया और छाया दोनों का स्वभाव एक जैसा होता है। जो व्यक्ति इनसे भागता है यह उसी के पीछे भागती है। और जो इनके सामने आ जाता है

उससे वह स्वयं भागने लगती है। यदि व्यक्ति के पीछे छाया हो और वह आगे भागे तो छाया भी उसके पीछे-पीछे भागती है। इसके विपरीत यदि वह मुड़कर छाया की ओर अपना मुंह करके भागने लगे तो स्वयं छाया ही उससे आगे-आगे भागने लगती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति माया (धन-सम्पत्ति) से मुंह मोड़कर भागता है, धन-सम्पत्ति उसके पीछे-पीछे भागती है। इसके विपरीत यदि वह माया की ओर मुख करके उसका पीछा करे तो माया ही आगे-आगे भागती जाती है और उसकी पकड़ में नहीं आती। स्वामी रामतीर्थ ने इसी भाव को अपने एक पद में गाया है—

भागती फिरती थी दुनिया, जब करते थे हम तलब।
जब हमें नफरत हुई तो बेकरार आने को है।।

धन के लिए निरन्तर बेचैन रहने वाला व्यक्ति एक भिखारी के समान भीख का कटोरा उठाए हुए सदा हाय-हाय करता रहता है और उसे धन का लोभ सदा नचाता रहता है।

गुरु नानकदेव ने लिखा है—

सकल सृष्टि का राजा दुखिया, हरि का नाम जपत होय सुखिया।

भारतीय परम्पराओं में जो व्यक्ति सारे अर्थ व्यापार को, अर्थ और आर्थिक जगत् को ठोकर मारकर संन्यासी बन जाता है उसे स्वामी कहा जाता है। यह विस्मय की बात है कि जिसने सब स्वामित्व छोड़ दिया वह स्वामी कहलाया। इसकी तुलना में जिन्होंने आर्थिक जगत् का स्वामित्व पकड़ रखा है उन्हें कोई स्वामी नहीं कहता। क्योंकि वास्तव में वे अर्थ के बंदी या धन के गुलाम ही हैं। धन की गुलामी या आजादी की कसौटी यह है कि क्या धन हमें ममता में बांध कर किसी महान् कार्य के लिए उत्सर्ग से रोकता है या हम धन को स्वेच्छानुसार किसी महत् कार्य के लिए उत्सर्ग कर सकते हैं। कबीर ने काम और अर्थ के बंधन से मुक्ति को ही सच्ची शहनशाही कहा।

चाह गयी चिन्ता गयी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कुछ नहीं चाहिए, वे शाहन के शाह।।

ममता की परिधि को या तो घटाते-घटाते शून्य पर ले आवें तब मुक्ति हो जाए अथवा उसे बढ़ाते-बढ़ाते विराट् तक ले जाएं तब मुक्ति हो जाए। भक्त कहता है मेरा कुछ भी नहीं। ज्ञानी कहता है सारा विश्व ब्रह्माण्ड मेरा-ही-मेरा है।

लक्ष्मी के स्वरूप का विवेचन

लक्ष्मी का एक नाम है मां। जिसका अर्थ है माता। मां के धव (स्वामी) होने के कारण विष्णु को माधव कहा जाता है। मां लक्ष्मी विश्व की माता है जो विश्व

का पालन करती हैं। प्रकृति माता या लक्ष्मी माता हमारे पालन के लिए ही है, भोगने के लिए नहीं।

लक्ष्मी का लक्ष्मी नाम भी महत्त्वपूर्ण है। वह ऐसी माता है जो हमें जीवन के अन्तिम लक्ष्य नारायण तक पहुंचा देती है। जैसे माता अपने बच्चे को सजा-संवार कर पिता की गोदी में पहुंचा देती है उसी प्रकार लक्ष्मी का वास्तविक कार्य नारायण से मिलाना ही है। जिस प्रकार बच्चे के गंदा, मैला-कुचैला बने रहने पर पिता उसे गोदी में बिठाने को तैयार नहीं होता। माता द्वारा स्नानादि से पवित्र एवं वस्त्र मंडित, श्रृंगार विभूषित हो जाने पर माता जब उसे अंगुली पकड़कर पिता के पास ले जाती है तो पिता उसे स्वयं चाव से गोदी में बिठा लेते हैं। उसी प्रकार सच्ची लक्ष्मी हमें भगवान् की गोदी में बैठने योग्य बना देती है।

पुत्र को पिता का परिचय मां ही दे सकती है। यदि मां न हो तो कोई पुत्र अपने पिता को पहचान ही नहीं सकेगा। अतः सच्ची लक्ष्मी हमें जगत्पिता, परमेश्वर का परिचय देकर हमें उनके सच्चिदानन्द साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना देती है। जिस प्रकार वनवासिन् सीता ने जंगल में पलने वाले अपने बालकों लव-कुश को राम का परिचय कराकर रामराज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। जिस प्रकार वनवासिन् शकुन्तला ने अपने नन्हे बालक भरत को दुष्यन्त का परिचय कराकर सारे भारत के साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। उसी प्रकार नारायण की नित्य सहचरी लक्ष्मी माता प्रभुकृपा से वंचित और प्रभुचरणों से बिछड़े हुए जीवों को प्रभु का परिचय कराकर प्रभु के अमर साम्राज्य का सच्चा उत्तराधिकारी बना देती है। जो लक्ष्मी प्रभु से मिलाने के स्थान पर प्रभु से विलग करने वाली है वह सच्ची लक्ष्मी नहीं है। क्योंकि कोई भी सदाचारिणी एवं पतिव्रता माता अपनी संतानों को अपने ही स्वामी के विरुद्ध विपरीत या विलग करने की प्रेरणा नहीं दे सकती है।

इस दृष्टिकोण से लक्ष्मी के दो स्वरूप हैं। सुलक्ष्मी और कुलक्ष्मी। सुलक्ष्मी तो वह पवित्र मातृरूपा धन-धान्य सम्पदा है जो प्रभु से मिलाने वाली है।

लक्ष्मी के दो रूप

सुलक्ष्मी

विवेकी जीव लक्ष्मी को सदा नारायण की पोषणशक्ति और जगन्माता मानकर उससे पोषण ही मांगता है भोग को नहीं। वह लक्ष्मीपुत्र रहने में ही संतोष मानता है, लक्ष्मीपति बनने की घटिया आकांक्षा कभी नहीं रखता। लक्ष्मीपति

कुलक्ष्मी

कुलक्ष्मी सोने-चांदी के ठीकरों के रूप में अन्याय, अनीति, अधर्म से उपार्जित पाप की कमाई है जो नारायण से अलग करने वाली है। यह माया, अविद्यारूपी विपरीत शक्ति है जो प्रारम्भ में प्रलोभन के पाँसे फेंक करके जीव की

तो सदा सर्वदा के लिए नारायण ही हैं। उसे लक्ष्मी माता के पूजन का प्रसाद भर चाहिए जिससे उसका एवं उसके परिवार का समुचित पालन पोषण होता रहे। उसकी लक्ष्मी माता या प्रकृति माता पर अधिकार करने की आकांक्षा कभी नहीं होती।

सुलक्ष्मी कमलासना, पद्मासना है। उसका आसन कमल है जो निर्लिप्तता का पावनतम प्रतीक है। जल में अंकुरित है, जल में वर्धित है, जल में पल्लवित-पुष्पित एवं क्रीडामण्डित होकर भी, जीवन के आदि से अन्त तक जल के भीतर रहकर भी कमलपत्र जल से लिपायमान नहीं होता। भगवान् के सगुण स्वरूप, भगवान् के अंगों की उपमा के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रतीक कोई मिलता है तो वह कमल ही है—

नव कंज लोचन कंज मुख....

गोस्वामी तुलसीदासजी राम की स्मृति में गाते हैं, जिनके नेत्र कमल के समान हैं, जिनकी दृष्टि सदा निर्लिप्त है। देखें सभी (कुछ) किन्तु फंसे कहीं नहीं। जिनका मुख कमल के समान है। वाणी निर्लिप्त और रसना लोभमुक्त है। जिनके हाथ कमल के समान हैं (जो समस्त कर्मों से अलिप्त हैं, जो देन-लेन में निष्काम और निर्लिप्त हैं)। जिनके चरण कमल के समान हैं (अर्थात् उनकी गति असंग एवं अलिप्त है। चरण जाते हैं सब स्थान पर किन्तु फंसते कहीं नहीं)। भगवान् ने गीता में भी ब्रह्मसमर्पित कर्म करने वाले को परीक्षा लेती है और जीव के प्रलोभन में फंस जाने पर उसे अर्थलोलुप, स्वार्थी, कामी, ईर्ष्यालु बनाकर और उसके विवेक पर मोह-ममता का मायावी पर्दा डालकर उसे नारायण से मिलने के योग्य भी नहीं रहने देती।

कुलक्ष्मी का वाहन है उलूक। जो दिन के प्रकाश के प्रति भी अंधा रहता है। जो सोने-चांदी के ठीकरों को ही लक्ष्मी मानकर उनका बोझा उठाए रहते हैं वे लक्ष्मी के वाहन उलूक के समान विवेक के प्रति अंधे हो जाते हैं तथा अनेक कुकर्म करने लगते हैं। कालाधन, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी, धोखाधड़ी, तस्करी, जालसाजी आदि साधनों से धन-संग्रह करने वाले इसलिए तिरस्करणीय हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने चेतावनी दी है—

शंकर कोप सो, पाप को दाम।
परीक्षित जाह है जारी को दिया।।

अर्थात् भगवान् शंकर के कोप से पाप का पैसा निश्चय ही कलेजा जलाकर जाता है। यह परीक्षित सिद्धान्त है।

कमलपत्र के समान पापपंक से अलिप्त बताया है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्रमिवाम्भसा।। 5/10, गीता

स्वामी रामतीर्थ ने इसी भाव को गाया है—

आदमी को चाहिए
दुनिया में रहना किस तरह
जिस तरह तालाब के
पानी में रहता है कमल

पंक में उत्पन्न होकर पंक से नितान्त अलिप्त रहने वाला पंकज प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ वरदान एवं भारतीय संस्कृति का सबसे सुन्दर एवं अर्थगम्भीर प्रतीक है। धन लक्ष्मी का पद्मा या कमला रूप यह संदेश देता है कि अपार धन-सम्पत्ति के होने पर भी हमें सर्वदा निर्लिप्त एवं निष्काम रहना चाहिए। जो इस प्रकार धन होने पर भी धनमद एवं ममता से मुक्त रहता है वही सच्चा लक्ष्मी का उपासक है।

(ख) सुलक्ष्मी भी धर्म से आती है और संयमपूर्वक सदुपयोग की जाती है। सुलक्ष्मी में धर्म के बीज के कारण थोड़ी मात्रा में होने पर भी बहुत बड़ा मंगल करती है।

वनवासी राम के पास धन का नितान्त अभाव था किन्तु धर्म उनके पक्ष में था। चारित्रिक लक्षण उनके पास थे। वनवासी पांडवों के पास लौकिक

(ख) कुलक्ष्मी अधर्म एवं अन्याय से उपार्जित होती है, अनर्थ में जाती है या व्यर्थ में नष्ट हो जाती है।

कुलक्ष्मी बहुत बड़ी मात्रा में होने पर भी कल्याण के स्थान पर नाश का हेतु बनती है।

रावण के पास सोने की लंका तो थी किन्तु धर्म चरित्र नहीं था।

दृष्टि से धन-सम्पत्ति नहीं थी। किन्तु धर्म, नीति, मर्यादा और चरित्र लक्ष्मी अवश्य थी।

(ग) सुलक्ष्मी आन्तरिक गुणों की लक्ष्मी अधिक है और बाह्य सुख-साधनों की लक्ष्मी कम है। इसी को भगवान् ने गीता में दैवी सम्पद् अर्थात् देवताओं की सम्पत्ति, दैवी गुणों की सम्पत्ति कहा है—

अभयं
सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप
आर्जवम्।। 16/1, गीता

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः
शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं
ह्रीरचापलम्।। 16/2, गीता

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो
नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य
भारत।। 16/3, गीता

अभय, भावसंशुद्धि, ज्ञानयोग व्यवस्थितः (ज्ञान योग में निरन्तर स्थिति), दान, इन्द्रियदमन, तप, स्वाध्याय, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निंदा का अभाव, भूतदया, लालच का अभाव, कोमलता, लोकलज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धीरज, पवित्रता, अद्रोह, निरभिमानिता—ये सब दैवी सम्पद् के लक्षण हैं। ये लक्ष्मी चारित्र्य लक्ष्मी है। ये नारायण से मिलाने

कौरवों के पास सारे भारत की राज्यलक्ष्मी थी किन्तु चारित्रिक लक्ष्मी नहीं थी।

(ग) कुलक्ष्मी आसुरी सम्पदा है। बाहर के सुख साधन प्राप्त करके भी मनुष्य भीतर से कंगाल ही रहता है। इसके लक्षण इस प्रकार हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः
पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ
सम्पदमासुरीम्।। 16/4, गीता

कुलक्ष्मी रूपी आसुरी सम्पदा निम्नलिखित दुर्गुणों के रूप में प्रकट होती है—पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोर वाणी एवं अज्ञान। भगवान् आसुरी सम्पदा का परिणाम बताते हैं बंधन।

'निबन्धायासुरी मता'

अर्थात् आसुरी सम्पदा बंधन का कारण होती है। कुलक्ष्मी अपरा प्रकृति के समान मायारूपिणी, अविद्यारूपिणी, बंधनकारिणी होती है।

आज के भौतिकवादी अर्थ सर्वस्व समाज में आसुरी सम्पदा का ही बोलबाला है। जिस पश्चिम का अंधानुकरण करने का प्रयास आज का भारतीय नवयुवक कर रहा है उस पश्चिम में अति अर्थपरायणता के कारण परिवार नाम की संस्था तो प्रायः उजड़ ही चुकी है। परिवार में परस्पर स्नेह, सहयोग, त्याग, तितिक्षा का भाव लुप्त होता जा रहा है और उसके

वाली है। इसे ही भगवान् शंकराचार्य मोक्षसाम्राज्य लक्ष्मी कहते हैं। यह भगवान् की परा प्रकृति के समान भगवान् की ज्योति को प्रकट करने वाली है। इसे भगवान् ने 'दैवीसम्पद् विमोक्षाय' कहा है। अर्थात् दैवी सम्पदा मोक्ष देने वाली है। प्रभु की प्रपत्ति से जो यह दैवी सम्पत्ति मिल जाती है उसके बाद कभी भी विपत्ति का मुख नहीं देखना पड़ता या विपत्ति को अवसर नहीं मिलता।

(घ) भगवान् ने गीता में दैवी सम्पदा में जितने गुण बताए हैं उनमें सबसे प्रथम अभयम् (निर्भयता) और अन्तिम निरभिमानिता बताया है। निर्भय होने से भयमुक्त हो गया और अभिमान रहित होने से मोहमुक्त हो गया। मोहमुक्ति से शोकमुक्त भी हो गया। अतः भय और शोक से मुक्ति ही दैवी सम्पदा का अथ और इति है। सद्गुणों की भक्ति का अगुआ अभय है। किन्तु अभय होने से कई लोग अभिमानी होकर दुस्साहसी कर्म करने लगते हैं, जैसे डाकू मानसिंह या डिक्टेटर हिटलर। इसलिए दैवी सम्पदा में स्थान पर स्वार्थ, ईर्ष्या, स्पर्धा, संघर्ष, अवसरवादिता का दाव-पेंच चल रहा है। एक भारतीय धर्मपत्नी को अपने पति के चरणों में वंदना करते देख हमारे एक अमेरीका से समागत मित्र ने कहा, 'India is wonderful where the hands of wives are at the feet of their husbands' मेरी जिज्ञासा पर उसने कहा, 'In the west, the hands of wives are in the pockets of their husbands.' पश्चिम में स्त्रियां धन की शिकारी बनी हैं और पुरुष रूप के शिकारी। पति के स्नानालय या इधर-उधर जाते ही पत्नी पति की जेब में हाथ फेर लेती है। अधिक धनवान पुरुष मिलने पर पति को तलाक देकर नया पति चुन लेती है। इसी प्रकार पुरुष अधिक रूपवती स्त्री मिलने पर पिछली पत्नी को तलाक दे देते हैं।

(घ) आसुरी सम्पद् में भगवान् ने छह दुर्गुण गिनाये हैं। उनमें मुख्य रूप से अहंकार और अज्ञान ही हैं। इन्हीं के रूपान्तर छः दुर्गुणों के रूप में गिनाये जा सकते हैं। वास्तव में अज्ञान ही मोह है और मोह का एक माध्यम अहंकार है। इसलिए कहा जा सकता है कि सब दुर्गुणों का मूल कारण अज्ञान (मोह) ही है।

दम्भ, दर्प तथा अभिमान में थोड़ा-थोड़ा भेद है।

(i) **दम्भ**—झूठा आडम्बर या पाखण्ड है। लोगों को ठगने के लिए अनधिकृत रूप से कुछ बनने की चेष्टा

निरभिमानिता (विनम्रता, शालीनता), अहंकारशून्यता भी परमावश्यक है। अभय होने से किसी से डरेगा नहीं और निरभिमान होने से किसी को डराएगा या सताएगा नहीं।

दम्भ है। जैसे बहुरुपिया मनोविनोद के लिए कोई स्वांग रचता है, उसी प्रकार यदि लोगों को ठगने या धमकाने के लिए दूषित भावना से स्वांग रचा जाए तो वह दम्भ है। रावण का सीताहरण हेतु साधुवेश में आना पाखण्ड है।

(ii) **दर्प**—इसका अर्थ है फूला हुआ अहं। कोई अपने आपको बहुत सुन्दर मानकर आवश्यकता से अधिक गर्व करने लगता है। किसी को धन का मद, किसी को पद का मद, किसी को विद्वत्ता का मद, किसी को बल का मद हो जाता है। और वह उसी मद में खूब फूल जाता है। इसे ही दर्प कहते हैं। रावण को अपनी शक्ति का दर्प था। दुर्योधन-दु:शासन एवं कर्ण भी दर्प से दग्ध थे। दर्पण को इसलिए दर्पण कहा जाता है क्योंकि वह देखने वाले के सौन्दर्यरूपी दर्प को बढ़ाता है। सेना को देखकर सेनापति का दर्प बढ़ जाता है।

(iii) **अभिमान**—वैसे तो दम्भ, दर्प और अभिमान तीनों ही अहंकार के रूप हैं। किन्तु दम्भ, दुष्टभावना से रचा हुआ बनावटी अहंभाव है। दर्प प्रशंसा या आत्मश्लाघा से फूला हुआ अहंकार है और मूल अविद्या के कारण अपने वास्तविक मैं को भूलकर शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को ही मैं मान लेना अभिमान है।

अभिमान = शरीर आदि को मैं मानना = सामान्य लोगों का अज्ञान।

(ङ) हम प्रतिदिन प्रातः स्मरण में कहते हैं—'कराग्रे वसति लक्ष्मी।'

अर्थात् पुरुषार्थ से ही लक्ष्मी मिलती है। प्रतिदिन प्रातःकाल हाथ में लक्ष्मी के दर्शन करने का भाव यह है कि मैं इन हाथों से पुरुषार्थ करके पवित्र लक्ष्मी का उपार्जन करूंगा। इन हाथों से मैं न किसी की जेब काटूंगा, न गला काटूंगा, न कम तोलूंगा, न झूठे दस्तखत करूंगा, न लेखे में गोलमाल करूंगा, न छलकपट से या चालाकी से झूठे मुकदमे या झूठे अधिकारपत्र द्वारा किसी की सम्पत्ति को हथियाऊंगा। चोरबाजारी या पाप के धन को स्पर्श नहीं करूंगा। देन और लेन में ईश्वर को साक्षी मानूंगा। तब मेरे हाथ में सच्ची लक्ष्मी के दर्शन होंगे।

दर्प= पद के मद में फूला हुआ अहं = कुछ धन या पद प्राप्त होने पर उसका अहंकार।

दम्भ—दुष्ट भावना से बनाया हुआ कृत्रिम रूप = चालबाज लोगों का ढकोसला, ठगों का मार्ग।

क्रोध और पारुष्य (कठोर वाणी) दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं और एक-दूसरे को उत्तेजना देने वाले हैं। क्रोध काम में बाधा से होता है और काम अज्ञानमूलक ही होता है।

दम्भी-दर्पी, अभिमानी, क्रोध में कठोर वाणी बोलते हैं। क्रोध का कारण क्या है?—किसी कामना में बाधा आना। कामना पैदा क्यों हुई?—क्योंकि अविद्या या अज्ञान था।

(ङ) कुलक्ष्मी को चंचला कहा गया है। वह टिकती नहीं। कबीर के शब्दों में, 'माया महाठगिनि हम जानी'। वे पुनः लिखते हैं—

—'रमया के दुलहिन लूट्यो बजार।'

—अर्थात् नारायण की सहचरी लक्ष्मी चंचला बनकर संसाररूपी बाजार को लूट रही है। शास्त्र में कहा है कि लक्ष्मी वहां से भाग जाती है जहां कलह हो, जहां शील का अभाव हो, जहां व्यसन हो, जहां जुआ हो, जहां झूठ या छलकपट हो, जहां अपवित्रता हो। जहां असंयम हो तथा जहां धन अनर्थ या व्यर्थ हो।

लक्ष्मी एवं सरस्वती का विवाद

लक्ष्मी एवं सरस्वती का विवाद—प्राय: यह मान्यता रूढ हो गई है कि लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनों एक साथ नहीं रह पाती। बड़े-बड़े सेठ, साहूकार प्राय: विद्या, कला आदि के वरदानों से वंचित रहते हैं। दूसरी ओर बड़े-बड़े विद्वान् कलाकार, मनीषी आदि प्राय: निर्धनता में पलते रहते हैं। तुलसीदास, कबीर, रविदास, रामतीर्थ, प्रेमचंद, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, तिलक, मालवीय आदि की अतिशय निर्धनता तथा दूसरी ओर निजाम (हैदराबाद), जयपुर नरेश, बिड़ला, डालमिया, बागड़ आदि की अथाह धन-सम्पत्ति मानव को विस्मय में डालने वाली है। सरस्वती पुत्रों से लक्ष्मी क्यों रुष्ट रहती है। यह एक पहेली बनी हुई है। संस्कृत के एक कवि भारवि अपनी काव्यरचना में मगन रहते और घर में भोजन पकाने हेतु एक अन्न का दाना नहीं होता था। भोजन मांगने पर उनकी पत्नी ने कहा—क्या मैं आपकी कविता को ही चूल्हे पर पकाकर खिलाऊं? बेचारा कवि कविता बेचने गया किन्तु कोई ग्राहक न मिला। अन्त में एक व्यापारी के पास अपनी कविता को गिरवी रखकर दस मुहर उधार मांगकर लाया। व्यापारी ने कविता का पुलिंदा एक ओर ताक पर रख दिया। अरसे तक पड़ा रहने से उसका एक भाग नीचे लटक आया था। व्यापारी व्यापार हेतु 16-17 वर्ष के लिए विदेश चला गया। जब लौटकर आया तो अपनी पत्नी के साथ उसकी शय्या पर एक नौजवान को लेटा देखकर उसे बहुत क्रोध आया। उसने तलवार खींचकर दोनों को काटने का विचार किया तभी दीवार से लटकी हुई कविता की पंक्ति पर उसकी दृष्टि पड़ी। जिस का भाव था उतावला सो बावला। उसने तलवार को वापस म्यान में रखा और सोचा कि पहले पत्नी से उत्तर मांग लूं कि वह ऐसा आचरण क्यों कर रही है। अचानक तलवार के म्यान में डालने की आहट को सुनकर पत्नी की नींद खुल गई। उसने पति के चरणों में प्रणाम करते हुए नौजवान को जगाया और कहा—बेटा! उठ, तेरे पिताजी आए हैं। उसने पति को समझाया कि यह वही उनका प्यारा बेटा है जिसको एक वर्ष की अवस्था में छोड़कर विदेश गए थे। कल रात्रि को तेज बुखार होने के कारण उसकी सेवा हेतु माता ने उसे अपने निकट सुला लिया था। पुत्र ने जागकर पिता को प्रणाम किया तब पिता ने उसे हृदय से लगा लिया। व्यापारी को अपने पहले के संकल्प पर बहुत पछतावा हुआ। यदि वह दोनों को काट देता तो आज उसका सारा परिवार सर्वनाश को प्राप्त हो जाता। बाद में कवि भारवि जब 10 मुद्रा लेकर व्यापारी के पास उधार लौटाने के लिए गया तो व्यापारी ने कहा—10 मुद्रायें लौटाने के बजाय मुझसे 10 हजार मुद्राएं और ले जाओ। तुम्हारी कविता ने पूरे परिवार की प्राणरक्षा की है।

यह सच है कि सरस्वती के उपासक को प्रारम्भ में अनेक-अनेक आर्थिक कष्ट झेलने पड़ते हैं। किन्तु अन्त में लक्ष्मी भी उस पर प्रसन्न होती है तथा कल का निर्धन कंगाल कवि एक दिन राजकवि के सिंहासन पर बैठकर राजा का प्रेमपात्र बन जाता है।

सरस्वती के उपासक एक कवि ने सरस्वती को लक्ष्मी से कहीं श्रेष्ठ बताते हुए कहा है—

हे लक्ष्मी! तू थोड़ी देर के लिए मन को प्रलुब्ध कर नचाने वाली है और मरने पर साथ भी नहीं देती, यहीं की यहीं धरी रह जाती है। तू तो ठगने वाली वारांगणा के समान है जो प्रलुब्धकर सब कुछ छीन लेती है। सरस्वती ही मेरी सच्ची माता है जो विद्या का प्रकाश देती है। इहलोक में भी साथ देती है तथा परलोक में भी यह विद्यारूपी देवी साथ चलती है। धन-सम्पत्ति को तो कालरूपी डाकू यहीं छीन लेता है किन्तु विद्या को काल छीन नहीं सकता। यह जन्म-जन्मान्तर तक साथ देने वाली सच्ची माता, भगवती सरस्वती है।

इस तुलना में वास्तव में सरस्वती और कुलक्ष्मी की तुलना है। मरने पर धन-सम्पत्ति (मुद्रा, पैसा, धरती, खेती आदि) साथ नहीं जाती किन्तु सच्ची लक्ष्मी दैवी सम्पदा अवश्य साथ जाती है। अतः सरस्वती और सुलक्ष्मी में कोई विरोध नहीं है। सच्ची लक्ष्मी जैसे नारायण से मिलाने वाली है उसी प्रकार सच्ची सरस्वती, गायत्री, सावित्री, दुर्गा, काली आदि भी परमेश्वर से मिलाने वाली ही हैं। वैसे ब्रह्म 'एकमेवद्वितीयम्' ही है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसी एक ही ब्रह्मसृष्टि के तीन रूप हैं। उसी प्रकार उमा, रमा, ब्रह्माणी यह तीनों भी एक ही प्रकृति माता के स्वरूप हैं जिनमें तत्त्वतः कोई अन्तर या विरोध नहीं है।

मुद्रा लक्ष्मी केवल बाह्य भौतिक सम्पदा है। किन्तु चारित्रिक लक्ष्मी, पावित्री लक्ष्मी, दैवी सम्पदा, रामरत्न धन, पुण्य लक्ष्मी, ज्ञान लक्ष्मी, मोक्ष साम्राज्य लक्ष्मी सब भीतर की दिव्य सम्पदा होने के कारण सरस्वती का वर ही वरदान बन जाता है। अतः लक्ष्मी और सरस्वती में तत्त्वतः अन्तर बचता ही नहीं।

काम

भारतीय संस्कृति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ काम है। काम का आदर्श है जीवन में सांसारिक सुख कामनाओं की प्राप्ति एवं समुत्कर्ष। प्रत्येक मानव के मन में कुछ कामनाएं होती हैं। कुछ शारीरिक कामनाएं, कुछ इन्द्रियों की भूख, कुछ मानसिक कामनाएं होती हैं। कुछ लोभ तथा ईर्ष्या या स्पर्धा के कारण बड़ी ही कृत्रिम कामनाएं जिनका शरीर निर्वाह के लिए विशेष महत्त्व नहीं होता।

काम को भगवान् ने गीता में ज्ञान का सबसे बड़ा शत्रु बताया है। किन्तु भारतीय संस्कृति में काम का आदर्श मात्र कामनापूर्ति का उद्देश्य नहीं है। यह तो कामना को ऐसे समुचित ढंग से पूर्ति करने के विधि है जिससे काम भी तृप्त हो जाए और हम कामरूपी महान् राक्षस के चंगुल से भी बच जाएं। गुरु शिष्य से पूछता है कि कामना की तृप्ति क्यों चाहते हो। शिष्य कहता है कामनातृप्ति से सुख मिलता है। यदि भूख लगी हो, खाना मिल जाए तो तृप्ति का सुख मिलता है। प्यास में पानी मिलने पर, शीत में कम्बल मिलने पर, वर्षा में सिर ढकने का स्थान मिलने पर सुख होता है। गुरु पूछता है क्या यह सुख तुम्हें थोड़े समय के लिए चाहिए या लम्बे समय के लिए चाहिए। शिष्य उत्तर देता है कि लम्बे समय के लिए चाहिए। गुरु पूछता है सुख अधिक चाहिए या कम चाहिए। शिष्य अधिक सुख की मांग करता है। तब गुरु पूछता है क्या थोड़े समय के लिए अधिक सुख चाहिए या अधिक लम्बे समय के लिए सीमित सुख चाहिए। शिष्य के समझ न आने पर गुरु समझाता है क्या एक दिन के लिए हलवा-पूरी, पकवान लेना पसन्द करेंगे और शेष महीना भर भूखे या महीना भर सादा भोजन। शिष्य कहता है, गुरुजी! एक दिन के लिए हलवा-पूरी, पकवान खाने के पश्चात् जब शेष दिन भूखा मरना पड़ेगा तो हलवा-पूरी, पकवान का सब सुख भयंकर दु:ख में बदल जाएगा और बिना भोजन के मौत के मुंह में जाना पड़ेगा। इसलिए क्षणिक तीव्र सुख के लिए जीवन भर के दु:ख का बुलावा देना मूर्खता है। गुरु पुन: पूछता है—क्या तुम यह पसन्द करोगे कि कुछ दिन का भोग जीवनभर का रोग बन जाए। तो शिष्य कहता है—नहीं, ये तो आत्महत्या के तुल्य होगा। हमें तो जीवन के अधिक से अधिक लम्बे काल के लिए कुल मिलाकर अधिक सुख चाहिए। तब गुरु समझाता है कि जीवन में अधिक लम्बे आयुष्य के लिए अधिक अच्छे स्वास्थ्य के लिए अधिक से अधिक लम्बे काल के लिए अधिक से अधिक मात्रा में सुख प्राप्त करने के लिए कामनापूर्ति में संयम का पालन करना अनिवार्य है। यदि मनुष्य विवाह को कामनापूर्ति का लाइसेंस मानकर संयमरहित भोगविलास में डूब जाए तो कुछ काल पश्चात् भोग रोग में बदल जाएगा और व्यक्ति भविष्य के लिए सुखोपभोग के लिए सर्वथा अयोग्य हो जाएगा।

रावलपिंडी में एक सरदार साहब थे जो बहुत बड़ी सम्पत्ति के स्वामी थे। उनका रहन-सहन राजाओं के समान था। उनके घर में नौकर भी नित्य हलवा-पूरी, पकवान खाते थे, कुत्तों तक को भी पकवान मिलते थे। किन्तु परिवार के मुखिया सरदार साहब को डॉक्टरों ने कह रखा था कि यदि वे जौ के पानी के अतिरिक्त कुछ भी सेवन करेंगे तो उनके बचने की आशा नहीं। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में, जवानी के असंयमित भोग के कारण मनुष्य रोगों का शिकार होकर भावी भोगों के लिए सर्वथा अयोग्य हो जाता है—

धर्मविहीनं कामं भोगम्।
संयमहीनं कामं रोगम्।।

यदि मनुष्य में सुखोपभोग की कोई कामना है जैसे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहने, परिवार बनाने, संतान प्राप्त करने, सुख साधनों से जीवन को आरामदेह बनाने, वाहन, साज-सज्जा, वेश-भूषा किसी प्रकार की भी कोई सुख कामना हो तो उसे पूरा करने में कोई आपत्ति नहीं है यदि वह धर्म पर चलते हुए और संयम का पालन करते हुए हो। भगवान ने गीता में स्वयं कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। 7/11, गीता

'हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! जो धर्म के विरुद्ध नहीं है वह काम मैं ही हूं।' वे पुनः कहते हैं—

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः 10/28, गीता

अर्थात् 'प्रजनन करने वालों में मैं कामदेव हूं।' इस दृष्टि से धर्मपूर्वक कामनापूर्ति स्वयं एक ईश्वरीय कर्म ही नहीं स्वयं ईश्वर का रूप ही बन जाता है। काम जैसे मानव के सबसे बड़े शत्रु को धर्म की मर्यादा में बांधकर गृहस्थ धर्म बना देना, काम को धर्म के आशीर्वाद से राम बना देना भारतीय संस्कृति का अद्‌भुत चमत्कार है। एक पवित्र माता या सती साध्वी और घृणित वेश्या दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। काम के सेवन बिना कोई माता माता नहीं बन सकती। किन्तु उसके धर्म और संयम ने उसे पूज्यतम सिंहासन पर बैठा दिया। इसकी तुलना में धर्मविहीन, अमर्यादित एवं संयमहीन काम ने वेश्या को सबसे पतित स्तर तक गिरा दिया। माता या गृह-पत्नी के जीवन में काम गृहस्थ धर्म के पालन के लिए होता है। किन्तु वेश्या के जीवन में काम अमर्यादित भोग विलास के लिए होता है। भारतीय संस्कृति का कथन है कि आपकी जो भी कामना हो उसे धर्म पर चलते हुए पूरा करो और कामनापूर्ति के सुख को संयम के साथ भोगो।

घर चाहिए, तो धर्म पर चलते हुए घर प्राप्त करो। किसी का घर न लूटो, न उजाड़ो। यदि पत्नी चाहिए तो धर्म पर चलते हुए मर्यादानुसार पत्नी, परिवार प्राप्त करो। किसी अन्य की पत्नी को न चुराओ, न भगाओ, न भोगो। न ही मन में ऐसा पाप संकल्प उठने दो। कोठी बंगला कार टी.वी. रेडियो जो भी चाहिए, धर्म पर चलते हुए प्राप्त करो।

काम जैसे घटिया क्षुद्र सिक्के को धर्म अपनी मुहर लगाकर सोना बना देता है। कामभोग एक पाप है। किन्तु गृहस्थ-जीवन एक धर्म है। धर्म भारतीय जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है। यह ऐसा स्वर्णिम सूत्र है जो चारों पुरुषार्थों को

अपने में पिरोये हुए मानव को मोक्ष की ओर ले जाता है। यह ऐसी पारसमणि है जो घटिया भाव के लोहे को छूते ही खरा सोना बना देती है।

काम के विषय में निम्नलिखित बिन्दु विचारणीय हैं—

(1) कामना का मूल उद्गम

(2) कामना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

(3) कामना का परिवार विस्तार

(4) कामना का मनोविश्लेषण

(5) नरक की सात सीढ़ियां

(6) कामना से बंधन

(7) कामवासना

(8) कामदेव

(9) आधुनिक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का कामप्रवृत्ति के विषय में दृष्टिकोण—फ्रॉयड आदि

(10) कामुकता एवं नग्नताप्रधान पाश्चात्य सभ्यता

(11) सौन्दर्य श्रृंगार और काम

(12) भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान—नारी भोग्या नहीं पूज्या

(13) कामप्रवृत्ति का धर्म द्वारा परिष्कार

14) ब्रह्मचर्य एवं संयम द्वारा काम का परिष्कार

(15) योग एवं वेदान्त द्वारा कामजय

(16) कामजय से मोहमुक्ति और मोहमुक्ति से जीवन्मुक्ति (स्थितप्रज्ञ, ब्राह्मीस्थिति)

काम का मूल उद्गम

कामना का अर्थ है—तृष्णा, इच्छा, आकांक्षा, भूख, मांग, Want, Hunger, desire, craving.

प्रश्न है कि जीव में किसी प्रकार की कामना पैदा होती ही क्यों है? अंग्रेजी में Want शब्द के दो अर्थ हैं एक कामना दूसरा अभाव। जब हम कहते हैं कि A thirsty man wants water तब Want कामना के अर्थ में प्रयोग हो रहा है। जब हम कहते हैं Five thirsty men died in desert for want of water तब अर्थ यह है कि मरुस्थल में पांच व्यक्ति पानी के अभाव में मर गए, यहां Want का

अर्थ अभाव है। वास्तव में प्रत्येक कामना अभाव से ही पैदा होती है। यह अभाव वास्तविक हो या कल्पित, यही कामना को पैदा करता है।

निर्धन व्यक्ति पैसे के वास्तविक अभाव से पैसे की कामना करता है और धनी व्यक्ति कल्पित अभाव से, अन्य धनियों की अपेक्षा अपने पास कम धन है इस भावना से लोभ से प्रेरित होकर धन की कामना करता है।

अभाव अपने सच्चे स्वभाव को भुला देने से ही पैदा होता है। मैं तत्त्वतः कौन हूं, किस का अंश हूं, मेरे स्वरूप में कौन-सी निधि गुम्फित है। वास्तव में राजा है या भिखारी, इसका विस्मरण हो जाने के कारण ही मनुष्य अपने भीतर अभाव अनुभव करने लगता है। मानव स्वयं वह नित्य चैतन्य तत्त्व है जो अपने आप में पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम, नित्यतृप्त और नित्यानन्दस्वरूप है जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं और जिसे कोई कामना नहीं। इसी स्वरूप को भूलकर अपने आपको शरीर, मन, इन्द्रिय आदि मान लेने पर अनेक अभावों की प्रतीति होने लगती है। तब शरीर की भूख, इन्द्रिय की भूख, मन की भूख को पूरा करने के लिए मनुष्य अनेक कामनाएं करता है। मानो चक्रवर्ती सम्राट् कामनारूपी भीख का कटोरा लेकर नश्वरता के बाजार में भौतिकता की भीख मांगने लगता है।

अविद्या से अभाव की प्रतीति, अभाव से कामना, कामना से कर्म, कर्म से कर्मफल और कर्मफल के परिपाक हेतु देश-काल का बंधन, काल का पाश। यही संसारचक्र है।

कामना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

कामना मनुष्य को भिखारी बना देती है। यह मनुष्य को अपने अन्तर की शान्ति एवं समृद्धि से वंचित कर बहिर्मुखी बनाकर बाहर का नाच नचाने लगती है। वास्तव में शान्ति और शक्ति तो जीव के भीतर है। किन्तु वह बहिर्मुखी होकर बाहर की वस्तुओं में सुख-शान्ति मानकर उन्हीं के पीछे अंधा-पागल बनकर दौड़ने लगता है। कुछ लोग समझते हैं कि कामना में बड़ी शक्ति है जो मनुष्य को तेज दौड़ने, जोखिम के काम करने तथा वस्तुओं की प्राप्ति हेतु परिश्रम करने में समर्थ बनाती है। वास्तव में यह शक्ति कामना में नहीं वरन् स्वयं हमारे भीतर है। जब हम कामना करते हैं तब हमारे भीतर की शक्ति कामना के माध्यम से व्यय होने लगती है। कामना न शक्ति पैदा करती है न शक्ति को बढ़ाती है। वरन् शक्ति को घटाती ही है। जिस प्रकार ऊंट कंटीली झाड़ियों को चबाता है और उसका अपना मुख जख्मी होकर रक्त निकलने लगता है और भ्रमवश वह उसे ही कांटे का रस मानकर चबाता रहता है। उसी प्रकार कामना के वशीभूत होकर जीव संसार की

भौतिक वस्तु की ओर आकर्षित होता है। वे अपने भीतर का कुछ रस उस वस्तु पर आरोपित कर उसे अपने लिए रसीला मान लेते हैं और फिर उसी के रस के बंदी हो जाते हैं। यदि वस्तु में रस होता तो सदा सभी को सभी परिस्थिति में समान रूप से रस मिलता। किन्तु ऐसा नहीं होता। भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न देशों में, भिन्न-भिन्न कालों में, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में एक ही वस्तु में समान रूप से रस नहीं प्राप्त होता। चित्त की प्रसन्नता में क्षुधा होने पर रसगुल्ले में रुचि होने पर जो स्वाद मिलता है वह शोक की अवस्था में, रोग की अवस्था में, व्रत-उपवास की अवस्था में, यात्रा की जल्दबाजी की अवस्था में, निद्रा की अवस्था में, बेहोशी की अवस्था में, अरुचि की, तिरस्कार की अवस्था में वही रस क्यों नहीं मिलता? रस वस्तुओं में नहीं है। कामना में भी नहीं है। रस तो व्यक्ति के अपने भीतर है। अपने ही रस के कुछ छींटे बाहर की वस्तुओं पर डालकर उन्हें रसीला मान लेते हैं। कोई कुरूप व्यक्ति पर अपना रस उड़ेलकर उसे ही सबसे प्यारा मानने लगता है। कोई कुत्ते से, पक्षी से प्रेम करने लगता है। कोई मदिरा को, अफीम को या अन्य विषैली मादक वस्तुओं को अमृत से ऊंचा मान बैठता है। कोई मुर्गी के गर्भ को (रज-वीर्य मिश्रित अण्डे को), कोई पशु के रक्त को, मांस को स्वादिष्ट मान लेता है। वास्तव में उन वस्तुओं में स्वाद होता तो सबको समान रूप से मिलता। जिस मदिरा के लिए शराबी बेचैन होकर कपड़े फड़वाकर पैसे लुटवाकर पुलिस के डण्डे खाकर घर को उजाड़कर भी रस मानता रहता है, उस मदिरा का पूरा भण्डार बिना पैसे का मिलने पर भी कोई चरित्रवान व्यक्ति उसे ठोकर मारकर नाली में फेंक देता है। Socraties dissatisfied is better than a pig satisfied. अर्थात् एक पेट भरे शूकर की अपेक्षा एक भूखा सुकरात श्रेष्ठ है। काम अभाव से पैदा होता है तथा पश्चात्ताप में समाप्त होता है। काम मनुष्य को व्यर्थ में जीवनभर नचाकर, उसे खूब दौड़ाकर, उसे थकाकर, उसकी समस्त इन्द्रियों का तेज हरणकर, उसकी मन की शक्ति को लूटकर और उसकी बुद्धि को व्यामोहितकर उसके आत्मस्वरूप को छिपाकर अन्त में उसे अपनी व्यर्थता प्रकट कर अपनी असारता-निःसारता दिखाकर पश्चात्ताप से भर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।। 1/26, कठ. उ.

कल तक भोग कहां ठहरेंगे जीर्ण करेंगे इन्द्रिय प्राण।
जीवन अल्प छीन लोगे तुम छीनो नृत्य गीत वाहन।

भर्तृहरि ने लिखा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।

कालो न याता वयमेव याताः
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।
हमने न भोगे भोग, भोगों न हमें भुक्ता दिया
हमने न तापे ताप तापों ने हमें तपा दिया।
काल कुछ गुजरा नहीं उलटे हमें गुजरा दिया
जीर्ण तृष्णायें हुई न हो गये हम जीर्ण।

जिस प्रकार मनुष्य आम के फल को बार-बार उसका रस चूसकर उसका रस शोषणकर अन्त में रसहीन गुठली और छिलके को कूड़े के ढेर में फेंक देता है, उसी प्रकार भोग जीवन भर मनुष्य के जीवनरस का शोषणकर उसके वृद्ध, रोगी और बेकार हो जाने पर उसके सूखे कंकाल को मृत्यु के ढेर पर फेंक देते हैं। मनुष्य भूल से यह समझता रहता है कि मैं भोगों को भोग रहा हूं। किन्तु वास्तव में भोग ही उसको भोगते-भोगते बेकार बनाकर बाहर फेंक देते हैं।

कामना का परिवार विस्तार

काम ही सब मानसिक विकारों का आदिकारण है। काम में बाधा पड़ने से क्रोध पैदा हो जाता है जो काम से भी अधिक भयंकर सिद्ध होता है। क्रोध के लक्षण निम्नलिखित हैं—मुट्ठियां कसना, दांत पीसना, आंखें लाल होना, शरीर में ऐंठन आ जाना, वाणी का ऊंचा हो जाना, सांस का गरम हो जाना, नाड़ी का तेज चलना, हृदयगति का बढ़ जाना, नथुने फूल जाना, ओंठ फड़फड़ाना, मुख से अपशब्द निकलना अथवा रुष्ट होकर ऊपर से वाणी द्वारा कुछ न बोलना किन्तु मन ही मन दुर्भावना की वाणी बोलना, क्रोध दिलाने वाले कारण पर खीजना अथवा क्रोध के कारण व्यक्ति को दण्ड देने की चेष्टा करना। क्रोध मन की एक ऐसी विकृति है जो काम से भी अधिक भयानक हो जाती है। क्रोधरूपी मानसिक आवेग की मूलप्रवृत्ति है वैर या कलह (Pugnacity)। क्रोध में पेट में स्थित एड्रीनल ग्लैण्ड उत्तेजित हो उठते हैं और उनसे निःसृत होने वाला विष (Adrenal) थोड़ी मात्रा में भी रक्त में मिल जाने पर पाचन क्रिया को बिगाड़ देता है तथा रक्तचाप एवं हृदय के स्पन्दन पर घातक प्रभाव बढ़ाता है। इससे मानसिक शान्ति तो नष्ट होती ही है, साथ ही यह छूत के रोग के समान देखने मात्र से ही अपना विषैला प्रभाव फैलाता जाता है। एक व्यक्ति को क्रोध आया तो उसकी देखादेखी दूसरे को, पुनः तीसरे, चौथे एवं सब सदस्यों को क्रोधरूपी राक्षस अपने चंगुल में लेकर नचाने लगता है। आजकल हृदयाघात, रक्तचाप आदि रोगों का मुख्य कारण क्रोध ही है। क्रोध में विपरीत पक्ष के गुण भी दुर्गुण दिखाई देने लगते हैं। क्रोध एक ऐसा कालकूट है जो सबको दग्ध करने लगता है। क्रोध के समय जो विष निकलते हैं उनका दुष्परिणाम कई मास तक चलता रहता है। क्रोधी व्यक्ति को हृदयरोग एवं

रक्तचाप के रोग तो पकड़ ही लेते हैं, इसके साथ उसके चेहरे पर सौम्यता न होकर क्रूरता के चिह्न आ जाते हैं। जहां काम में बाधा होने पर क्रोध पैदा होता है, वहीं काम की पूर्ति हो जाने पर पुनः पूर्ति हेतु लोभ पैदा हो जाता है। लोभ कामाग्नि को ईंधन के समान और भड़का देता है। क्रोध से बुद्धि मोहित होती है और लोभ से भी ममत्व बढ़ता है। इसी को मोह कहते हैं। मोह का ही एक प्रबल माध्यम अहंकार है। इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार—इन पांचों महाशत्रुओं का मूलकारण काम ही है। अतः काम का परिवार समस्त मनोविकारों का ही रूप ठहरता है। और इसी कारण से भगवान् ने गीता में (16/21) काम, क्रोध और लोभ तीनों को नरक का द्वार कहा है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। 16/21, गीता

भगवान् अन्यत्र अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में काम और क्रोध को ही पाप का प्रेरक बताते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। 3/37, गीता

एक स्थान पर भगवान् केवल काम को ही सब पापों का आदि कारण और ज्ञान का शत्रु बताते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। 3/43, गीता

बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार से बलवान और श्रेष्ठ अपनी आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो! अपनी शक्ति को समझकर दुर्जय कामरूप शत्रु को मार। अतः जिसने काम को जीता उसने काम के सारे परिवार को जीत लिया।

कामना का मनोविश्लेषण

मानव मन के दो बड़े स्तर हैं। एक चेतन Conscious और दूसरा अचेतन Unconscious मन। इनके बीच में एक तीसरा स्तर है अवचेतन Semiconscious मन का। श्री अरविन्द चेतन से ऊपर ऊर्ध्वचेतन और अतिचेतन (अतिमानस) स्तर को भी मानते हैं। चेतन मन में वे इच्छायें या कामनाएं रहती हैं जिनका हमें पूरा ध्यान है और उन इच्छाओं को समाज की मर्यादा के अन्तर्गत हम यदाकदा प्रकट भी करते रहते हैं। अचेतन मन में गुप्त, सुप्त, लुप्त इच्छायें, कामनायें या प्रेरणायें दबी रहती हैं जिनका मानव को स्वयं भी ज्ञान नहीं रहता अथवा कम से कम वर्तमान में ज्ञान नहीं है। अवचेतन में दोनों के बीच की स्थिति है। इसमें

इच्छाओं का कुछ-कुछ भान होता है। किन्तु वह पुनः छिप जाती है। अचेतन मन की इच्छायें बीज के समान धरती के नीचे छिपी हुई है। अवचेतन मन की कामनायें अंकुर के समान धरती की परत को भेदकर निकलने की चेष्टा कर रही है। और चेतन मन की इच्छायें एक पौधे के समान प्रकट है। यदि अचेतन मन की इच्छायें पूरे पर्दे में रहने वाली, रनिवास की रानियों के समान है तो अवचेतन मन की इच्छायें बुर्के के भीतर से झांकने वाली बेगमें हैं और चेतन मन की कामनायें पर्दा, त्याग कर लज्जा मुक्त भाव से सारे बाजार में घूमने वाली पश्चिम की फैशनबाज लेडी (महिला) के समान है। मन के तीन अथवा पांच स्तर कैसे बनते हैं। यह एक शोध का विषय है। वस्तुतः मानव एक ही है। उसकी चेतना एक है। चेतना के ये स्तर जीव के विकास, वृद्धि तथा सामाजिक मर्यादा, अनुशासन आदि के कारण बन जाते हैं। पश्चिम के मनोविश्लेषकों का कथन है कि मानव के अचेतन मन में सदा ऐसी विद्रोही, क्रान्तिकारी तथा विचित्र प्रवृत्तियां सुप्त पड़ी रहती हैं जिन्हें समाज दुष्टप्रवृत्तियां समझता है। वे प्रवृत्तियां अधिकांश कामोपभोग (Sex) से सम्बन्धित रहती हैं। समाज के अंकुश के भय से वे अचेतन मन में दबी रहती हैं। किन्तु स्वप्नावस्था अथवा समाज का अंकुश ढीला होने पर वे पुनः उभरकर चेतन मन में आने का प्रयास करती हैं। जब तक वे पूर्णरूप से चेतन मन में नहीं आ पाती तब तक अवचेतन में पड़ी रहती है और चेतन में आने के लिए घात लगाए रहती है। ज्योंही वह चेतन मन को असावधान पाती है अथवा व्यक्ति को समाज से दूर एकांत में पाती है या स्वप्नावस्था में जब समाज का मर्यादा का अंकुश भूल जाता है तब चेतन मन पर आक्रमण कर बैठती है। चेतन मन ज्योंही समाज के अंकुश का ध्यान करता है वह पुनः उन प्रवृत्तियों को भुलाने या दबाने का प्रयास करता है। कुछ प्रवृत्तियां तो दब जाती हैं किन्तु कुछ अधिक प्रबल होने के कारण दबने से इनकार करती है और चेतन मन का तख्ता उलटकर स्वयं मालिक बन बैठती है। ऐसा व्यक्ति समाजद्वेषी, विद्रोही या क्रान्तिकारी कहा जाता है। अचेतन मन की प्रवृत्तियों को बलपूर्वक दबाने से वे प्रबल प्रवृत्तियां चेतन मन की वृत्तियों के साथ संघर्ष करती हैं तथा इस मानसिक संघर्ष से मन में अनेक प्रकार के विक्षेप, विकार और मानसिक रोग पैदा हो जाते हैं। कई बार दो विपरीत प्रबल कामनाओं के द्वन्द्व में मानव का व्यक्तित्व दुविधा में बंटा-फटा सा हो जाता है। उसका एक मन उसे एक दिशा की ओर खींचता है और दूसरा विपरीत दिशा की ओर। कई बार वही व्यक्ति कभी एक वृत्ति की ओर झुकता है और कुछ क्षण बाद विपरीत वृत्ति की ओर। ऐसा व्यक्ति निश्चयात्मिका-बुद्धि नहीं रख पाता। अर्जुन भी कर्तव्य और मोह के बीच, क्षात्र धर्म के कर्तव्य और जाति रक्षा के कर्तव्य के बीच दुविधा में पड़कर धर्मसमूढचेता बन गया था। भगवान् अर्जुन को समझाते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। 2/41, गीता

हे कुरुनन्दन! इस क्षेत्र में एकाग्र, एकनिष्ठ (व्यवसायात्मिका बुद्धि) एक आत्मतत्त्व के दिव्य प्रकाश को जानने में लग जाती है। जब मन बुद्धि के अधीन होता है और बुद्धि आत्मा के प्रकाश का अनुसंधान करती है तब वह व्यवसायात्मिका बुद्धि (एक ही व्यवसाय में लगी हुई बुद्धि) एकाग्र कही जाती है। जब बुद्धि आत्मा के प्रकाश से मुंह मोड़कर मन की ओर झुक जाती है तब मन की नाना-इच्छाओं के कारण अनेक विषय-भोगों की ओर लगकर बहुशाखा वाली अव्यवसायी, दूसरे शब्दों में व्यभिचारिणी हो जाती है।

मन के भिन्न-भिन्न स्तरों को कई रोचक उपमाओं के द्वारा समझाया गया है। जैसे एक दो मंजिले मकान के ऊपर के खण्ड में कुछ सुसभ्य एवं सामाजिक प्रतिष्ठा वाले लोग रहते हैं और नीचे वाले खण्ड में कुछ गुण्डे, असामाजिक तत्त्व रहते हैं। दोनों खण्डों के बीच में आधी सीढ़ी पारकर एक छोटी-सी नीमछती (साधारण छोटी कोठी) बनी है। नीचे वाले असामाजिक प्राणी सदा ऊपर वालों को तंग करने की चेष्टा करते रहते हैं। किन्तु ऊपर वालों द्वारा एक चौकीदार की सीढ़ियों में नियुक्ति होने के कारण असामाजिक लोग ऊपर जाने में डरते हैं। कभी चौकीदार के सो जाने, ऊंघने या असावधान होने पर नीचे वाले असामाजिक तत्त्व ऊपर चढ़ जाते हैं और उत्पात मचाना प्रारम्भ कर देते हैं। ऊपर के कोलाहल को सुनकर चौकीदार पुनः जाग उठता है तथा गुण्डों को मारकर नीचे धकेलने की चेष्टा करता है। यदि गुण्डे दुर्बल एवं संख्याबल में कम हों तो पुनः भागकर नीचे चले जाते हैं। अन्यथा वे चौकीदार से संघर्ष कर उसे उठाकर नीचे पटक देते हैं और स्वयं ऊपर के खण्ड पर अधिकार जमा लेते हैं। कभी वे ऊपर आने के प्रयास में आधे मार्ग में चढ़कर सीढ़ी की कच्ची कोठी में घात लगाए बैठे रहते हैं और अवसर मिलने पर ऊपर हल्ला बोल देते हैं। इस उपमा में ऊपर चेतन मन है नीचे के खण्ड में अचेतन, आधे मार्ग की कोठी है अवचेतन मन। सभ्य लोग चेतन मन की इच्छायें हैं। असामाजिक लोग अचेतन मन की इच्छायें हैं। बीच की कोठी में अवचेतन मन में घात में लगी इच्छायें हैं। चौकीदार सामाजिक मर्यादा का अंकुश है, उसका सो जाना स्वप्नावस्था या समाज के अंकुश का ढीला हो जाना है। गुण्डों का ऊपर भागना अचेतन मन की इच्छाओं का स्वप्नकाल अथवा सामाजिक अंकुश की ढिलाई के काल में पुनः-पुनः चेतन मन में आ जाना है। चौकीदार को उठाकर नीचे फेंक देना सामाजिक अंकुश के प्रति खुला विद्रोह है।

एक दूसरी उपमा में एक किसान है जो खेत की रखवाली बड़ी सजगता से कर रहा है। चारों ओर भेड़ें खेत को चरने के लिए ताक में लगी हैं। जब किसान

ऊंघने लगता है तो चारों ओर की भेड़ें खेत में घुसकर खेत को चरना प्रारम्भ कर देती है। नींद खुलने पर वह भेड़ों को डण्डा मारकर भगाता है। कुछ भेड़ें भाग जाती है और कुछ इधर-उधर दूसरे मार्गों से पुनः घुसकर खेत चरने लगती है। इस उपमा में खेत चेतन मन है, किसान सामाजिक अंकुश है, भेड़ें अचेतन मन की दबी हुई इच्छायें हैं जो चेतन मनरूपी खेत को चरने के लिए घात लगाए बैठी रहती है। चेतन मन होश आने पर पुनः उन प्रवृत्तियों को नीचे धकेलना चाहता है किन्तु उन प्रवृत्तियों के अधिक प्रबल होने पर उनके सामने पराजित हो जाता है।

सबसे विचित्र बात यह है कि व्यक्ति स्वयं नहीं जानता कि उसके अचेतन मन में कौन-सी इच्छायें सुप्त पड़ी हैं। इसलिए जब कोई मनोवैज्ञानिक कहता है कि उसके मन में अमुक प्रवृत्तियां अमुक इच्छा सोयी पड़ी है तो वह उसे स्वीकार नहीं करता। पाखण्डी पाखण्ड के कारण स्वीकार नहीं करता, दम्भी दम्भ के कारण स्वीकार नहीं करता। किन्तु दम्भ, पाखण्ड न होने पर भी व्यक्ति अपने अचेतन मन की इच्छाओं को न जानने के कारण उन्हें अपना मानता ही नहीं। वह ईमानदारी से सौगंध खाकर भी कहता है कि मेरे मन में ऐसी कोई इच्छा नहीं है, जबकि उसके अचेतन मन में वह इच्छा सुप्त पड़ी हुई ऊपर उभरने के लिए ताक में लगी रहती है। मानव के अचेतन मन की गुप्त इच्छाओं को अन्तर्यामी परमेश्वर ही जान सकता है। कुछ मात्रा में उन्हें कोई सिद्धयोगी या मनोविश्लेषक भी जान सकता है। अचेतन मन का भण्डार इतना गुप्त है कि उसका नाम लेकर कोई भी चालाक व्यक्ति किसी भोले-भाले व्यक्ति को यह कहकर बहका सकता है कि उसके अचेतन मन में ऐसी इच्छा या कामना दबी हुई है। व्यक्ति के इनकार करने पर वह चालाक आदमी कह देता है तुम अपने अचेतन मन की इच्छाओं को नहीं जानते किन्तु मैं जानता हूं। तुम्हारे अचेतन में निश्चय ही ऐसी-ऐसी कामना है। इस प्रकार कामना का मनोविश्लेषण कुछ दूर तक सहायक सिद्ध होता है, किन्तु चालाक व्यक्ति इसका मनमाना दुरुपयोग कर भोले-भाले लोगों को ठगते भी रहते हैं। अतः कामना के मनोविश्लेषण में विश्लेषण का पात्र बहुत भोला-भाला, संकल्प का दुर्बल और सहज विश्वासी नहीं होना चाहिए और विश्लेषणकर्ता को स्वार्थी, छली या अंधविश्वास का अनुचित लाभ उठाने वाला नहीं होना चाहिए।

गीता में अर्जुन भोला-भोला, सहज विश्वासी, दुर्बल संकल्प वाला व्यक्ति नहीं था। वह दृढ़निश्चयी था, सुपठित था, विवेकी था तथा प्रत्येक बात को जांच-परख कर मानता था। उसने भगवान् श्रीकृष्ण से बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछे हैं, यथा– आप हमें अकारण युद्ध की विभीषिका में क्यों धकेल रहे हैं, न जाने हम जीतेंगे या वो जीतेंगे। यदि आत्मा अमर ही है तो युद्ध का नाटक रचने की आवश्यकता क्या है? यदि स्वधर्मपालन के लिए युद्ध करना पड़े तो हमें लाभ क्या होगा? यदि

बिना लाभ के विचार के कर्म करना हो तो कर्म की युक्ति क्या है? यदि निष्काम कर्म करना हो तो स्थितप्रज्ञ कैसे बना जा सकता है? यदि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर मुझे युद्ध जैसे घोर कर्म में क्यों धकेल रहे हो? आप अब पैदा हुए हो। सूर्य पहले से है, तो आपने सूर्य को सबसे पहले उपदेश कैसे दिया? आप अवतार कैसे लेते हैं, जब आपको कुछ प्राप्त करना ही नहीं तो आप कर्म क्यों करते हैं? सांख्य और योग में क्या भेद है? चंचल मन को कैसे स्थित किया जाए? ध्यानयोग का रहस्य क्या है? आप सर्वव्यापक कैसे हैं? आपकी विभूतियां क्या हैं? आप रहस्यमय ढंग से कैसे सबके अन्दर समाये हुए हैं। जो सारी विभूतियां बाहर प्रतीत होती हैं वे एकत्र रूप में आप विराट् पुरुष में किस प्रकार समवेत हैं? यदि भक्ति से ही आपके विश्वरूप के दर्शन होते हैं तो भक्ति का रहस्य क्या है? अव्यक्त के उपासक श्रेष्ठ है या व्यक्त के उपासक। शरीर और आत्मा में क्या भेद और क्या सम्बन्ध है। प्रकृति के तीन गुण किस प्रकार कार्य करते हैं। इस संसाररूपी वृक्ष का स्वरूप क्या है और मूल क्या है? दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा के लक्षण क्या हैं? गुणों के अनुरूप श्रद्धा में क्या भेद है? संन्यास और त्याग में क्या भेद है? क्या संन्यासी को यज्ञ, दान, तप का त्याग कर देना चाहिए या नहीं? चारों वर्णों के कर्तव्य क्या हैं? सात्त्विक ज्ञानप्राप्त व्यक्ति कर्म कैसे करे? आदि ऐसा प्रतीत होता है जैसे अर्जुन एक प्रखर तार्किक के समान श्रीकृष्ण से निरन्तर शास्त्रार्थ करता जा रहा है। वह कोई साधारण भोला-भाला सहजविश्वासी व्यक्ति नहीं है जिसने भगवान् के सामने तुरन्त आत्मसमर्पण कर दिया हो। 18 अध्यायों की दौड़ दौड़ाने के पश्चात् वह पूर्णतः संतुष्ट हो जाने पर भगवान् के सामने समर्पण करता है तभी भगवान् उसको आदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। 18/66, गीता

भगवान् ही निःस्वार्थ विश्वकल्याणव्रती अन्तर्यामी मनोविश्लेषक हैं। वे अर्जुन के मन के उस छिपे हुए भय को भी जान लेते हैं (कि मैं इच्छामृत्यु-प्राप्त भीष्म और युद्ध में अपराजेय गुरु द्रोणाचार्य को कैसे मारूंगा?) जिसे अर्जुन लोक-प्रतिष्ठाहनन के भय से, चेतन मन से स्वीकार करने को तैयार नहीं है। इसी प्रकार स्वजनों का मोह जो अचेतन मन में दबा हुआ था और कौरवों को शत्रु मानकर वह चेतन मन में प्रकट नहीं होता था, उसे भी अन्तर्यामी श्रीकृष्ण जानते थे। जैसे एक योग्य शल्य चिकित्सक एक्सरे द्वारा जान लेता है कि रोगी के हृदय तथा मस्तिष्क में क्या-क्या विकार है जिसे रोगी स्वयं जानता ही नहीं और शल्य चिकित्सक रोगी के कल्याण के लिए उसकी शल्य चिकित्सा करके हृदय और मस्तिष्क के विकारों को निकाल देता है। उसी प्रकार अर्जुन के अचेतन में छिपे हुए भय और हृदय में स्वजन मोह (जिसके कारण शोक होता है) को भगवान्

एक मनोवैज्ञानिक शल्य चिकित्सा से बाहर निकालकर अर्जुन को भय और शोक से मुक्त कर देते हैं। अचेतन मन की कामनायें बीज के समान मनोभूमि में दबी हुई कभी न कभी चेतन मन के धरातल पर प्रकट हो जाती है तब वह व्यक्ति स्वयं भी घबरा उठता है कि मेरे मन में ऐसी अशोभन कामनायें क्यों जागी तथा समाज भी विस्मय करता है कि ऐसा चरित्रवान प्रतिष्ठित व्यक्ति अचानक लोभ या स्वार्थ में इतना कैसे गिर गया। अतः किसी तत्त्वदर्शी निःस्वार्थ गुरु के सम्मुख हृदय खोल देने से अचेतन मन की कामनायें भी ऊपर आ जाती हैं तथा गुरु हमारे मन में झांककर इन कामनाओं के अंकुरों को मनोभूमि से निकाल देने में हमारी सहायता करता है।

कई बार जिस वस्तु की हम कामना करते हैं उस वस्तु के छिन जाने या दृष्टिपथ से हट जाने पर उसकी कामना ढीली पड़ जाती है या विस्मृत हो जाती है। किन्तु अचेतन मन में वह कामना अवसर की घात लगाए पड़ी रहती है और अनुकूल अवसर आने पर पुनः प्रखररूप में प्रकट हो जाती है। राख के नीचे दबी हुई चिनगारी के समान वह अनुकूल वायु के झोंके से पुनः भड़ककर पूरे भवन को आग लगा सकती है। गीता में भगवान् ने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। 2/59, गीता

इन्द्रियों को विषयरूपी भोग न मिलने से विषय छूट जाते हैं और इन्द्रियां निराश होकर सूख जाती हैं किन्तु विषयों का रस नहीं छूटता। वह अचेतन मन में विषयों के शिकार की प्रतीक्षा करता रहता है। जैसे बिल्ली को बहुत दिन तक चूहा न मिलने से वह दुर्बल निराश हुई एक कोने में घात लगाए पड़ी रहती है और चूहे के निकलने पर पुनः झपट्टा मारकर अपनी कामना की पूर्ति कर लेती है। बदरीनारायण की यात्रा में हिमालय की बर्फीली ठण्डक में कई सर्प मिलते हैं जो बर्फ में जमे हुए मृत प्रायः से पड़े रहते हैं। उन्हें छूने, गले में लपेट लेने या इधर-उधर फेंकने से वे नहीं काटते। किन्तु जो बालक खेल हेतु उन सबको घर में उठा लाता है और अंगीठी के पास आग तापने के लिए बैठता है तो वह सर्प भी आग के ताप से पुनः चेतन होकर उस बच्चे को ही काट लेता है।

जैन दर्शन में बंधन दो प्रकार के माने गए हैं। द्रव्य बंध और भाव बंध। द्रव्य बंध विषय-भोगों या वस्तुओं का बंधन है। जैसे शराबी को शराब की बोतल का बड़ा विचित्र आकर्षण पागल बना देता है किन्तु जब बहुत समय तक परिस्थितिवश शराब न मिले, शराबी निर्धन हो जाए, शराब की भट्ठी बंद हो जाए या सरकार की ओर से मद्यनिषेध का अध्यादेश आ जाए या शराबी गंभीर रूप से रुग्ण हो जाए या ऐसी परिस्थिति में फंस जाए जहां वर्षों तक शराब का दर्शन-स्पर्शन न हो सके तो

यह नहीं कहा जा सकता कि शराबी सुधर गया है। इसने पिछले 20 वर्ष से शराब नहीं पी है। वास्तव में उसके अचेतन में शराब के प्रति आकर्षण बना रहता है। मन से विषयों का चिंतन करते रहना भाव बंध है। वह व्यक्ति प्रत्यक्ष बोतल की शराब न पी सकता हो किन्तु मन की शराब रोज पीता है। वह शराब और शराबियों के किस्से सुनता है, शराब की महिमा में कविता पढ़कर या सुनकर झूमने लगता है। उसके अचेतन या अवचेतन में शराब की लालसा बोतलप्राप्ति के लिए भूखी बिल्ली के समान घात लगाए पड़ी रहती है।

हमने समझा था कि वर्षात में वर्षेगी शराब
आयी बरसात तो बरसात ने दिल तोड़ दिया।

इस प्रकार का विषयों का मानसिक बंधन, विषयों के रस का बने रहना मानव के भावी पतन का कारण बन जाता है। यह लेश मात्र भी बचा रहे तो भी बहुत बड़े विकार का कारण बन जाता है। दही जमाने वाले मिट्टी के बर्तन में छिद्रों में दही की कुछ लाग बच ही जाती है। इसलिए बरतन को साफ कर लेने पर भी उसमें डाला हुआ दूध बिना जामन के भी दही बन जाता है, छेना का थोड़ा सा रस कड़ाही भर दूध को फाड़ देता है। (अचेतन और अवचेतन) मन में छिपा हुआ विषयों का रस मानव के व्यक्तित्व को कब फाड़ देगा यह कहना कठिन है। किन्तु वह विषयरस पूर्णरूप से निकले बिना मानव का कल्याण नहीं है। भगवान् कहते हैं कि वह विषयरस तभी जाता है जब मनुष्य ब्रह्मानन्द रस को चख लेता है। अश्वत्थामा को उसके निर्धन पिता द्रोणाचार्य प्रतिदिन आटे का घोल दूध कहकर पिला देते थे। एक बार जब वह अपने मामा के घर गया तो वहां कपिला गाय का बढ़िया दूध पीकर बड़ा आनन्दित हुआ। उसने विस्मय से उस अमृत पेय का नाम जाना कि यही दूध होता है। असली दूध को पीने के बाद जब वह पुन: घर लौटा और पिता ने प्रतिदिन के समान उसे आटे का घोल पीने को दिया तो अश्वत्थामा बोला, पिताजी! अब नहीं, अब नहीं। अब मैंने असली दूध को चख लिया है। अब नकली दूध में कोई रुचि नहीं रही। गुरु नानकदेव ने कहा है—

'वो रस आवा यह रस नहीं भावा।'

ब्रह्मानन्द रस चख लेने के बाद विषयरस तनिक भी मन को मोहित नहीं कर सकते। अत: मन को विषयरस से मुक्त करने, भावबंध से छुड़ाने का यह उपाय है कि मन को उससे श्रेष्ठ, उससे ऊंचा कोई अमर रस पिला दो। शिशु को खिलौने से प्रेम होता है। उसके सम्मुख खिलौना और दस हजार रुपए की गड्डी रखी जाए तो उसे खिलौने में ही रस है, रुपये में नहीं। बालक को लट्टू बिल्लौर (कांच की गोलियां) में और खेलकूद में रस आने लगता है। उसे शैशव की गुड़िया में रस नहीं

रहा। किशोर को पतंगों में रस आने लगा है, युवक को जीवनसंगिनी में रस आने लगता है। उसे गुड़िया, पतंग, लट्टू में कोई रस नहीं। प्रौढ़ गृहस्थ को अर्थोपार्जन में रस मिलने लगता है। वह अपनी पत्नी, अपने भोजन तथा संतानों की भी उपेक्षा करके दूर-दूर के स्थानों पर विकट मार्गों में अर्थोपार्जन के लिए जाता है। जिस प्रकार बड़े रस के आने पर छोटा रस अपने आप छूटता जाता है उसी प्रकार धर्म की पुकार पर अर्थ का आकर्षण भी छूट जाता है। भामाशाह ने जीवनभर की और पूर्वजों की सारी कमाई राणा प्रताप के चरणों पर चढ़ा दी। भारतीय संस्कृति में अर्थ ने सदा धर्म को नमस्कार किया है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर जंगल में जाते और अपने स्वर्णकिरीट, मणिमुकुट के साथ चतुरंगिणी सेना के सहित नितांत अकिंचन् कौपीनधारी ऋषि के चरणों में लेटकर साष्टांग दण्डवत प्रणाम करते। यह अर्थ का धर्म को नमस्कार है। धर्म का अर्थ मोटे तौर पर कर्तव्यपालन ही होता है। यह तभी तक सम्भव है जब तक कि मनुष्य जगत् में है। किन्तु जब जीव को जगत् से जाना है और जगत् को भी एक न एक दिन लय हो जाना है, तब जीव को ऐसा स्थान खोजना है जहां काल का पंजा न पड़ सके, जहां मृत्यु की छाया तक उसे न छू सके। जहां पूर्ण अमृतरस, ब्रह्मानन्द का सुधासिन्धु लहराता हो। जहां अखण्ड-अविनश्वर आनन्द का एकछत्र साम्राज्य हो, ऐसे पद का नाम मोक्ष या ब्रह्मप्राप्ति है। सारे धर्मों का अन्तिम लक्ष्य वही है। इसलिए धर्म को मोक्ष के चरणों में नमस्कार करना चाहिए। इसी अर्थ में भगवान् अर्जुन को कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। 18/66, गीता

नरक की सात सीढ़ियां

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में मानव के पतन की सात परिचायक सीढ़ी का संकेत दिया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 2/62, गीता

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 2/63, गीता

(क) विषयों का ध्यान

(ख) उससे पैदा होने वाला विषयसङ्ग

(ग) उससे उत्पन्न काम

(घ) काम में बाधा से उत्पन्न क्रोध

(ङ) क्रोध से उत्पन्न बुद्धि का सम्मोह

(च) सम्मोह से स्मृति में बिगाड़

(छ) उससे होने वाला बुद्धिनाश

इन सातों सीढ़ियों के बाद सर्वनाश अनिवार्य है।

(क) विषयों का ध्यान—मन बहिर्मुखी होने पर इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर भागता है। विषय का अर्थ है वे वस्तुएं अथवा रस जो इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कठोपनिषद् (1-3-4) में इन्हीं को इन्द्रियरूपी घोड़े का चारा कहा गया है—

'विषयास्तेषु गोचरान्।'

इन भोग पदार्थों का वस्तुतः अपना कुछ रस तो होता नहीं किन्तु आत्मा का रस जो कुछ मात्रा में बुद्धि तक आता है, बुद्धि से मन में, और मन से इन्द्रियों के माध्यम से विषयों पर उड़ेला जाता है। उस अपने उड़ेले हुए रस को प्राप्त करने हेतु जीव ललचाने लगता है। राजा भर्तृहरि जब अपना चक्रवर्ती साम्राज्य त्यागकर संन्यासी बनने जा रहे थे तब जाते-जाते उनको मार्ग में एक मुहर चमकती हुई दिखाई दी। ज्योंही उसको पकड़ने के लिए उन्होंने हाथ बढ़ाया तो पता चला जो धूप में मुहर के समान चमक रही थी वह किसी की फेंकी हुई थूक थी। भर्तृहरि को बड़ी ग्लानि हुई कि जब ऐसी कोटि-कोटि मुद्राओं को अपने हाथ से दान कर और सारा राज-पाट त्यागकर मैं संन्यासी बनने जा रहा हूं तब भी थूक में मुहर की कल्पनाकर मेरा मन लुब्ध हो गया है। जैसे ऊपर सविस्तार विवेचना की गई है विषयों में वस्तुपरक (Objective) अपना निजी रस होता तो सब देशों में, सब कालों में, सब परिस्थितियों में, सब पात्रों को समानरूप से उस रस की प्रतीति होती। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव में हम देखते हैं कि जो एक के लिए हलवा है वही दूसरे के लिए मलवा है।

अतः विषयों की ओर इन्द्रियों से बार-बार देखना, विषयों का बार-बार चिन्तन करना यह पतन की पहली सीढ़ी है। मन की यह विशेषता है कि वह जिसका चिन्तन करता रहता है उससे अपनी तदाकार वृत्ति बना लेता है। सामान्य मनुष्य आंखों से यदि सुन्दर वस्तु या व्यक्ति को देखता है, कान से मधुर संगीत का, नासिका से मोहक सुगंधि का, जिह्वा से स्वादिष्ट व्यंजन को चखता है, हाथों से कोमल वस्तु को स्पर्श करता है, मन से किसी सुन्दर वस्तु या स्थिति की कल्पना करता है, चित्त से उसी विषय का चिन्तन करता है, बुद्धि से उसी का विचार करने लग जाता है और अहंकार से उसी वस्तु का स्वामी बनने की कल्पना करता है। इस प्रकार बाहर की पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा चार अन्दर की इन्द्रियों (अन्तःकरण चतुष्टय) से जब विषयों का चिन्तन करने लग जाता है तो कर्मेन्द्रियां भी उस वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्मशील हो उठती हैं।

भगवान् शंकराचार्य ने आहार का बड़ा व्यापक अर्थ किया है—प्राय: सामान्य लोग आहार का अर्थ केवल भोजन के रूप में प्राप्त विषय ही लेते हैं। किन्तु शंकराचार्य का कथन है कि इन्द्रिय जिन-जिन विषयों का आहरण करती हैं वे सब उनके आहार हैं। अत: नेत्रों से जितने अच्छे-बुरे, शोभन-अशोभन दृश्य हम देखते हैं वे सब इन्द्रिय के आहार हैं। कानों से जो कुछ शोभन या अशोभन सुनते रहते हैं वह कानों का आहार है। नासिका से जो कुछ सूंघते हैं, वह घ्राणेन्द्रिय का आहार है। त्वचा से जो कुछ स्पर्श करते हैं वह स्पर्शनेन्द्रिय का आहार है। सब प्रकार के आहार मिलकर हमारे मन को प्रभावित करते हैं। जो व्यक्ति प्राय: महिलाओं के बीच में उठता-बैठता है, महिलाओं से अधिक वार्तालाप करता है, महिलाओं से अर्थव्यापार करता है, महिलाओं के वचन सुनता है, महिलाओं की महफिल, उनके संगीत और सुगंधि का रस लेता है, उनसे क्लबों में यत्र-तत्र हाथ मिलाता है, उनके साथ अधिक यात्रा करता है; वह व्यक्ति सब इन्द्रियों से नारी संस्पर्श का मानसिक भोग भोगने लगता है। इसे ही शास्त्रों में मानसिक मैथुन नाम दिया गया है। अष्टधा मैथुन में निम्नलिखित उपायों का नाम आता है—

श्रवणं कीर्तनं केलि स्मरणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायं च क्रियानिष्पत्तिरेव च।।

अर्थात् स्त्री के बारे में सुनना, कहना, उससे क्रीड़ा करना, स्मरण करना, एकान्त में उससे बातें करना, मैथुन करने के लिए संकल्प करना, मैथुन का निश्चय करना एवं अन्तिम क्रिया तक जाना—ये आठ प्रकार के मैथुन कहलाते हैं।

इन्द्रियों का विषयों की ओर मुड़ना ही नरक का प्रथम द्वार है। इसका बार-बार अभ्यास होने से विषयों के प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है। जिस विषय का बार-बार ध्यान किया जाता है अथवा जिसके बारे में देखने-सुनने, स्पर्श करने का संयोग मिलता है; उसको पुन-पुन: देखने, सुनने, स्पर्श करने की आदत लग जाती है। जिस दिन वैसा इन्द्रिय अनुभव न प्राप्त करे तो कुछ दिन मन और इन्द्रियों को कुछ अभाव की प्रतीति होती है। प्रतिदिन हलवा-पूरी खाने वालों को यदि कुछ दिन सूखा चना चबाने को दिया जाए तो उसे अप्रिय लगता है। प्राय: सिनेमा थियेटर देखने वाले व्यक्ति को यदि परिस्थिति से बाध्य होकर किसी ऐसे गांव में जाना पड़े जहां सिनेमा न हो तो वह सपनों में चलचित्र-तारिकाओं का दृश्य देखता रहता है। संगत की रंगत अवश्य चढ़ती ही है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्माजी ने ज्ञानेन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर मानो इनकी हिंसा ही कर दी है। वास्तव में इन्द्रियां हमें बाहर के जगत् की सूचना देने वाली हमारे चौकीदार-पहरेदार के समान है जो मन को सूचित करे कि अमुक दिशा से आक्रमण करने के लिए विषयों की सेना आ रही है। दुर्भाग्यवश हमारे पहरेदार

मनरूपी सेनापति को साथ लेकर विषयों का नाच-गान देखने में मस्त हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियां हमारे ज्ञान के यंत्र न रहकर हमारे अज्ञान एवं मोह बंधन के यंत्र बन जाते हैं।

(ख) **संग**—जिन विषयों का हम बार-बार चिन्तन करते रहते हैं उनके प्रति हमारे मन में संगदोष पैदा हो जाता है। संगत की रंगत एक सर्वविदित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जिससे कोई भी बच नहीं सकता। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, तपस्वी, महात्मा एवं साधक भी संगदोष के कारण पथभ्रष्ट होते हुए देखे गए हैं। फिर सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या है कि वह संगदोष से बच सके। भगवान् कहते हैं कि जिन विषयों का चिन्तन करते रहोगे उनके प्रति संगदोष अवश्य पैदा होगा। वह भोग वस्तु प्राप्त करने हेतु मनुष्य व्याकुल हो उठता है। उसके प्रति ममता का अंकुर फूटने लगता है। बार-बार उसके निकट जाने की इच्छा पैदा होती है। शराबी का शराब की बोतल में संग हो जाता है और कामी को काम के विषय, साहित्य, मनोरंजन, कामिनी में संग हो जाता है। जिस वस्तु के प्रति संग हो जाता है, उससे विलग रहने में भीषण व्याकुलता होने लगती है। यदि नवयुवक किसी नवयुवती को बार-बार देखता है तो उसके मन में बार-बार उसका ही ध्यान आने लगता है। ध्यान से उसके प्रति संग हो जाता है और उसके साथ घूमने-फिरने, बातचीत करने की चेष्टा होती है। इस संगदोष से फिर उसे अपना बनाने के लिए तीव्र कामना पैदा होती है। यदि विषयों का चिन्तन ही न हो तो संगदोष नहीं होगा। और संगदोष न होने पर उसकी प्राप्ति के लिए तीव्र कामना पैदा नहीं होगी।

(ग) **काम**—वास्तव में अचेतन मन की कामप्रवृत्ति से ही विषयों की ओर ध्यान जाता है। जिसके अचेतन मन से विषयों की कामना नष्ट हो चुकी है वह विषयों की ओर ध्यान ही नहीं देता। उसकी इन्द्रियां विषयों को देखते हुए भी मानो नहीं देखती। बाल ब्रह्मज्ञानी शुकदेव नग्नावस्था में जा रहे थे और स्नान करती हुई व्रजगोपियों को देखकर भी उनके मन में न कोई विकार हुआ और न गोपियों के मन में शंका-लज्जा जागी। स्वामी रामतीर्थ प्रतिदिन लाहौर में अनारकली बाजार से होकर रावी नदी में स्नान करने जाते थे। एक दिन कुछ लोग हस्ताक्षर संग्रह कर रहे थे कि अनारकली बाजार से वेश्याओं को उठाया जाए। जब वे स्वामी रामतीर्थ से हस्ताक्षर के लिए आग्रह करने लगे तब स्वामीजी को यह जानकर अचम्भा हुआ कि उनके दैनिक आने-जाने वाले मार्ग में दोनों ओर वेश्याओं के चौबारे हैं जिसका उन्हें अभी तक भान ही न था। श्रीरामकृष्ण देव वेश्याओं को देखकर भी मां-मां कहकर पुकारने लगते थे। स्वयं अपनी विधिवत परिणीता (पत्नी) में भी वे भगवती के दर्शन करते थे। यहां स्वस्थ युवा शरीर भी है, स्वस्थ इन्द्रियां भी हैं, इन्द्रियों के भोग विषय भी हैं, एक ही मन्दिर में निकट वास भी है किन्तु विषयचिन्तन नहीं

है और विषय के प्रति संगदोष भी नहीं है क्योंकि अचेतन मन में भी कोई कामना का बीज या अंकुर नहीं बचा है। चेतन मन से निष्काम अनेक लोग मिल जाएंगे किन्तु जिनके अचेतन मन में भी कोई कामना नहीं बची हो ऐसे सच्चे ब्राह्मीस्थिति वाले स्थितप्रज्ञ महापुरुष बहुत ही विरले हैं। अचेतन मन की कामना से मनुष्य विषयों की ओर बार-बार ध्यान देता है। जैसे कोई नवयुवक छिप-छिपाकर किसी नवयुवती की ओर बार-बार झांकता है किन्तु किसी के पूछने पर वह चेतन मन से अपनी कामना को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होता है क्योंकि अचेतन मन की कामना का स्वयं उसे भान भी नहीं है। किन्तु विषय का बार-बार चिन्तन करने से उस विषय के प्रति संग हो जाता है। यह अर्धचेतन मन के स्तर तक रहता है। जैसे कोई नवयुवक किसी नवयुवती से परिचय होने के पश्चात् यदा-कदा आधा छिपकर, आधा प्रकट नवयुवती के संग इधर-उधर घूमता है। क्लब, सिनेमा, सैर आदि से संग बढ़ाता है। उस अवस्था में वह उसे मित्र, सहकर्मी Girl friend या धर्म की बहन बताता रहता है क्योंकि उसे समाज की मर्यादा के अंकुश का कुछ भय रहता है। संग से प्रबल काम जाग उठता है जो चेतन में कामना का तूफान खड़ा कर देता है। इस अवस्था में नवयुवक खुलेआम घोषणा करता है कि मैं विवाह करूंगा तो इसी के साथ अन्यथा आत्महत्या कर लूंगा। अब अचेतन मन का कामबीज चेतन में बलवान वृक्ष बन गया। यह काम कामना के व्यापक अर्थ में सब जीवों को नचा रहा है। यह काम ही जीव को ब्रह्म से पृथक् कर भौतिक जगत् का बंदी बनाने वाला है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सके रवि रजनी एक ठाम।।

अर्थात् जहां काम है वहां राम नहीं रहते और जहा राम है वहां काम नहीं। जैसे सूर्य और रात्रि एक साथ नहीं रह सकते। इसी अर्थ में काम मानव का सबसे प्रबल शत्रु माना गया है। इसी काम को जीतना, तृष्णा पर विजय पाना, कामनाओं का शांत हो जाना निर्वाण या मोक्ष है।

(घ) **काम में बाधा से उत्पन्न क्रोध—**जब मन में रजोगुण की वृद्धि से काम का वेग बढ़ जाता है तो मन में भयंकर अशान्ति छा जाती है। किसी वस्तु या व्यक्ति की उत्कट कामना से मन पागल हो जाता है, विवेक की दृष्टि लुप्त हो जाती है तथा मन में संकल्प-विकल्प का भयंकर ज्वार-भाटा उठने लगता है। कामना में विरोध या रुकावट होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में आंखें लाल हो जाती है, दांत पिसते हैं, मुट्ठियां कस जाती है, नथुने फूल जाते हैं, चेहरा तपकर लाल हो जाता है, आवाज ऊंची हो जाती है, पूरे शरीर में ऐंठन आ जाती

है, रोम खड़े हो जाते हैं, हृदय तेज धड़कने लगता है, श्वास और नाड़ी तेज चलने लगती है, श्वास गरम हो जाता है, कभी दूसरों पर प्रहार करने की इच्छा होती है, कभी क्रोध के आवेग से क्रोधी का अपना पूरा शरीर कांपने लगता है, कभी वह क्रोध में अंधा होकर किसी निर्दोष को पीटने लगता है तथा कभी दूसरे को पीटने का अवसर या सामर्थ्य न होने पर स्वयं अपने आप पर ही प्रहार करने लगता है। क्रोध के भयंकर आवेग में मानसिक संतुलन बिगड़ जाने पर अनेक बार हत्या एवं आत्महत्या के भीषण काण्ड घटित हो जाते हैं।

(ङ) **क्रोध से उत्पन्न बुद्धि का सम्मोह**—क्रोध एक ऐसी भयंकर मानसिक आंधी है जो मनुष्य को पागल बना देती है। क्रोध के आवेश में मनुष्य अधीर, उतावला, बावला हो जाता है। उसकी बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है तथा वह अपना-पराया, भले-बुरे का विवेक भी खो बैठता है। क्रोध शराब के नशे से भी बड़ा नशा है जो मनुष्य के भीतर के राक्षस को जगा देता है तथा बिना होश के अंधे जोश में मन को सम्मोहितकर कई दुष्टकर्म करवा बैठता है। नवयुवक का नवयुवती के प्रति काम-भाव जागने पर यदि उसका पिता या भ्राता उसे रोके तो काम क्रोध में बदल जाता है। फिर भी पिता द्वारा रात्रि को प्रेमिका के घर जाने से रोकने पर क्रोधित प्रेमी सम्मोह में पिता को धक्का देकर भी प्रेमिका के घर जा पहुंचता है। मन का संतुलन तथा मन की मननशक्ति शान्ति में रह सकती है, अशान्ति में नहीं। क्रोध मन की सबसे भयंकर अशान्ति है। इसलिए सम्मोह होना अनिवार्य है। क्रोध एक प्रकार का अल्पकालिक पागलपन है। और पागलपन एक प्रकार का दीर्घकालिक क्रोध है। अल्पकालिक क्रोध में मन कुछ समय के लिए अपने आप में नहीं रहता। यदि यह मानसिक सम्मोह कई दिनों या मासों तक बना रहे तो पागलखाने में भरती करना पड़ता है।

(च) **सम्मोह से स्मृति में भ्रम**—जब चित्त सम्मोहित हो जाता है तो श्रुति के तंतु बिखर जाते हैं और मनुष्य यह भूल जाता है कि मैं कौन हूं, कहां पर हूं, किससे झगड़ रहा हूं और, क्या मेरा आचरण ठीक है? या गलत क्रोध में अंधा प्रेमी अपने पिता को धक्का देकर इसलिए निकल जाता है क्योंकि उसे उस समय याद ही नहीं रहता कि रोकने वाला उसका अपना पूज्य पिता ही है। उस समय जो भी सामने आ जाए उसी पर प्रहार कर बैठता है। उत्तम स्मृति के लिए मन शांत होना चाहिए और ध्यान अन्तर्मुखी चाहिए। बहुत बार नेत्र बंद करके वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने से भूली हुई बात या भूला हुआ पाठ पुनः स्मृति में आ जाता है। किन्तु क्रोध में जब मन में तूफान आया हुआ है तब पुनः स्मृति का तो प्रश्न ही नहीं, बल्कि जो कुछ पहले क्षण याद था वह भी स्मृति पर से फिसल जाता है। अतः क्रोध मन, स्मृति और बुद्धि तीनों का वैरी है।

(छ) **स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश होता है—**बुद्धि का बहुत बड़ा भंडार स्मृति ही है। पिछले अनुभवों की स्मृतियां बनी रहने पर उनसे शिक्षा लेते हुए आगे का प्रकाश देना बुद्धि का काम है। बुद्धि विचार करके निर्णय तभी दे सकती है जब उसके सामने स्मृति की फाइल या संचिका उपस्थित हो। जैसे मजिस्ट्रेट फाइल देखकर ही निर्णय दे सकता है। उसी प्रकार बुद्धि स्मृति की संचिकाओं को देखकर आगमन और निगमन तर्क का सहारा लेकर निर्णय देती है। जैसे कोई भुलक्कड़ व्यक्ति बुद्धि का कोई भी उत्तम कर्म नहीं कर सकता। उसी प्रकार क्रोध से स्मृति नाश होने पर बुद्धि का सर्वथा नाश भी हो जाता है, उसमें विवेक एवं विचार शक्ति बचती ही नहीं। जब बुद्धि जैसी लोक और परलोक को जोड़ने वाली दिव्य प्रकाशमयी ज्योति ही नहीं बची तो बुद्धि का कोई भी काम सम्भव नहीं होगा। तब आगे सर्वनाश ही सर्वनाश है। इस प्रकार ये नरक की सात सीढ़ियां हैं। अचेतन मन की कामना से विषय का ध्यान और विषय का संग और चेतन मन की कामना से क्रमशः क्रोध, सम्मोह, स्मृति-विभ्रम, बुद्धिनाश और अन्त में सर्वनाश हो जाता है।

कामना से बंधन—काम ही पंच महारिपुओं में प्रथम एवं आधारभूत रिपु है। काम का उदय ही अविद्या से होता है तथा इसका परिणाम जीव के बंधन में ही है। भगवान् बुद्ध ने भी तृष्णा और अविद्या को बंधन के दो प्रमुख कारण माना है। हम वस्तुओं की कामना करते हैं, इससे हमारी वृत्ति बहिर्मुखी होती है। हम भिखारी के समान भिक्षापात्र उठाकर नश्वर जगत् के भौतिकवाद के हाट में भोग विलास की दुकान पर भीख मांगने लगते हैं। इससे हम अपनी आप्तकाम पूर्णकाम आत्मा का तिरस्कार करते हैं। जिन वस्तुओं की कामना की जाती है उनके स्वरूप के विषय में अविद्या या अज्ञान होने के कारण जब वे वस्तुएं नष्ट होती या छिन जाती हैं तब जीव वस्तुओं की ममता से बंधा हुआ दुःख पाने लगता है। जिन वस्तुओं के प्रति अज्ञानवश राग होता है, विवेक द्वारा उनके नश्वर स्वरूप का ज्ञान होते ही उनके प्रति वैराग्य हो जाता है।

बाहर की चकाचक के नीचे अन्दर की रुलाई को देखा।
सोने के वर्क में लिपटी-सी गोबर की मिठाई को देखा।।

पाश्चात्य देशों के बाहरी सौन्दर्य, टीप-टोप या टीम-टाम, तड़क-भड़क के नीचे उनका ईर्ष्या-द्वेष से जलता हुआ, परस्पर के वैर और क्रोध में धधकता हुआ आन्तरिक जीवन देख लेनेपर ऊपर का बाह्य आकर्षण तुरन्त विकर्षण में, राग वैराग्य में, मोह घृणा में बदल जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है— पाश्चात्य सभ्यता क्या है? एक ज्वालामुखी पर टिकी हुई हलकी-सी लिपिस्टिक की मुस्कान। ज्योंही भीतर का ज्वालामुखी फटेगा तो सभ्यता के चिथड़े उड़ जाएंगे।

जिस नर-नारी के आकर्षण में लोग कामोन्मत्त होकर माता-पिता, भाई-बहन, धन-सम्पत्ति और भगवान् तक को भी त्याग देने के लिए उद्यत हो जाते हैं तथा सौन्दर्य के आकर्षण में बंधे हुए इसी के दर्शन-स्पर्शन, सहवास में फंसे रहते हैं; यदि अकस्मात् उसके सुन्दर शरीर के ऊपर की बहुत पतली चमड़ी का पर्दा हट जाए तब अन्दर का माल-मत्ता, रक्त-मांस-मज्जा-मल-मूत्र का दृश्य देखते ही सभी प्रेमी भाग खड़े होंगे। तब कुत्ते, कबूतर और गिद्ध उस शरीर को नोच-नोचकर खाने के लिए नए प्रेमियों के समान इर्द-गिर्द मंडराने लगेंगे।

काम का बंधन ऐसा विचित्र है कि जहां अन्य बंधनों से बंदी भागना चाहता है वहां काम का बंदी स्वत: काम जाल में फंसता है और उसे काम के बंधन में ही सुख प्रतीत होता है। यह काम का ऐसा बंदीगृह है जिसमें संसार के ९९ प्रतिशत लोग अपने आप बंदी होने हेतु एक-दूसरे से स्पर्धा करते हुए दौड़-दौड़ कर चले आते हैं। जहां अन्य कारागृहों में बंदी फाटक तोड़कर अथवा दीवार फांद कर भागने की चेष्टा करते हैं, वहां काम के कारागार में जीव स्वयमेव फाटक तोड़कर या दीवार फांदकर अन्दर घुसना चाहते हैं। यह काम की विचित्र मोहिनी माया है जो बड़े-बड़ों की बुद्धि पर पर्दा डाल देती है और उन्हें अनायास ही बंदी बना लेती है।

स्विट्जरलैण्ड में मैंने देखा कि उन्होंने कुछ छोटी-छोटी कुत्ता गाड़ियां बनायी हैं जिसमें कुत्ता गाड़ी खींचता है। कुत्ता प्राय: गाड़ी खींचने का अभ्यासी न होने के कारण उसकी प्रवृत्ति आगे चलने की नहीं होती है। उसे चलाने के लिए कामना की युक्ति लगाई गई है। गाड़ी के साथ एक लोहे के डण्डे से बंधा हुआ एक मांस का टुकड़ा कुत्ते के मुख से एक फुट आगे लटका दिया जाता है। कुत्ता उस मांस के टुकड़े को प्राप्त करने के लिए दो-चार कदम चलता है किन्तु मांस के टुकड़े का अन्तर कुत्ते के मुख से सदा एक फुट आगे स्थित रहने के कारण कुत्ता उसे पा नहीं सकता। किन्तु उसे पाने की चेष्टा में वह लगातार चलता रहता है तथा गाड़ी बढ़ती रहती है। संसार में जीव की स्थिति ऐसी ही है, वह कुछ कामनाओं के आकर्षण में जीवनभर गतिविधि करता रहता है और संसार के छकड़े को ढोता रहता है किन्तु अन्त तक उसे प्राप्त कुछ नहीं होता। संसार के भोग यहीं धरे रह जाते हैं और जीव थक-हार कर, मरकर चला जाता है। यह जीवन का दु:खांत नाटक है।

कामवासना

सामान्यत: काम शब्द कामना के अर्थ में प्रयोग होता है। यह कामना खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, सुनने, स्पर्श करने, सोने, विश्राम करने, धनोपार्जन करके यश पाने आदि की कोई भी कामना हो सकती है। इसे तीन प्रकार की मुख्य कामनाओं में विभाजित किया जा सकता है।

(1) पुत्रैषणा,

(2) वित्तैषणा और

(3) लोकैषणा।

काम का रूढ अर्थ कामवासना (Sex instinct) प्रचलित हो गया है। इसे ही सभ्य भाषा में पुत्रैषणा कहा जाता है। क्योंकि भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम गृहस्थ धर्म है, इसलिए काम का वास्तविक उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति ही है। भारतीय संस्कृति में पुत्रैषणा का स्थान है किन्तु केवल भोग विलास के लिए भोगैषणा का स्थान नहीं। कामना और एषणा का अर्थ इच्छा है। वासना का अर्थ है वह वस्तु जिसमें मन वास करे। जब मन सौन्दर्य का चिन्तन करते-करते उसी में बसने लगता है या धन का चिन्तन करते-करते उसी में रम जाता है, तब मन की इस वृत्ति को वासना कहते हैं। इच्छा के बार-बार पैदा होने पर और मन के इच्छा का दास बन जाने पर वासना कही जाती है।

स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को काम कहा जाता है। वास्तव में इन्द्रियों के प्रति प्रत्येक विषय का आकर्षण कामना ही है। किन्तु स्त्री-पुरुष के सहवास की कामना को सभ्य भाषा में कोई नंगा शब्द नहीं देकर काम ही कह दिया गया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध कई प्रकार के हो सकते हैं—

(1) पिता-पुत्री का सम्बन्ध—यह शुद्ध स्नेह, संरक्षण एवं कर्तव्यभावना पर टिका हुआ सम्बन्ध है।

(2) माता-पुत्र का सम्बन्ध—यह पवित्र प्रेम, कर्तव्यभावना, माता द्वारा संरक्षण और पुत्र द्वारा पूजा की भावना पर आश्रित सम्बन्ध है।

(3) बहन-भाई का सम्बन्ध—यह परस्पर पवित्र प्रेम, नैतिक आचरण, निष्काम सेवा एवं निःस्वार्थ सहानुभूति का सम्बन्ध है।

(4) पति-पत्नी का सम्बन्ध—यह गृहस्थाश्रम को चलाने के लिए श्रेष्ठ संतान प्राप्तकर समाज का ऋण चुकाने के लिए पंच महायज्ञों द्वारा सबका कल्याण करने एवं श्रेष्ठ तीन आश्रमों को आधार देने के लिए सहधर्म का कर्तव्य-सम्बन्ध है।

(5) प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध—यदि स्त्री-पुरुष बिना किसी मर्यादा के बंधन के एक-दूसरे के प्रति आकर्षण रखते हैं तो मानव की उस दुर्बलता को प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्ध कहा जाता है। भारतीय धर्मशास्त्र या आचारशास्त्र इसकी अनुमति नहीं देता। किन्तु मानव की सहज दुर्बलता होने के कारण साहित्य में कवियों ने नायक-नायिका के भेदों में ऐसे प्रसंगों की चर्चा की है। मनु भगवान् ने तो यहां

तक लिखा है कि बेटे के युवा हो जाने पर उसे अपनी माता या विमाता के साथ एक शय्या पर नहीं बैठना चाहिए। काम ऐसी विचित्र अग्नि है जो युवा स्त्री-पुरुष की निकटता का ईंधन मिलते ही उत्तेजित हो उठती है। अतः युवा भाई-बहिन एवं परिचित स्त्री-पुरुषों को बहुत मर्यादा के साथ व्यवहार करना चाहिए। युवा छात्र-छात्राओं की सहशिक्षा भारतीय परम्पराओं के प्रतिकूल है। घी और अग्नि को पास-पास रखने से कभी भी विनाश की ज्वाला भड़क सकती है। नीतिकारों ने कहा है—

'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं न चरणीयम्'

अर्थात् चाहे हमारा आचरण शुद्धभावना से हो किन्तु वह यदि लोकविरुद्ध हो तो उसे नहीं करना चाहिए, उसका आचरण कभी नहीं करना चाहिए। विवाहित पति-पत्नी भी यदि खुले बाजार में परस्पर प्रेम-लीला करते चलें तो अशोभन एवं कामोत्तेजक प्रसंग बन जाएगा। दुर्भाग्य से पश्चिमी देशों में प्रेमी-प्रेमिका की स्वच्छन्द प्रेम लीला तथा विवाहितों की निर्लज्ज कामकेलि खूब चलती हैं।

व्यभिचार—कामवासना का सबसे घृणित रूप व्यभिचार है। Physical contact without love is essence of prostitution. Physical contact with love and responsibility is the essence of marriage. Pure love without physical contact is the essence of devotion.

बिना वास्तविक प्रेम के शारीरिक संयोग केवल भोग विलास मात्र के लिए 'सम्भोग' वेश्यावृत्ति का सार है। जो कामी किसी कामिनी के साथ कामवासना की पूर्तिकर जीवनभर के लिए उससे प्रेम करने अथवा उसका उत्तरदायित्व निभाने के लिए प्रस्तुत नहीं है वह वेश्यागिरी द्वारा नारी का शोषण मात्र कर रहा है। शोषण का अर्थ है दूसरे व्यक्ति को अपने स्वार्थ के लिए केवल साधन मात्र बना लेना तथा उसे साध्य न मानना। जिस प्रकार जूता हमारे लिए साधन मात्र है। घिस जाने या फट जाने पर उसे फेंककर दूसरा जूता खरीद लिया जाता है। इस प्रकार किसी नृशंस अधिनायक के लिए कोई गुलाम मजदूर साधन मात्र है। काम करते हुए यदि आरा मशीन से भुजा कट जाती है तो बेदर्द मालिक उसकी कोई चिन्ता न कर एक दूसरा गुलाम मजदूर काम पर लगा देता है। उसी प्रकार व्यभिचारी व्यक्ति व्यभिचार या बलात्कार का शिकार बनने वाली नवयुवती को केवल साधन मात्र बनाकर अपनी कामवासना की पूर्ति करता है। इससे उसके स्वस्थ जीवन एवं सामाजिक प्रतिष्ठा पर क्या कुप्रभाव पड़ता है इसकी उसे तनिक भी चिंता नहीं रहती। नारी के क्षत-विक्षत हो जाने, बहुत चिन्ताजनक-हालत में पड़ जाने अथवा मर जाने पर वह नए जूते के समान नई कामिनी खोज लेता है। यह मानवता का घोर तिरस्कार है। जो वेश्या यह धंधा करती है वह भी पुरुषों के अर्थ व स्वास्थ्य

का शोषण ही करती है। उन्हें जीवन भर सच्चा प्रेम किसी ग्राहक से नहीं रहता। इसलिए व्यभिचार मानवता के माथे पर कलंक है।

व्यभिचार, व्यभिचार की चेष्टा, बलात्कार, बलात्कार की चेष्टा, नारी का अपहरण, सभ्य कहलाने वाले परिवारों में कदाचार, पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता में आधी रात को Night क्लबों में शराब पीकर परायी स्त्रियों की बगल में हाथ में हाथ डालकर स्त्री-पुरुषों का एक दूसरे से लिपटकर नाचना, Nude क्लब में नग्न स्त्री-पुरुषों का निर्लज्ज नृत्य, फैशनों में नंगापन, साहित्य में नग्नता, संगीत में अश्लीलता, नग्न स्त्रियों के चित्रों के कैलेण्डर, एलबम आदि, चलचित्रों में नग्नता एवं निर्लज्ज कामक्रीड़ा सभी कुछ व्यभिचार के ही भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। जिस प्रकार बिना वास्तविक प्रेम के स्त्री-पुरुष का शारीरिक संयोग व्यभिचार कहलाता है। यदि उनके शारीरिक संयोग में प्रेम व उत्तरदायित्व का भाव संयुक्त हो जाए तो वह विवाह या गृहस्थाश्रम माना जाएगा।

ब्रह्मचर्याश्रम व गृहस्थाश्रम

भारत के ऋषियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हेतु व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिए चार आश्रमों तथा सामाजिक जीवन के विकास के लिए चार वर्णों की रचना की। ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन की सुन्दर, संस्कारयुक्त, विद्या-विभूषित व चरित्रमण्डित, ज्ञानावलोकित, स्वास्थ्यशक्तिपूरित तैयारी है। गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम में सीखे हुए धर्ममर्यादा के आधार पर काम और अर्थ की प्राप्ति की साधना है। जैसे छोटा पौधा जब तक पूरा वृक्ष नहीं बनता तब तक उसका रस-संचय का काल रहता है, उस काल में वह जितना रस संचय कर लेगा इसी के आधार पर आगे चल कर उसमें पूर्ण फूल लगेंगे। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में (विद्यार्थी जीवन में) व्यक्ति जैसा स्वास्थ्यरस, शक्तिरस, ज्ञानरस और धर्मरस का संचय कर लेगा उसी के आधार पर विश्व में उसके जीवन का भवन खड़ा होने वाला है। यदि ब्रह्मचर्य काल में ही उसने ज्ञान ब्रह्म, वीर्य ब्रह्म और धर्म ब्रह्म का संचय नहीं किया तब गृहस्थाश्रम में आने पर बिना धर्म के अंकुश के उसका अर्थ अनर्थ बन जाएगा और उसका काम, भोग बन जाएगा—

धर्मविहीनं कामं भोगं
संयमहीनं कामं रोगम्।

जो पौधा रससंचय के समय धीरज खोकर शीघ्र ही फल पैदा करने की चेष्टा करता है उसका फल भी कमजोर होगा, कम होगा और कीड़ा लगा हुआ होगा और वह वृक्ष भी जल्दी समाप्त हो जाएगा। गृहस्थाश्रम के काम और अर्थ के उत्तम फल ब्रह्मचर्य के धर्मरस संचय पर निर्भर करते हैं। जिस पौधे को उचित

खाद-पानी मिलता है जिसका पोषण उत्तम ढंग से होता है, वही उत्तम फल दे सकता है। ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट व्यक्ति कभी सफल गृहस्थ नहीं बन सकता। जिसका ब्रह्मचर्य नष्ट है उसका ब्रह्मचर्य भ्रष्ट है। उसका गृहस्थ जीवन भी नष्ट होगा।

गृहस्थाश्रम एक धर्म है। केवल पश्चिम के दृष्टिकोण का एक Social contract भर नहीं है। यदि विवाह को केवल सामाजिक ठेका मान लिया जाए तब उसमें धर्म, ईश्वर या समाज मर्यादा पर कोई विचार नहीं रहता। ठेका दो व्यक्तियों के बीच होता है, वह दोनों में से किसी की इच्छा से तोड़ा जा सकता है। जैसे आर्थिक मामलों के ठेके होते हैं उसी प्रकार से विवाह को भी एक लेन-देन या ठेका मान लेना गृहस्थ धर्म का अपमान है। भारतीय परम्परा में विवाह एक कभी न टूटने वाला धर्मबंधन है।

ठेका परस्पर के स्वार्थों की पूर्ति हेतु एक व्यापारिक समझौता है। किन्तु गृहस्थ धर्म ईश्वर और समाज को साक्षी मानकर निःस्वार्थ कर्तव्यपालन की प्रतिज्ञा है।

पश्चिम में विवाह को एक साझीदारी Partnership माना जाता है, किन्तु भारत में यह साझीदारी न होकर सहधर्म है। पत्नी, जीवनसंगिनीमात्र न होकर सहधर्मिणी बन जाती है। यदि किसी पुरुष के साथ कोई स्त्री किसी कर्मशाला में काम करती है तब सहकर्मिणी होगी। यदि साथ-साथ पढ़ती है तो सहपाठिन् होगी। यदि साथ-साथ यात्रा करती है तो सहगामिनी होगी। संग रहती हो तो वह संगिनी होगी। यदि साथ-साथ व्यवहार करती है तो साझीदार होगी। किन्तु साथ-साथ धर्मपालन करती हो तो वह सहधर्मिणी होगी। भारतीय विवाह में पति और पत्नी मिलकर साथ-साथ पंच महायज्ञों एवं समस्त कर्तव्यों एवं धर्मों का पालन करने का व्रत लेते हैं।

वे काम के सहचर नहीं धर्म के संगी हैं। अतः उनकी सांसारिक सुखोपभोग की सारी कामनायें धर्म पर आधारित, धर्म से अनुमोदित तथा धर्मपालन के लिए ही है। पश्चिम में विवाह काम का लाइसेंस बन जाता है, किन्तु भारत में विवाह धर्म के मांगलिक प्रकाश में कामवासना का पावन परिष्कार है। यह कर्तव्य के राजमार्ग से होकर धर्मदेवता के पावन मन्दिर की दिव्य यात्रा है।

पश्चिम में विवाह को Sex relation कामसम्बन्ध माना जाता है। किन्तु भारत में विवाह कामसम्बन्ध न होकर धर्मसम्बन्ध है।

जहां ब्रह्मचर्य एक स्वतंत्र आश्रम के रूप में प्रतिष्ठित है, वहां ब्रह्मचर्य एक दैवीय गुण है जो सभी आश्रमों में परमोपयोगी है। जो गृहस्थी होकर भी संयम से चलता है वह गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इसी प्रकार वानप्रस्थ

और संन्यास में भी ब्रह्मचर्य की बड़ी महत्ता है। भारत में विवाह कामवासना की पूर्ति का लाइसेंस नहीं है वरन् कामवासना के परिष्कार का अलौकिक प्रयोग है। गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी के यौनसम्बन्धों में धर्मोनुमोदित मर्यादा रहती है। स्वच्छन्द एवं निर्बन्ध यौनाचार की अनुमति गृहस्थाश्रम में भी नहीं है। उससे रज-वीर्य का नाश होकर स्वास्थ्य, मनःशक्ति, बुद्धि, तेज, ओज सभी का विनाश हो जाता है।

वीर्य एक ब्रह्मशक्ति है जो मूलाधार के पास एक कुण्डलित (सर्पिल Spiral) कुण्डली मारी हुई सर्पिणी के समान सुप्त पड़ रहती है। जिस प्रकार कुण्डली मारी हुई सर्पिणी छोटी-सी दिखती है किन्तु कुण्डली खुलने पर उसकी असली लम्बाई का ज्ञान होता है। जिस प्रकार एक तार का चक्राकार स्प्रिंग या Spiral छोटा दिखाई देता है किन्तु खुलने पर उसकी लम्बाई का पता चलता है, उसी प्रकार जो एक विराट् शक्ति हमारे मूलाधारचक्र में कुण्डलित पड़ी रहती है उसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। वह वीर्य ही वीरता का मूल मंत्र है। जिसने वीर्य रक्षा नहीं की वह दुर्बल पामर कभी वीर नहीं बन सकता, शारीरिक बल का विकास कर गुण्डा भले ही बन जाए। वीरता तन और मन की वह शक्ति है जो वीर्य की रक्षा से विकसित होती है और मानव को अलौकिक कृत्य करने में समर्थ, इतिहास निर्माता एवं मानवता का परित्राता बना सकती है। महावीर (हनुमान) दुधमुँहें बच्चे के रूप में एक बार अपनी माता अंजनी के हाथ से एक पत्थर की शिला पर गिर गए और शिला चूर-चूर हो गई। जब राम-रावण युद्ध में हनुमान ने रावण को एक घूँसा मारा तो रावण रथ से नीचे जा गिरा। तब अंजनी माता ने अफसोस किया कि यदि मेरे दूध में अधिक बल होता तो हनुमान के एक घूँसे से रावण का प्राणांत ही हो जाता। वीर माता वीर पुत्रों की निर्माता होती है।

माता निर्माता भवति

हनुमान निश्चय ही रावण को मार सकते थे किन्तु मर्यादा की दृष्टि से श्रीराम के हाथ से रावण का संहार उचित जानकर उन्होंने रावण का अपने हाथ से संहार नहीं किया। वीर्य के बल से ही वज्र के अंगों वाले महावीर बजरंगबली बने। भीष्म पितामह का तनबल, मनोबल, प्रतिज्ञाबल, युद्धबल और बुद्धिबल सभी कुछ वीर्य का ही वरदान थे। महाराणा प्रताप, शिवाजी अपने चरित्रबल से ही इतिहास में अमर वीर बनकर पूजित हुए। गुरु तेगबहादुर ने विवाह के बाद लगभग 20 वर्ष तक तपस्या करके एक पुत्र उत्पन्न किया गुरु गोविन्द सिंह जिसने वीरता और बलिदान की एक अभूतपूर्व मर्यादा स्थापित कर दी। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द आदि अपने ब्रह्मचर्य के बल से ही आत्मविजय

और आध्यात्मिक विश्वविजय करने में समर्थ हुए। इस प्रकार बिना वीर्य रक्षा के कोई वीर नहीं बन सकता।

जिस प्रकार पानी का प्रवाह प्राय: नीचे की ओर ही होता है और पानी का फव्वारा ऊपर की ओर उठाने के लिए वायु के नोदन का उपयोग करना पड़ता है। उसी प्रकार सामान्य व्यक्ति अधोरेतस होता है। उसका वीर्य नीचे की ओर बहकर नष्ट होता रहता है। यदि किसी 6 खण्ड के भवन में सबसे नीचे के नल खुले हों तो ऊपर के खण्डों में पानी कैसे चढ़ेगा? नीचे के नल बंद करने से ही पानी ऊपर चढ़ सकता है। यदि पानी में दबाव कम हो तो वायु के नोदन से पम्प का प्रयोग कर पानी को ऊपर चढ़ाया जाता है। उसी प्रकार मानव शरीर में जो वीर्य शक्ति नीचे की ओर बहकर नष्ट हो जाती है उसे संयम एवं इन्द्रियनिग्रह द्वारा पतन से रोककर ऊपर उठाने का प्रयास किया जाता है। शरीर के भीतर में षड्चक्रों के अष्ट मण्डलों में धीरे-धीरे वीर्य शक्ति ऊपर उठती है। उसे ऊपर उठाने में प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु के नोदन की शक्ति से सहायता ली जाती है। जिसकी वीर्य शक्ति ऊपर की ओर उठती है उसे ऊर्ध्वरेतस कहते हैं। मिट्टी का तेल यदि धरती पर बिखरा हो तो उसे जलाने पर साधारण-सा प्रकाश होता है। ढिबरी में तेल बाती के माध्यम से तनिक ऊपर उठता है इसलिए कुछ प्रकाश होता है। लालटेन में कुछ अधिक प्रकाश होता है। किन्तु जब पैट्रोमैक्स में उसी तेल को पम्प करके वायु के नोदन से ऊपर उठाया जाता है तब वही तेल अत्यन्त उज्ज्वल, प्रखर प्रकाश देने लगता है। वीर्य शक्ति ऊपर उठने से मन को जाग्रत् करती है, बुद्धि को प्रकाशमान करती है। सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाली अत्यन्त निर्मल बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं। ऊपर उठती हुई वीर्यशक्ति प्रज्ञा को तेजस्वी बना देती है। तेज और ऊपर उठकर ओज में परिवर्तित हो जाता है। ब्रह्मरंध्र में पहुंचकर यह शक्ति त्रिकालदर्शिनी प्रज्ञा बन जाती है।

कुण्डलिनी-शक्ति वह शक्ति है जो तपस्या के द्वारा शक्तिमान से मिलना चाहती है। मानव शरीर का मेरुदण्ड एक मेरु (पर्वत) है। इसमें लगभग 30-32 अस्थियां एक के ऊपर एक टिकी हुई हैं। जैसे पर्वत पर शिलाओं पर शिलायें टिकी होती हैं। इस पर्वत के सहारे शक्ति (पार्वती) तपस्या करती हुई धीरे-धीरे ऊपर उठती है। इस कुण्डलिनी-शक्ति के ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचने पर शिव-शक्ति का मिलन हो जाता है। उस समय योगी जो अनहद नाद सुनते हैं वह शिव-पार्वती के विवाह के बाजे हैं। उस शिव की बरात में पंच महाभूत, भूतगणों के रूप में बराती बनकर आते हैं। समस्त देवता भी इस दृश्य का आनन्द लेते हैं और पुष्पवृष्टि करते हैं। यह प्रकृति-पुरुष का मिलन, शिव-शक्ति का संयोग, शिव-पार्वती का दिव्य विवाह एक आध्यात्मिक अलंकार एवं जीवन में सर्वोच्च साधनासिद्धि का सुन्दर चित्र है।

भारतीय विवाह में वर-वधू को यही आशीर्वाद दिया जाता है कि शिव-पार्वती के अखण्ड अविभाज्य मिलन के समान तुम्हारा सती-स्वामी का मिलन हो। अतः भारतीय विवाह संसार के सब कर्तव्यों की परिपूर्ति के साथ-ही साथ अन्त में सर्वोच्च पद प्रभुप्राप्ति के लिए आध्यात्मिक साधना है। इसे विवाह के आठ प्रकारों में सर्वोच्च ब्राह्म-विवाह कहा जाता है। वसिष्ठ-अरुंधती, शिव-पार्वती, श्रीरामकृष्ण परमहंस एवं शारदा माता का विवाह ऐसी आध्यात्मिक साधना में परस्पर सहयोग करने वाला ब्राह्मविवाह ही था।

सबसे बड़ी पूंजी जो माता-पिता अपने बच्चों के लिए उत्तराधिकार के रूप में छोड़कर जा सकते हैं, वह है चरित्र की। यौनाचार में पवित्रता (Chastity)—जहां पश्चिम में विवाह कामवासना पर आधारित है वहां भारतीय विवाह सदाचार व सतीत्व पर आधारित है। ऐसे पावन गृहस्थाश्रम की वाटिका में ही महापुरुषरूपी फूल खिलते हैं—

पिता यस्य सदाचारी माता यस्य पतिव्रता।
कांचन कामिनीं दृष्ट्वा न तस्य चलति मनः।।

अर्थात् जिसके पिता सदाचारी हैं और माता पतिव्रता है ऐसे पवित्र दम्पती की जो संतान होगी उसका मन कांचन और कामिनी को देखकर चलायमान नहीं होगा। इसलिए सदाचारपूर्ण गृहस्थी सारी मानवता को चरित्रवान बनाने की कुंजी है। इसकी तुलना में पश्चिम की भौतिकवादी कामपरायण सभ्यता में जो कांचन और कामिनी की अंधी भूख, नंगा नाच नाच रही है उसका चित्रण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

पिता यस्य कदाचारी माता च पतिवंचिका।
कांचन कामिनी दृष्ट्वा तस्य हि चलति मनः।।

भारतीय संस्कृति धर्म और मोक्ष पर अधिक बल देती है तो पाश्चात्य सभ्यता अर्थ और काम पर ही अधिक बल देती है। भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम को उचित स्थान दिया गया है किन्तु उसे धर्म और मोक्ष के सिर पर नाचने की अनुमति नहीं दी गई। उन्हें धर्म के शासन में रहकर धर्म की सेवा करते हुए मोक्ष मार्ग में सहायक होना है। इसी दृष्टिकोण से पवित्र गृहस्थी मोक्ष की सुदृढ़ सीढ़ी बन जाती है।

संस्कार

गृहस्थाश्रम ही समाज में चारित्र्य-पावित्र्य एवं स्थायित्व का आधार है। बच्चे सदाचारी माता-पिता से चारित्र्य के संस्कार पाते हैं। वे पवित्र विचार और पवित्र आचार अपने बड़ों से ही सीखते हैं। इस दृष्टिकोण से जहां सदाचारी माता-पिता अपनी भावी संतानों को सदाचार का संस्कार देकर समाज, राष्ट्र और विश्व

मानवता का सुन्दर निर्माण करते हैं वहां कामुक एवं स्वार्थी माता-पिता अपनी भावी संतानों को चोर, लम्पट, ठग एवं कदाचारी बनाने का सामाजिक पाप कर रहे हैं।

A family is the noblest cradle of all social and moral virtues.

एक परिवार समस्त सामाजिक एवं नैतिक सद्गुणों के शिक्षण का सबसे श्रेष्ठ पालना है। मनुष्य जब संसार में आता है तब अपने साथ पशुप्रवृत्तियों को लेकर आता है। ये पशुप्रवृत्तियां मनुष्य की प्रकृति है। यदि किसी भी जीवित वस्तु को उसकी प्रकृति पर छोड़ दिया जाता है तो वह विकृति की ओर ले जाती है। इसलिए उसका परिष्कार करना उसकी संस्कृति की आवश्यकता होती है—

संस्कारा: परिष्कार: मानवमानसशोधका:।
तेषां परम्परा श्रेष्ठा संस्कृतिरित्यभिधीयते।।

अर्थात् मानव मन का परिष्कार एवं शोधन करने वाले जितने भाव या कार्य हैं वे सब संस्कार कहलाते हैं। उन्हीं संस्कारों की दिव्य परम्परा का नाम संस्कृति है। क्योंकि प्रत्येक मानव का जन्म किसी न किसी परिवार में होता है इसलिए उसके संस्कारों की श्रृंखला भी परिवार से प्रारम्भ हो सकती है। सबसे प्रथम माता-पिता द्वारा उत्तम संतान के लिए पवित्र संकल्प पुंसवन संस्कार कहलाता है। माता-पिता के संकल्प की छाप बच्चे के मन पर पड़ती है। माता कुंती ने पुत्र प्राप्ति के लिए जैसा-जैसा संकल्प किया वैसे-वैसे गुणों वाले पुत्र प्राप्त किए। माता जीजाबाई ने अपने पवित्र दृढ़संकल्प के आधार पर शिवाजी जैसा धर्मरक्षक वीर पुत्र प्राप्त किया तथा बाद में शैशव के संस्कारों से उसका समुचित विकासकर इतिहास परिवर्तन का चमत्कार कर दिखाया।

महाराष्ट्र के एक गांव में एक छोटी-सी बच्ची खेल रही थी। अकस्मात् कुछ यवन सैनिक एक मन्दिर को तोड़ने के लिए पहुंचे। उस नन्ही बच्ची ने प्रतिरोध किया। सैनिकों ने बच्ची का उपहास कर उसे एक तरफ हटा दिया और मन्दिर गिराने के लिए हथौड़ा चलाने लगे। बच्ची पुन: डटकर खड़ी हो गई। उसने कहा, पहले मेरे सिर पर हथौड़ा चलेगा फिर देवता के मन्दिर को छू सकोगे। मैं जीते-जी मन्दिर को गिराने नहीं दूंगी। देवता ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो मन्दिर को गिराने का दुष्ट प्रयास कर रहे हो? उन दिनों मन्दिर प्रतिदिन गिरते थे। रोज-रोज ऐसे दृश्यों को देखकर लोगों की संवेदना के तंतु प्राय: मर चुके थे। उन्हें अनुभव ही नहीं होता था कि कोई विशेष घटना घटित हो रही है। किन्तु बच्ची वह सब सहन न कर सकी। कुछ देर पश्चात् उसके माता-पिता को सूचना मिली और वे उसे खींचकर घर ले गए और उसकी इच्छा के विरुद्ध सैनिकों से संघर्ष को रोकने हेतु उसको एक कमरे में बंद कर दिया। बच्ची कमरे की खिड़की

से देवालय गिरने का वह असह्य दृश्य देख रही थी तथा वहीं से दांत पीसकर आंसू बहाती हुई सैनिकों को चेतावनी दे रही थी कि तुम्हें इस पाप का दण्ड देकर रहूंगी। सैनिक बच्ची की मजबूरी पर हंसते थे। यह नन्ही बच्ची हमारा क्या बिगाड़ लेगी! किन्तु उस नन्ही बच्ची ने बचपन में जो संकल्प किया और उसी संकल्प की पूर्ति हेतु विवाह होने पर अपनी माता शिवा भवानी से प्रार्थना की कि मेरे अरमानों को पूरा करने वाला एक धर्मरक्षक पुत्र प्रदान करो। उस बच्ची जीजाबाई के पवित्र और दृढ़ संकल्प से ही सदा विजयी छत्रपति शिवाजी जैसा महान् इतिहास निर्माता वीर प्रकट हुआ।

सुभद्रा के बालक अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्रव्यूह भेदन का रहस्य जान लिया। माता-पिता के संतानोत्पत्ति के संकल्प में मनोवैज्ञानिक शक्ति है जिसका प्रमाण इतिहास में बार-बार मिलता है। इसलिए पवित्र गृहस्थाश्रम में दम्पती के पवित्र संकल्प से उत्पन्न संतान तथा नाइट क्लबों, व्यभिचार भवनों या कामवासना पूर्ति के भोग विलास के क्षणों से उत्पन्न संतान में देव और दानव का अन्तर अनिवार्य है।

भारतीय संस्कृति की परम्परा पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र-प्रपौत्र में, गुरु से शिष्य, शिष्य से प्रशिष्य आदि में जन्म से मरणपर्यन्त किंवा मरणोत्तर तक में चलती रहती है। शिशु के जन्म पर जातकर्म संस्कार किया जाता है। बच्चे की जिह्वा पर सोने की सलाई से मधु के द्वारा ओम् या राम लिखा जाता है। उस अबोध शिशु के संस्कारक्षम मन पर कुछ अच्छे संस्कार डाले जाते हैं जिनका परिणाम भावी जीवन में जाकर प्रकट होता है। बच्चे का अन्नप्राशन संस्कार भी पवित्र धार्मिक कृत्य है, मात्र शरीररूपी पशु की अन्न की भूख नहीं है। बच्चे को चोला या वस्त्र पहनाना भी संस्कार है। गीता में भगवान् ने शरीर की भी वस्त्र से उपमा दी है। जिस प्रकार आत्मा ने शरीररूपी वस्त्र धारण किया है उसी प्रकार शिशु का शरीर लोकव्यवहार के लिए वस्त्र धारण करता है। जिस प्रकार वस्त्र मैला-कुचैला होने पर बदल दिया जाता है उसी प्रकार शरीररूपी वस्त्र के जीर्ण-शीर्ण, फटा-पुराना या पापपंकिल होने पर इसे बदल दिया जाता है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। 2/22, गीता

चोला पहनने और चोला बदलने की इस सरल शारीरिक क्रिया में भारतीय संस्कृति का बहुत बड़ा तत्त्वदर्शन छिपा हुआ है।

(क) शरीर एक चोला है जो प्रभु कृपा से मिला है। चोले को स्वच्छ, साफ-सुथरा और पवित्र रखने, चोले का उचित मान-सम्मान रखने में हमारा अपना ही मान-सम्मान है। हम चोले की मर्यादा रखेंगे तो चोला हमारी मान-मर्यादा की रक्षा

करेगा। इसलिए चोले को कुसंस्कारों की मैल से तथा पाप के पंक से यथाशक्ति-यथासम्भव बचाने की चेष्टा करनी चाहिए।

(ख) चोला साधन है, साध्य नहीं। जैसे शरीररक्षा के लिए चोला पहना जाता है और पहनकर कुछ दैनिक कर्तव्य पूरे किये जाते हैं, इसी प्रकार शरीर रूपी वस्त्र को साधन मानकर जीवन के समस्त कर्तव्यों को पूरा करना चाहिए।

(ग) वस्त्र की सफाई अधिक महत्त्वपूर्ण है और सुन्दरता, श्रृंगार, सजावट आदि गौण है। इसी प्रकार इस शरीर रूपी वस्त्र का स्वस्थ, स्वच्छ और पवित्र रहना अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसको सजाना-संवारना, श्रृंगार करना, आकर्षक बनाकर अहंकार से दर्पण में देखकर दर्प का बढ़ना गौण महत्त्व का है।

स्वस्थ, निरोग, पवित्र शरीर वाला व्यक्ति चाणक्य या सुकरात के समान अधिक सुन्दर न होने पर भी किसी सुन्दर सजे-संवरे, बढ़िया वस्त्रालंकारों से विभूषित, सौन्दर्य के दर्प में अंधे हुए रोगी, कुकर्मी, अपवित्र आचरण वाले किसी रावण, दुर्योधन, सांडर्स, साइमन, हिटलर, इचमैन, याहिया खां की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।

(घ) जिस प्रकार नाटक में पात्रों को जो-जो चोला दिया जाता है उन्हें उस-उस चोले के अनुरूप अपना अच्छे से अच्छा अभिनय प्रस्तुत करना होता है। राजा हरिश्चन्द्र का चोला पहनकर हरिश्चन्द्र के अनुरूप ही अभिनय करना होगा। भिखारी का चोला पहन कर भिखारी जैसा अभिनय, राजा का चोला पहनकर राजा जैसा अभिनय, राम का चोला पहनकर राम जैसा अभिनय और रावण का चोला पहनकर रावण जैसा अभिनय करके संसाररूपी नाटक को अच्छी प्रकार से सफल बनाना होगा। यदि चोला हनुमान का पहना हो और अभिनय हनुमान के अनुरूप न हो तो सारा नाटक ही बिगड़ जाएगा। मुजफ्फरनगर में रामलीला में हनुमान का अभिनय करने वाला व्यक्ति एक दिन अचानक बीमार हो गया। रामलीला को चालू रखने के उद्देश्य से एक उसी के समान मोटा-ताजा व्यक्ति खोजकर लाया गया और उसे जल्दी-जल्दी अभिनय का प्रशिक्षण देकर हनुमान का वेश पहनाकर मंच पर चढ़ा दिया गया। जब वाटिका उजाड़ने के उपरान्त हनुमानजी को बंदी बनाकर रावण के दरबार में प्रस्तुत किया गया तब दशशीश वाले ऊंचे सिंहासन पर बैठे हुए रावण ने तलवार निकालकर बड़े रोष से झपटते पूछा—बोल बन्दर, तू कौन है? तब हनुमान बना हुआ नया पात्र कांपने लगा और हाथ जोड़कर बोला, अजी, मैं तो झण्डी हलवाई हूं। इससे सारी रामलीला का रस भंग हो गया। इसलिए मानव का चोला पहनकर सच्चे मानव का ही अभिनय करना चाहिए। मानवता से भिन्न अभिनय करने से संसार के रंगमंच पर जीवन की लीला का रस भंग हो जाएगा और हमें उपहास एवं तिरस्कार का पात्र बनना पड़ेगा।

(ङ) रंगमंच पर आते समय हमें जिस निर्देशक ने चोला दिया और जो प्रशिक्षण देकर जैसा आचरण करने के लिए कहा और रंगमंच पर आ जाने के पश्चात् भी वह निर्देशक पर्दे के पीछे छिपा हुआ हमें संकेतों द्वारा तथा बहुत ही मंदवाणी में मार्गदर्शन (Prompting) कर रहा है। उसके प्रशिक्षण, आदेश, निर्देश और संकेत के अनुसार ही हमें अभिनय करना चाहिए। इसी प्रकार संसार के रंगमंच पर भेजने के पूर्व मानव का चोला देते समय प्रभु ने जो शिक्षा, आदेश, निर्देश दिए और रंगमंच पर उतर जाने के पश्चात् भी वह प्रभु सारी सृष्टि के नाटक का निर्देशक बना, हमारे अन्तःकरण में बैठा हुआ अन्तर्यामी दुनिया की दृष्टि में छिपा हुआ पर्दे की ओट से मंदवाणी में अपने संकेतों द्वारा हमारा मार्गदर्शन कर रहा है। उसी के निर्देशन के अनुसार संसार में कर्तव्यों को अभिनीत करना चाहिए।

(च) यदि कोई पात्र निर्देशक के निर्देश के विपरीत अभिनय करने लगता है और निर्देशक के बार-बार संकेत करने पर भी, पर्दे के पीछे से बार-बार बोलने पर भी, वह विपरीत अभिनय नहीं त्यागता तो निर्देशक को बाध्य होकर नाटक के बीच में पर्दा गिरा कर उस पात्र को जबरदस्ती हटाना पड़ता है। इसी प्रकार जो मानव का चोला पहनकर प्रभु के संकेतों, आदेशों को न मानकर बार-बार विपरीत अभिनय करते हैं उन्हें अकस्मात् मृत्यु का काला पर्दा डालकर प्रभु संसार के रंगमंच से ठोकर मारकर हटा देते हैं।

(छ) नाटक में जिसे बाली या सुग्रीव का अभिनय करने का दायित्व मिला हो उसे अपना अभिनय प्रामाणिकता के साथ करना चाहिए। हो सकता है कि नाटक में बाली का अभिनय ही सर्वोत्तम हो जाए और उसे प्रथम पुरस्कार मिले। बाली नाटक में सुग्रीव को सताने वाला और राम के बाण से मरने वाला एक खलनायक (पात्र) है। नाटक में उसे कार्य तो बढ़िया नहीं मिला किन्तु जो भी कार्य मिला उसको निभाया बहुत सुन्दर ढंग से, इसलिए अभिनय का प्रथम पुरस्कार उसे मिल गया। इसी प्रकार संसार के रंगमंच पर रविदास को काम तो पशु की खाल उतारने का, जूता गांठने का शूद्रकर्म मिला। कबीर को जुलाहे का कर्म मिला। गौरा कुम्हार का कार्य करता था, दादू धुनिया था। महाभारत में वर्णित धर्मव्याध और मध्यकाल में प्रसिद्ध भक्त सदना कसाई था। किन्तु उन्हें रंगमंच पर घटिया भूमिका मिलने पर भी उन्होंने उसका अभिनय इतने सुन्दर ढंग से किया कि वे संसार में पूज्यपुरुष बन गये। इसकी तुलना में रावण ब्राह्मण की संतान होते हुए भी राक्षसकर्म करने लगा। गंगू ब्राह्मण ने गुरु गोविन्दसिंह से विश्वासघातकर उनके नन्हे बच्चों को सरहिंद के नवाब को दीवार में चुनने के लिए सौंप दिया। मानसिंह ने क्षत्रिय होते हुए देश और धर्म से द्रोह किया। इसलिए महत्त्व भूमिका से भी अधिक अभिनय का है। इसी प्रकार वर्ण और जाति से भी अधिक महत्त्व आचरण का है।

(ज) यदि नाटक में कोई व्यक्ति सुशील कुमार बाली का अभिनय कर रहा था और उसे उत्तम अभिनय के लिए प्रथम पुरस्कार के रूप में 500 रु. का चेक दिया गया तो वह राशि बाली के खाते में नहीं जाएगी। बाली तो एक बार रामायण काल में मर चुका और अभी राम के हाथ से मारा गया। इसलिए पुरस्कार लेने के लिए बाली सामने कहां से आएगा? किन्तु बाली का चोला पहन कर जिस सुशील कुमार ने अभिनय किया वह पुरस्कार लेने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। पुरस्कार की राशि बाली के खाते में न जाकर सुशील कुमार के खाते में ही जाती है। इसी प्रकार मानव का चोला धारण कर हम जो भी अभिनय करते हैं उसका पुण्य यश शरीर-रूपी चोले को न मिलकर चोला धारण करने वाली आत्मा को ही मिलता है। जैसे बाली का चोला छूट जाने पर भी उसके अभिनय को करने वाला यशस्वी हुआ, उसी प्रकार संसार के रंगमंच पर मानव शरीर के चोले को धारणकर जिन सज्जनों ने पुण्यकृत्य किए उनके शरीर छूट जाने पर भी उस पुण्य से उनकी आत्मा यशस्वी हुई।

(झ) जैसे रामलीला होने से पहले भी मंच खाली था और रामलीला समाप्त हो जाने पर भी मंच खाली हो जाता है। मंच पर अनेक लीलायें खेली जाती हैं। लीलायें बदलती रहती है, मंच स्थिर रहता है। उसी प्रकार शरीर आते-जाते रहते हैं और आत्मा निर्विकार रूप से स्थिर रहता है। लीला होकर होने वाली है अर्थात् होती है, परिवर्तित होती है, पुनः होती है। किन्तु मंच होकर होने वाला नहीं। आकाश में बादल भी होकर होने वाले हैं अर्थात् वे हलके बादल से, घनीभूत बादल से, काले बादल, घूमते-फिरते बादल, वर्षा करने वाले बादल, वर्षा करके लुप्त हो जाते हैं। फिर पुनः बनते हैं पुनः घनीभूत होते हैं, पुनः बरसते हैं, पुनः लुप्त हो जाते हैं। किन्तु आकाश को न काला कर सकते हैं न गीला। उसी प्रकार अनेकानेक शरीररूपी चोलों को धारण करने वाला यह आत्मा न जन्मता है, न मरता है। न होकर होने वाला है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 2/20, गीता

दर्शन में सत्ता के दो स्तर हैं—

(1) स्वयंभू सत्ता (Being)—अस्ति। जो अपने आप में सदा सर्वदा विद्यमान है। अपरिवर्तनीय है। जैसे आत्मा है।

(2) परिवर्तनशील सत्ता (Becoming)—भवति। विश्व की प्रत्येक वस्तु होकर होने वाली है अर्थात् वह होती है, बनती है, विकसित होती है, विकारी होती है, बिगड़ती है, मिटती है। और पुनः होती, बनती, बिगड़ती है, मिटती है। शरीर होकर होने वाला है। किन्तु आत्मा होकर होने वाला नहीं।

आत्मा अस्ति न भवति, देहः नास्ति, केवलं भवति।

इसी को वेद की शब्दावली में 'आभु' और 'अम्व' का अन्तर बताया गया है।

आभु = आ समन्तात् भवतीति (भवति इति) आभु अर्थात् जो सर्वथा परिपूर्ण, देश और काल में सर्वत्र व्यापनशील है, वह सत् तत्त्व 'आभु' है। इसे विभु भी कहा जाता है। आत्मा या ब्रह्म आभु है।

अम्व = भूत्वा-भूत्वा पुनर् भवति इति अभूवम्। जो हो-हो कर पुनः होता है वह परिवर्तनशील सत्ता 'अम्व' है। इसे वेद में तुच्छ या क्षुद्र भी कहा गया है। सारी प्रकृति और देहादि अम्व, तुच्छ या क्षुद्र है। यह परिवर्तनशील, विकारी और विनाशी है। किन्तु इसी तुच्छ ने आभु को ढक रखा है। ऋग्वेद में कहा है—

तुच्छेन आभु अपिहितम्।

परिवर्तनशील जगत् ने अपरिवर्तनीय परम सत्ता को ढक रखा है। इसी को शुक्ल यजुर्वेद के ईशोपनिषद् में कहा गया है—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।'

अर्थात् सोने के पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। वैभव ने विभु को ढक लिया है। ऐश्वर्य ने ईश्वर को छिपा दिया है। माया ने महेश्वर पर पर्दा डाल दिया है। आत्मा पर देहरूपी पर्दा ही पड़ा हुआ है।

'दिह्यति इति देहः'

अर्थात् जो सद्वस्तु को ढक दे वही देह है। चोले ने व्यक्ति को ढक दिया है। बाली के मुखौटे और वेश-भूषा ने वास्तविक कलाकार सुशील कुमार को ढक दिया है। भूमिका ने पात्र को ढक दिया है।

(ञ) उत्तम नाटक की विशेषता यही है कि वह चोले से व्यक्ति को ऐसा ढक दे कि दर्शक पहचान न सके। अभिनय से पात्र ऐसा छिप जाए कि लोग भेद न जान सकें। जब नाटक के पात्रों के साथ दर्शक का साधारणीकरण हो जाता है तब नाटक का रस आने लगता है। दर्शक भूल जाता है कि वह कलयुग में अपने गांव या नगर में बैठा हुआ एक पण्डाल या हॉल में रामलीला को देख रहा है। वह चोले और अभिनय के चमत्कार से वर्तमान देश-काल को भूलकर रामायण के देश-काल की कल्पना में विहार करने लगता है। तथा लक्ष्मण की बेहोशी और मेघनाथ वध पर दुःख-सुख अनुभव कर आंसू और मुसकान प्रकट करने लगता है।

इसी प्रकार प्रभु के जगत्रूपी नाटक के चोले ने आत्मा को ऐसा ढक दिया है कि चोला सत्य प्रतीत होता है और इसी की लीला के आंसू और मुसकान के भाव प्रकटकर हंसते-रोते रहते हैं।

(ट) रंगमंच पर जब राम की भूमिका में अभिनय करने वाला पात्र जटा धारण किये हुए, धोती-यज्ञोपवीत एवं धनुषबाण धारणकर कान तक धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाकर रावण की भूमिका वाले पात्र की छाती में कसकर तीर मारता है और रावण मृत्यु चीत्कार करता हुआ धराशायी हो जाता है तब दर्शक प्रसन्नता से करतल ध्वनि करते हैं। किन्तु राम की भूमिका वाला पात्र रावण को मारने का अभिनय करते हुए भी जानता है कि वास्तव में यह मात्र लीला है वास्तविक घटना नहीं। और रावण का मुखौटा पहना हुआ व्यक्ति भी जानता है कि यह मरने की लीला मात्र है वास्तविक मरना-मारना कुछ नहीं है। पर्दे के पीछे राम एवं रावण की भूमिका वाले दोनों पात्र परस्पर में आलिंगन करते हैं। इसी प्रकार संसार के रंगमंच पर जो लोक व्यवहार की लीला चल रही है उसमें बाल बुद्धि वाले अज्ञ पुरुष इस लीला को ही सत्य मानकर हंसते-रोते रहते हैं। किन्तु ज्ञानी पात्र ही जानते हैं कि वास्तव में मरना-मारना लीला मात्र है, वास्तविकता नहीं। और विचारवान दर्शक भी जानते हैं कि श्रवण कुमार की मृत्यु वास्तव में नहीं हुई। दशरथ का देहांत और लक्ष्मण की बेहोशी सब लीला मात्र है, वास्तविक घटनायें नहीं। इसलिए वे प्रिय और अप्रिय दोनों दृश्यों में समबुद्धि रहकर मंद-मंद मुस्कराते हुए तमाशा देखते रहते हैं और अपना लौकिक कर्तव्य भी निभाते रहते हैं। भारतीय दर्शन जीवन को घटना न मानकर कर्तव्यों की लीलाभूमि मानता है। विचारवान व्यक्ति जानता है कि नाटक में मरने वाले श्रवण की मृत्यु पर सम्वेदना से आंखें गीली भले ही हो जाए किन्तु वह लीला मात्र होने के कारण वास्तविक शोक का प्रसंग नहीं है। क्योंकि वह मरना नहीं, मरने की लीला का अभिनय है। घटना को हम सत् मान लेते हैं किन्तु लीला सत्य जैसी दिखती हुई भी वास्तव में विवेक विचार से सत् नहीं मानी जाती। इसलिए लीला के शोक प्रसंगों पर भी सहानुभूति एवं स्वानुभूति Sympathy and empathy के आंसू बहाकर भी नाटक में रस और आनन्द मिलता है। घटना का शोक वास्तविक होता है, उस शोक में बहाए जाने वाले आंसू मन को व्यथित और चिन्ता-मग्न कर अधमरा-सा बना देते हैं। किन्तु लीला में शोक एवं करुणा के प्रसंगों पर हम आंसू बहा लेते हैं और कहते हैं इस दुःखान्त नाटक को देखने से बड़ा आनन्द आया। गांठ के पैसे लगाकर और अपना मूल्यवान समय लगाकर अपने नेत्रों से आंसू बहाकर भी हम कहते हैं कि आनन्द आया। इसका कारण क्या है? घटना और लीला में यही अन्तर है। जब हम जीवन को वास्तविक घटना मान लेते हैं तब उसके दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होते हैं किन्तु जब इसे भगवत्-लीला अथवा भगवान् की इच्छानुसार अपनी कर्तव्य-लीला मान लेते हैं तब इसके प्रत्येक लीला प्रसंग से आनन्द रस टपकने लगता है। इसलिए भगवान् के सब चरित्रों को लीला कहा गया। जैसे जन्म लीला (भगवान् अजन्मे होते हुए भी जन्म की लीला कर रहे हैं), पूतनासंहार लीला (घटना में

जिसे हत्या Murder कहा जाएगा विचारवान की दृष्टि में संहार लीला), गोचारन लीला, माखनचोरी लीला, चीरहरण लीला, कृष्ण लीला, रासलीला, नागनथन लीला, कंससंहार लीला आदि। इस प्रकार सारी सृष्टि ब्रह्म की मधुर लीला ही है। घटना राग-द्वेष से प्रेरित होकर होती है किन्तु लीला बिना राग-द्वेष के शुद्ध आत्मानन्द के लिए होती है। घटना मन पर बोझा डालने वाली होती है। नौकरी का बोझा, मजदूरी का बोझा, मजबूरी का बोझा, पारिश्रमिक का बोझा, हर्ष-शोक का बोझा, दण्ड का बोझा आदि। लीला घटना की अपेक्षा अधिक विकट होते हुए भी लीलाकर्म मन को बोझे से मुक्त कर आनन्द देने वाला बन जाता है। किसी बालक को बाजार से 10 सेर आटा लाने के लिए कहा जाए तो वह बोझा मानकर ही कतराता है। किन्तु खेल के मैदान में मण, आधा मण का भार उठाकर व्यायाम करता है। दौड़ लगाता है। भारी सामान पीठ पर लादकर पहाड़ी पर खुशी-खुशी चढ़ता है। घटना बोझिल है, खेल या क्रीड़ा (लीला) मानसिक बोझ से मुक्त करने वाली होती है। भगवान् अर्जुन को समझाते हैं कि युद्ध में मरने-मारने के भय से न कर्तव्य छोड़ो और न शोक करो। क्योंकि वास्तव में—

'नायं हन्ति न हन्यते।'

'वास्तव में आत्मा न किसी को मारता है न मारा जाता है।' अतः स्वयं के मरने का भय नहीं और दूसरे के मरने का शोक नहीं।

यदि आत्मा न मरता है और न मारता है, तब निम्नलिखित शंकायें पैदा हो सकती हैं—

(क) मरने-मारने के झंझट में युद्ध अथवा संघर्ष में पड़े ही क्यों? अर्जुन भगवान् से यही प्रश्न करता है कि यदि कर्म (युद्ध) से ज्ञान (आत्मज्ञान) ही श्रेष्ठ है तो मुझे घोर कर्म (युद्ध) में आप क्यों लगा रहे हो।

(ख) यदि सब में आत्मा (मैं) ही छिपा बैठा है या नारायण ही विराजमान है तो मुहम्मद गोरी, गजनवी के अत्याचारी आक्रमण का प्रतिरोध क्यों करें? वे भी नारायणरूप हैं।

(ग) यदि आत्मा न मरता है न मारता है तो न्यायालय में लाखों यहूदियों का हत्यारा Eachman कह सकता है कि मारना, मरना झूठ है। वास्तव में मैं (आत्मा) किसी को मारता ही नहीं और मार सकता भी नहीं यानी कोई व्यक्ति मेरे द्वारा मारा जा सकता ही नहीं।

(घ) देश विभाजन के समय दंगों में बहुत से हिन्दू-सिक्ख गांधीजी के पास अपना दुःख रोने के लिए आए और कहा, मुसलमान हमारी मां-बहनों की इज्जत लूट रहे हैं और लाखों हिन्दुओं का कत्लेआम कर दिया है। तो गांधीजी

अपने भोले भाव में कहते हैं कि हिन्दू धर्म यह मानता है कि आत्मा अमर है। केवल शरीर ही मरता है जो कि मिथ्या है। इसलिए इसमें क्या अन्तर पड़ता है कि हिन्दू अपने घर में रोग से मरे या मुसलमान के छुरे से मरे? आत्मा तो अमर ही है। इसी से क्रुद्ध होकर कुछ नवयुवकों ने गांधीजी पर घातक प्रहार का षड्यंत्र रचा।

कुछ लोग भगवद्गीता को युद्धशास्त्र अथवा हिंसासमर्थक संगीत कहते हैं। उनका तर्क है कि अर्जुन युद्ध से उपराम होकर क्षत्रिय के कर्तव्य से भी श्रेष्ठ ब्राह्मण के कर्तव्य को करने को प्रस्तुत था। शान्ति के श्रेष्ठ कर्तव्य से हटाकर अर्जुन को पुनः हिंसा के कर्म में लगाना निश्चय ही युद्ध और हिंसा का ही प्रचार है। पर वास्तव में गीता युद्धशास्त्र न होकर कर्मयोग शास्त्र है। युद्ध भी एक कर्म है। यह संयोग की बात है कि अर्जुन क्षत्रिय है। धर्मयुद्ध करना उसका कर्तव्य कर्म है और गीतोपदेश की पृष्ठभूमि तथा उपदेश का रंगमंच एक महायुद्ध के महासमर का रणक्षेत्र है। किन्तु इस विशिष्ट पृष्ठभूमि में अति भयानक प्रतीत होने वाली देश-काल, पात्र-परिस्थिति में भी ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र का समन्वित संदेश दिया जा सकता है। यही गीता ज्ञान की विशेषता है।

We have a singing and ringing philosophy हमारा गीता दर्शन संगीत के गुणों से तरंगायमान है। युद्ध में मानव मन की लड़ने और संघर्ष करने की प्रवृत्ति कार्यशील होती है। परिणामस्वरूप उसका क्रोध का संवेग भड़क उठता है। क्रोध में अपने आपको नियंत्रण में न रख सकने के कारण प्रबल रोष एवं जोश में, क्रोध के पागलपन में, क्रोध के कारण सामने वाले व्यक्ति अथवा जनसमूह पर प्रहारकर उन्हें चोट पहुंचाने, क्षति पहुंचाने अथवा इससे भी आगे बढ़कर उन्हें जान से मारने पर मनुष्य तुल जाता है। व्यक्तिगत रूप में इसे हत्या या हत्या का प्रयास कहा जाएगा और सामूहिक रूप से इसे युद्ध कहा जाता है। युद्ध का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यही है Instinct of pugnacite (लड़ने की प्रवृत्ति), Emotion of anger—wild rage=(पाशविक क्रोध), Physical assault (शरीर रूप में आक्रमण करना) Killing—mass killing battle = war.

गीतोपदेश से पहले की महाभारत की कथा से स्पष्ट होता है कि युद्ध का सारा उत्तरदायित्व अत्याचारी कौरवों पर ही था, पांडवों पर नहीं। कौरवों की अन्याय, अत्याचार, लोभ-लूट की प्रवृत्ति ही सारे भीषण युद्धकाण्ड का मूल कारण बने। राज्य पांडु का था और उसके वैध उत्तराधिकारी पांडव ही थे। राजा पांडु ने मरते समय अपने अंधे भाई धृतराष्ट्र को तब तक के लिए राज्य का संरक्षक बनने को कहा था जब तक युधिष्ठिर राजतिलक के लिए वयस्क नहीं हो जाते हैं। किन्तु धृतराष्ट्र संरक्षक के स्थान पर सम्भक्षक बन गया। वह राष्ट्र को अपने

व्यक्तिगत लोभ के पंजे के नीचे धर-पकड़कर बैठ गया। वह धृतराष्ट्र बन गया और राष्ट्र के वास्तविक स्वामी पांडव हृतराष्ट्र बन गए। वास्तविक उत्तराधिकारियों को विष देकर मारने, धोखे के पासे फेंककर राज्य लूटने, उनको माता सहित लाक्षागृह में जलाने, भरी सभा में भाभी को वस्त्रहीनकर अपमानित करने, उन्हें 12 वर्ष का वनवास देने और वनवास और अज्ञातवास-काल में भी जान से मारने का दुष्ट प्रयास धृतराष्ट्र (पुत्रों) की ही काली करतूतें थी। अतः लोभवृत्ति के साथ लड़ने की प्रवृत्ति भी उन्हीं की ही प्रबल थी। एक तो चोरी और ऊपर से सीनाजोरी! प्रकृति ने मानव को जो लड़ने की मूल प्रवृत्ति दी है वह निरुद्देश्य नहीं दी है। उसका जीवनरक्षा एवं सत्त्वरक्षा के लिए महत्त्व है। जब कोई आततायी किसी दुर्बल जीव को लूटने या मारने के लिए आता है तब भयाक्रान्त जीव की प्रतिरक्षा के हेतु से लड़ने की प्रवृत्ति जाग उठती है। वह क्रोध में भरकर आततायी को ललकारता है। उस क्रोध के आवेग में उसकी सोयी हुई शक्ति जाग उठती है और बहुत बार बलवान आततायी भी दुर्बल व्यक्ति या अबला नारी की सत्त्वरक्षा के लिए प्रकट क्रोध से हतप्रभ हो जाता है। सज्जन व्यक्ति अपनी इस लड़ने की प्रवृत्ति का न्याय नीति की रक्षा के लिए सदुपयोग करता है और दुर्जन व्यक्ति अन्याय और अनीति करने के लिए इसका दुरुपयोग करता है। अतः यदि युद्ध की बला सिर पर आ ही पड़े तो अन्याय-अनीति के सामने घुटने टेक देना एक बहुत बड़ा अनैतिक कर्म होगा। क्योंकि इससे अत्याचार को बढ़ावा ही मिलेगा। अन्याय करना पाप है तो अन्याय सहना महापाप है। इसलिए अन्य सब उपाय व्यर्थ हो जाने पर अन्याय का प्रतिकार (आततायी को दण्ड) अथवा युद्ध करना धर्म है। नहीं तो न्याय, धर्म, नैतिकता पर विश्वास उठ जाएगा और समाज अनीति पर चलकर नष्ट होगा। देवों के अंश से उत्पन्न धर्मात्मा पांडव और जिनके साथ स्वयं भगवान् हैं उन्हें ही न्याय मिला नहीं तो हम भला किस खेत की मूली हैं? अतः धर्म न्याय पर लोगों की निष्ठा ही उठ जाएगी और धीरे-धीरे पूरा समाज अनीति पर चलकर सर्वनाश को प्राप्त हो जाएगा। इस विषय में भगवान् मनु राजा का कर्तव्य निर्धारित करते हुए कहते हैं—

गुरु वा बालवृद्धो वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।। मनु स्मृति

भले ही वह गुरु हो, एक बालक हो या वृद्ध ब्राह्मण हो अथवा बहुपाठी विद्वान्। लेकिन यदि वह आततायी के रूप में आता है तो बिना किसी हिचक के उसका वध कर देना चाहिए।

यदि कोई पूछे कि आततायी के लक्षण क्या हैं तो वसिष्ठ स्मृति (3/16) उत्तर देते हुए कहती हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः।।

आग लगाने वाला, जहर देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने आने वाला, धन लूट लेने वाला, जमीन पर जबरदस्ती कब्जा कर लेने वाला तथा पत्नी का अपहरण करने वाला—ऐसे छः प्रकार के आततायी होते हैं।

ये सारे लक्षण कौरवों में चरितार्थ हैं। अतः ऐसे आततायी दुष्ट को दण्ड देना धर्म है, अधर्म नहीं। अहिंसा है, हिंसा नहीं। इसीसे समाज में अहिंसा प्रतिष्ठित रहती है। अतः महाभारत का महायुद्ध पापी कौरवों द्वारा धर्मात्मा पांडवों पर थोपा गया युद्ध था जो कौरवों ने किया। पांडवों ने युद्ध टालने के सब उपाय समाप्त हो जाने पर भगवान् एवं माता के आदेश से आत्मरक्षार्थ धर्मयुद्ध किया।

गीता धर्मशास्त्र है, युद्धशास्त्र नहीं। धर्मरक्षार्थ अन्य सभी उपाय विफल हो जाने पर धर्मयुद्ध करना भी धर्म के अन्तर्गत है, युद्ध के अन्तर्गत नहीं।

(क) युद्ध में महत्ता युद्ध की ही होती है। उसमें हेतु स्वार्थ, लोभ या अहंकार होता है। धर्मयुद्ध में महत्ता धर्म की होती है। युद्ध उसके लिए एक अन्तिम अप्रिय साधन रूप है।

(ख) युद्ध स्वार्थप्रेरित होकर किया जाता है, धर्मयुद्ध न्याय नीति की रक्षा के लिए निःस्वार्थ भाव से किया जाता है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। 2/38, गीता

'सुख और दुःख को, लाभ और हानि को, जय और पराजय को समान समझ और युद्ध के लिए तैयार हो जा। तब तुझे पाप नहीं लगेगा।'

(ग) युद्ध वैरभावना से होता है। धर्मयुद्ध मित्र-शत्रु, निन्दा-स्तुति, लाभ-हानि, सुख-दुःख को समान समझकर शुद्ध कर्तव्यभावना से होता है।

(घ) युद्ध और धर्मयुद्ध में अन्तर वैसा ही है जैसा एक छुरेबाज के पेट काटने में और एक शल्य चिकित्सक के पेट चीरने में अन्तर है। हत्यारा हत्या कर्म को ही प्रमुख मानता है और प्राणहानि ही उसका उद्देश्य है। किन्तु सर्जन रोगी की प्राणरक्षा के उद्देश्य से अन्य सब उपाय निष्फल हो जाने पर बाध्य होकर छुरे द्वारा पेट को काटने का अप्रिय एवं अनिवार्य साधन अपनाता है। साध्य स्वास्थ्य और साधन शल्यचिकित्सा है। छुरेबाज हत्यारे को कठोर दण्ड मिलता है किन्तु ऑपरेशन करने वाले शल्य चिकित्सक को पुरस्कार मिलता है। जिस प्रकार मानव शरीर में मस्तिष्क का कार्य विचार करना, भुजाओं का कार्य रक्षा करना, पेट का कार्य अन्नग्रहण एवं पाचन करना, पांव का कार्य आवागमन एवं सेवा करना है। इसी

प्रकार समाज के शरीर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन सबके परस्पर सहयोग की व्यवस्था से समाज चल सकता है अन्यथा नहीं। इसी भाव को वेद के मंत्र में चारों वर्णों को एक ही विराट्पुरुष ब्रह्म के अंगों के रूप में दर्शाया गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखामासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रो अजायत।।

अर्थात् एक ही ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, मध्य भाग से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए। यह हमारी वर्णव्यवस्था प्राकृतिक एवं ईश्वर निर्मित है। किसी पण्डा-पुरोहित द्वारा निर्मित नहीं। इसमें परस्पर सहयोग और एकात्मता का भाव है, जात-पांत के भेदभाव का नहीं।

मस्तिष्क पूरे शरीर के हित के लिए विचार करता है। यदि वह अपना मस्तिष्क का कार्य (विचार करना) छोड़कर पेट का कार्य भोजन करना और पचाना करने लगे तो शरीर कुछ क्षण भी नहीं चल सके। यदि पेट अपना कार्य छोड़ दे और पांव का कार्य करने लगे या शरीर पर पड़ने वाली चोट से रक्षा के लिए आगे दौड़ने लगे तो भी न पेट का कल्याण है न शरीर का। इसी प्रकार यदि क्षत्रिय अपना कर्तव्य छोड़ दे और अवसर आने पर कायरता के कारण या मोह के कारण ब्राह्मण के कर्तव्य को करना चाहे तो भी समाज में बड़ी अव्यवस्था पैदा हो जाएगी। जिस सेना के अधिकारी को सैनिक का प्रशिक्षण दिया गया, सैनिक सम्मान एवं सलामी दी गई। भोजन, वर्दी एवं ऊंचा वेतनमान दिया गया। वह शान-शौकत और अपनी अफसरी का घमण्ड दर्शाता रहा। पर जब चीन या पाकिस्तान का आक्रमण होने पर उसे युद्ध के मोर्चे पर जाने का आदेश मिला और वह उस समय अर्जुन के समान युद्ध की हिंसा, रक्तपात आदि बुराइयों का बखानकर उसके स्थान पर ब्राह्मण के विद्यादान के अथवा ब्रह्म-चिन्तन के कर्तव्यों की प्रशंसा करने लगे और अपने स्वधर्म को त्यागकर युद्ध के मोर्चे से भाग आए तो उसे कौन धर्मात्मा कहेगा? वह तो कर्तव्यभ्रष्ट, देश को असमय पर धोखा देने वाला पापी गिना जाएगा।

युद्धकाल में भी सभी वर्णों को अपने-अपने कर्तव्य पथ पर डटे रहना चाहिए। यदि अध्यापक विद्यादान का कर्तव्य छोड़कर युद्ध करने को भागे तो युद्ध में लड़ने वाले सैनिक के बच्चों की शिक्षा खंडित हो जाएगी। यदि वैश्य भी युद्ध भूमि में पहुंच जाए तो युद्ध के मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिकों के लिए भोजन एवं अन्य साधन उपलब्ध कराने की सारी व्यवस्था ही बिगड़ जाएगी। सैनिक के गोला-बारूद से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसका दैनिक भोजन है। यदि उसको भोजन ही न मिले तो वह बिना शत्रु की गोली के अपने आप ही मर जाएगा।

इसलिए भोजन व्यवस्था को सेना की Life line कहा जाता है। इसी प्रकार यदि सफाई मजदूर अपना सहयोग न करे तो सैनिक अपने ही मोर्चों पर अपने ही शरीर की गन्दगी से, रोगाणु के कीटाणुओं का शिकार होकर बिना शत्रु की गोली के रोगों से ही मर जाएगा। इस प्रकार चारों वर्णों द्वारा अपना-अपना कर्तव्य परस्पर सहयोग तथा राष्ट्रकल्याण के भाव से (राष्ट्रयज्ञ भाव से) करने पर ही एक युद्ध का मोर्चा जीता जा सकता है। इसी प्रकार विचारों का मोर्चा, खाद्य का मोर्चा, सेवा व सफाई आदि सभी मोर्चों पर चारों वर्णों का अपना-अपना कर्तव्य करते हुए यज्ञभाव से परस्पर सहयोग अनिवार्य है। जो अपना कर्तव्य छोड़ता है वह अकर्मण्यता या कर्तव्यहीनता का दोषी है। जो इसके साथ दूसरे के कर्तव्य में हस्तक्षेप करता है वह समाज में अव्यवस्था फैलाने का भी दोषी है। दूसरे का कर्तव्य वह उत्तम रीति से कर भी नहीं सकेगा क्योंकि उसकी प्रवृत्ति और प्रशिक्षण उसके अनुरूप नहीं है। और अपना कर्तव्य छोड़ने से जो क्षति होगी उसकी पूर्ति भी कठिन हो जाएगी।

इसलिए गीता में आत्मा की अमरता के सिद्धान्त के तुरन्त पश्चात् भगवान् ने स्वधर्म की महत्ता का बखान किया। तात्त्विक स्तर पर आत्मा की अमरता से ऊंचा सिद्धान्त नहीं और नैतिक स्तर पर निष्कामभाव से स्वधर्मपालन से ऊंचा कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं है। इसलिए पहले तात्त्विक स्तर पर आत्मा की अमरता निरूपितकर भगवान् ने उसके तुरन्त बाद स्वधर्म की महत्ता बताते हुए कहा है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। 2/31, गीता

अर्थात् 'अपने स्वधर्म का विचार करके भी तुमको कभी कम्पित नहीं होना चाहिए। क्योंकि स्वधर्म युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए अन्य कोई भी कल्याणकारी कार्य नहीं है।'

आत्मा अमर है इसलिए युद्ध में स्वयं के मरने अथवा दूसरों के मारे जाने का भय छोड़कर कर्तव्यपालन करो। यह प्रथम तात्त्विक उपदेश भगवान् ने दिया। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने मन की दुर्बलताओं का कोई तार्किक आधार खोजता है ताकि वह लोकनिंदा से बच सके। उसे मनोविज्ञान तथा समाज शास्त्र में Rationalisation की प्रक्रिया कहा जाता है। कोई कार्य Rational तो नहीं है, तर्कसम्मत भी नहीं है पर उसे तर्कसम्मत किया जाता है। पहले तो बिना सोचे विचारे, किन्तु बाद में लोकनिन्दा या सामाजिक दण्ड से बचने के लिए कोई भाषा की तोड़-मरोड़, कानून की मनमानी व्याख्या, तर्क-कुतर्क की चालबाजी

से जनता को ठगने के लिए तर्कसम्मत दिखने वाला कारण खोज लिया जाता है। इसे Rationalisation कहते हैं। कानूनी तौर पर किसी को मृत्युदण्ड मिलना Rational हो सकता है। किन्तु कानून अपने हाथ में लेकर मार डालना और बाद में मारने के औचित्य के लिए तर्क खोजना Rationalisation है। उदाहरणार्थ—यूरोप-अमेरीका के गोरे लोग वहां के नीग्रो लोगों को जातिविद्वेष के कारण युगों से सताते चले आए हैं। ऊंची शिक्षा एवं ऊंचे पदों पर पहुंचकर भी उनका हब्शी लोगों के प्रति अत्याचार का पूर्वाग्रह बना हुआ है। लोकनिंदा से बचने के लिए उन्होंने नीग्रो लोगों के प्रति अपने अत्याचार के लिए Rationalise करके कुछ तर्क खोज लिए हैं, जैसे नीग्रो लोगों के शरीर से एक बदबू निकलती रहती है, जो बदबू गोरे लोगों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इनका रक्त गोरों के रक्त से भिन्न है। इनकी टांगें गोरे लोगों के पांवों से अधिक लम्बी हैं इसलिए दौड़ एवं अन्य खेलों में ये टांगों के कारण आगे निकल जाते हैं। इसलिए खेलों में न्याय नहीं हो सकता है। गोरे लोग ऐसे ही मनगढ़न्त तर्क खोजकर नीग्रो लोगों पर अत्याचार का Rationalisation करते रहते हैं।

किसी ऊंचे सिद्धान्त का इस प्रकार (अन्याय के लिए) दुरुपयोग करना एक घृणित कार्य है। इसलिए भगवान् ने आत्मा के तात्त्विक उपदेश के बाद स्वधर्म का नैतिक उपदेश दिया। तात्त्विक दृष्टि से जब आत्मा मरता ही नहीं तब कोई भी चालाक हत्यारा तत्त्वज्ञान की बात कहकर लोकनिंदा अथवा सामाजिक दण्ड से बचने का प्रयास कर सकता है। वह गीता का सिद्धान्त बताकर कहता है 'जो इसे मरने वाला या मारने वाला जानते हैं वे दोनों ही नहीं जानते क्योंकि यह न मरता है न मारा जाता है।' तत्त्वज्ञान की दृष्टि से 'नायं हन्ति न हन्यते' कोई भी हत्या का अभियोग नहीं चलना चाहिए, क्योंकि वास्तविक हत्यारा कोई है ही नहीं और वास्तव में कोई मरा भी नहीं है। भगवद्गीता ने ऐसी गलत व्याख्या की सम्भावना को निर्मूल करने के लिए तत्त्वज्ञान और नीतिशास्त्र का समन्वय प्रस्तुत किया। गीता की पुष्पिका में हम पाते हैं—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे। ब्रह्मविद्या गीता का तत्त्वदर्शन है और योगशास्त्र (कर्मयोग शास्त्र) गीता का नैतिक दर्शन है। ब्रह्मविद्या सिद्धान्त है (Theory) और योगशास्त्र उसकी क्रियासाधना है। यदि सिद्धान्त को कृति में न उतारा जा सके तो वह सिद्धान्त धोखे में डालने वाला है। सिद्धान्त प्रत्यक्ष साधना द्वारा सिद्ध होना चाहिए अन्यथा वह सिद्धान्त ही नहीं है। जिसका प्रतिफलन कृति द्वारा सिद्ध हो वही सिद्धान्त है।

ब्रह्मविद्या का आख्यान तो उपनिषदों में भी बहुत सुन्दर किया गया है किन्तु गीता की उपनिषदों से भी बढ़कर महत्ता इसी बात में है कि प्रकृति के शान्त एकान्त प्राङ्गण में निश्चिन्त एवं समस्याहीन वातावरण में जगत् के कोलाहल से दूर जिस

ब्रह्मज्ञान का उपदेश उपनिषदों में किया गया, इसी ब्रह्मज्ञान के महानतम सिद्धान्त को जीवन की भीषणतम परिस्थिति में भी प्रत्यक्ष कृति में उतारने का दुर्लभ एवं दुष्कर कार्य गीता ने किया। गीता में आत्मज्ञान और स्वधर्मपालन का समन्वय है। ब्रह्मज्ञान मोक्षशास्त्र है कर्तव्यपालन धर्मशास्त्र है। अत: गीता मोक्षशास्त्र के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी है। इसलिए गीता में ज्ञानकर्मसमन्वय है। गीता को न ज्ञानी का आलस्य सहन होता है और न अज्ञानी का कर्म। इसलिए गीता की दृष्टि से अनैतिक कर्मी तत्त्वज्ञान की ओट लेकर चालाकी से छूट नहीं सकता। मिथ्याचारी एवं दम्भी व्यक्ति की भगवान् ने स्वयं भर्त्सना की है। सच्चा ज्ञान पवित्रकर्म में प्रतिफलित होना चाहिए। अन्यथा वह केवल ज्ञान का मिथ्या दम्भमात्र ही है।

ऊंचे ज्ञान के पश्चात् भी कर्म करने की आवश्यकता का निरूपण करते हुए भगवान् कई कारण बताते हैं—

(1) शारीरिक कारण—बिना कर्म के शरीर क्षण भर भी नहीं चल सकता।

(2) मानसिक कारण—मन निरन्तर कुछ न कुछ संकल्प-विकल्प करता ही रहता है। इस चंचल मन को काबू में रखना बड़ा कठिन कार्य है। यदि इसे पवित्र नैतिक संकल्प नहीं देंगे तो अपने आप अनैतिक नीच संकल्पों की ओर झुकेगा। पहाड़ी के ऊपर ले जाते हुए भारी रोलर को ऊपर ले जाना छोड़ दिया जाए तो वहां से अपने आप नीचे लुढ़क आता है। इसलिए दुष्ट संकल्पों से बचने के लिए पवित्र नैतिक संकल्प करना अनिवार्य कर्तव्य है।

(3) प्राणिक कारण—प्राणियों के प्राण निरन्तर चलते रहते हैं। श्वास लेना, छोड़ना, हृदय का स्पन्दन, नाड़ी की गति आदि सब कर्म हैं। ये मनुष्य के संकल्प के बिना भी चलते रहते हैं। अत: कर्म से सर्वथा बचना भी कभी सम्भव ही नहीं।

(4) नैतिक कारण—शुभ कर्मों से मानव का नैतिक विकास होकर आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। अशुभ कर्मों द्वारा नैतिक पतन एवं आध्यात्मिक ह्रास होता है। इसलिए ज्ञान के हित के लिए भी शुभ कर्म आवश्यक है।

(5) चित्त शुद्धि—निष्कामभाव से कार्य करने से ही चित्त शुद्ध होता है। तभी शुद्ध 'मैं' में आत्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है, ज्ञान धारण करने की पात्रता आती है।

(6) ज्ञान साधना हेतु—ज्ञान सत्यम् है और उस तक पहुंचने का साधन ऋतम्, नैतिकता है। Without morality there is no spirituality. बिना नैतिकता के हमारी अध्यात्म में न तो गति होती है और न ही उसमें स्थित हो सकते हैं।

(7) लोक शिक्षण हेतु कर्म आवश्यक है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं अन्य लोग वैसा ही आचरण करते हैं। वे जिसे श्रेष्ठ कह करके प्रमाणित कर देते

हैं लोग उसी के अनुसार वर्तन करने लगते हैं। गांधीजी ने जिसको सत्य प्रमाणित किया हजारों लोग उनके पीछे चल पड़े। ऐसे ही सुभाष बोस ने जिसे प्रमाणित किया उसके पीछे हजारों लोग चल पड़े। ऐसे ही विवेकानन्द के पीछे, संघ (आर.एस.एस.) के पीछे कितने लोग चल पड़े हैं।

(8) लोक संग्रह हेतु—राजा जनक एवं भगवान् स्वयं का उदाहरण देते हैं। भगवान् कहते हैं न मेरे को कोई प्राप्तव्य शेष है और न ही कोई कर्तव्य ही शेष है। पर मैं (स्वयं श्रीकृष्ण) कर्म छोड़ दूं तो मेरी अन्तर्योग्यता को तो कोई पहचानेंगे नहीं, मेरी देखादेखी सब लोग निकम्मे हो जायेंगे और कर्तव्यों की गड़बड़ी से प्रजाओं का नाश हो जाए। इसलिए जो कर्तव्य कर्म त्यागता है वह मानो सारी मानवता का हत्यारा बनता है।

(9) ज्ञान परीक्षण हेतु—अन्यथा झूठा दम्भ पल सकता है कि मैं ब्रह्मज्ञानी हूं। बहुतों के जीवन को देखने में ऊपर से ब्रह्मज्ञानी बनते हैं पर वैसा अवसर आने पर सारा ब्रह्मज्ञान भूल जाते हैं। जैसे परिवार में या अपने पर शारीरिक कष्ट आने पर सब ब्रह्मज्ञान भूल जाते हैं। जिनका स्वयं का जीवन एवं अपने बच्चे सब well settle हैं, प्रतिभावान हैं, वे स्वयं वेदान्त पढ़कर ब्रह्मज्ञानी बन जाते हैं। क्योंकि वेदान्त तो बहुत सरल है। बुद्धि तुरन्त पकड़ लेती है। पर जब उनके स्वयं पर या परिवार पर कष्ट आता है तब वे सारा वेदान्त भूल जाते हैं। मां-बहन की गाली मुँह से निकालने लगते हैं।

(10) पारमार्थिक स्तर और व्यावहारिक स्तर का सम्बन्ध—व्यावहारिक स्तर पर जो कुकर्मी होगा वह ज्ञानी कैसे हो सकता है? एक पिता की अपनी ही पुत्री पर बुरी नीयत, पिता (पुत्री से) मैं तो कृष्ण स्वरूप हूं, मेरे से कैसा दुराव। पुत्री इस धर्मसंकट से रक्षा के लिए एक साधु का आश्रय लेती है और अपना संकट बताती है। तब साधु ने कहा—मुझे घर में भोजन के लिए आमंत्रित करो। मेरे लिए हलवा और पिता के लिए मलवा परोसकर लाना। पिता अपने लिए मलवा देखकर हक्का-बक्का रह गया। तब साधु ने कहा—जब सब ब्रह्म है तो हलवे और मलवे में क्या भेद है? भेद व्यावहारिक दृष्टि से है और यह भेद जीवनपर्यन्त, सृष्टिपर्यन्त रहेगा। अतः जीवनपर्यन्त व्यावहारिक भेद का पालन अनिवार्य है।

प्रारम्भ में निष्काम स्वधर्मपालन चित्तशुद्धि करके ज्ञान के विकास में सहायक होता है, फिर दूसरों की शिक्षा के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है। मुक्ति का साधन बनता है। फिर ज्ञानी की ज्ञान की कसौटी बनता है। पुनः पतन से बचाने के लिए सम्बल बनता है। जो ज्ञानप्राप्ति के बाद भी स्वधर्मपालन करता रहता है उसके पतन की सम्भावना बहुत कम होती है। अन्यथा बड़े-बड़े ज्ञानी भी फिसल जाते हैं। जो स्वयं पारमार्थिक स्तर तक पहुंच चुके हैं और उन्हें स्वयं कर्तव्यकर्म करने

की आवश्यकता कुछ भी शेष नहीं हैं। उन्हें भी पीछे के व्यावहारिक स्तर वाले लोगों के मार्गदर्शन के लिए लोकसंग्रह की भावना से कर्तव्य करते जाना चाहिए। जो शुभ कर्म उनके ज्ञान की सीढ़ी था, ज्ञान प्राप्ति के बाद उनको पतन से बचाने वाला सम्बल बना, वह अब पीछे वाले अन्य लोगों के लिए सीढ़ी बन जाएगा। यदि हमने गंगा पार कर ली तो नौका को तोड़ने या जलाने में मूर्खता होगी। अपनी मुक्ति के पश्चात् अन्य जीवों के समुचित मार्गदर्शन के लिए शुभ कर्म की परम्परा जारी रखनी चाहिए।

पारमार्थिक स्तर पर एक आत्मा ही है अन्य कुछ नहीं। व्यावहारिक स्तर पर अनेक जीवात्मा अपना-अपना अहंकार लपेटे हुए एक-दूसरे से संघर्ष एवं क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे हैं। जिस आततायी को मारने का आदेश मनु भगवान् ने दिया है वे भी तत्त्वतः आत्मा ही हैं। दूसरे शब्दों में वे मैं ही है। तात्त्विक दृष्टि से यह प्रश्न उठता है कि मैं ही मैं को कैसे मारे? इस समस्या का समाधान यह है कि मैं अपने सच्चे मैं को नहीं मार रहा हूं। मैं अपने उस कल्पित झूठे मैं को मार रहा हूं जो गजनी, गोरी आदि आततायी का अहंकारी चोला पहनकर मेरे असली मैं को दबाने के लिए आया है। इस प्रकार अपने अहंकार की हत्या करना पाप नहीं एक महत्त्वपूर्ण पुण्य कृत्य है। उसी प्रकार जो आत्मा लोकव्यवस्था एवं लोकसंग्रह का नाश करने के लिए आततायी का वेश पहनकर संसार के रंगमंच के नाटक पर आया है, वह एक दृष्टि से हमारे कर्तव्य की परीक्षा लेने आया है कि क्या हम सज्जन-दुर्जन को पहचानने का विवेक रखते हैं और क्या हम लोकसंग्रह हेतु स्वधर्मपालन करने हेतु आततायी को दण्ड देते हैं या नहीं। जैसे नाटक में पात्र वास्तव में जानते हैं कि सभी पात्र (नायक और खलनायक) एक ही नाटक मण्डली के सदस्य और परस्पर भाई-भाई हैं। किन्तु रंगमंच पर व्यावहारिक मर्यादा के पालन के लिए, रंगमंच की सफलता के लिए तथा नाटक को दर्शकों के मनोरंजन, बुद्धिरंजन एवं नैतिक शिक्षण के लिए आततायी को प्रत्यंचा चढ़ाकर तीर से मार डालते हैं। किन्तु नाटक का पर्दा गिरने के पश्चात् नायक और खलनायक बढ़िया खेल के लिए एक-दूसरे को बधाई देते हैं, एक-दूसरे को गले लगाते हैं। दर्शकों की प्रशंसा भी प्राप्त करते हैं और रंगमंच के निर्देशक से पुरस्कार भी पाते हैं। इसी प्रकार यदि हम सबको आत्मारूप जानते हुए भी स्वधर्मपालन करते हुए आततायी को दण्ड देते हैं तो इसमें नैतिकता की रक्षा, लोकशिक्षण, लोकसंग्रह, जीवन के नाटक की सफलता, हमारा विकास एवं आततायी के रूप में जीवात्मा का उद्धार, इतिहास में यश और प्रभु का आशीर्वाद सभी लाभ एक साथ मिल जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं भगवान् के अवतार का हेतु भी यही बताया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। ४/८, गीता

सज्जनों का परित्राण और दुष्टों का विनाश, धर्म के संरक्षण या धर्म की संस्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूं। जो धर्म की संस्थापना में सहायक है वह सज्जन है, जो बाधक है वह दुष्ट है। धर्म की संस्थापना हो ही तब सकती है जब धर्म के साधकों को बचावें और बाधकों को हटावें। इसलिए जो आततायी को दण्ड देता है और सज्जनों की रक्षा करता है वही धर्म संस्थापना में सहायक है। वह ईश्वरीय कार्य करता है। वह ईश्वरीय न्याय का यंत्र बन भागवत कर्म का निमित्त बन भगवान् का ही कार्य पूरा करता है। इसलिए भगवान् अर्जुन को गीता में कहते हैं—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। 11/33, गीता

इसलिए तू उठ, यश को प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर समृद्धिसम्पन्न राज्य को भोग। ये (सब वीर) मेरे ही द्वारा पहले ही मारे गए हैं। सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्तमात्र बन जा।

इसमें राष्ट्र के परम वैभव की सारी साधना बीजरूप में कह दी गई है।

(क) **तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ—**हे अर्जुन! तुम खड़े हो जाओ, कर्तव्यपथ पर डट जाओ, सदा आशावान रहो, सदा आगे बढ़ने के लिए सिद्ध हो।

(ख) **यशो लभस्व—**यशस्वी जीवन जीओ। अपयश से बचो। सफलता के लिए पुरुषार्थ करो। जो राष्ट्र सम्मानित जीवन नहीं बिताता वह मिट जाता है।

(ग) **जित्वा शत्रून्—**शत्रुओं को जीतो। चिर विजय की कामना ही राष्ट्र का आधार है। निरन्तर विजय की साधना करो। पराजय, पराधीनता जीवन की सबसे बड़ी लानत है। बाहर के शत्रुओं को भी जीतो और भीतर के शत्रुओं (देशद्रोही तत्त्वों) को भी जीतो। इसके अतिरिक्त मन के शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार को भी जीतो। जो स्वयं को जीत नहीं सकता वह जगत् को क्या जीतेगा?

भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्—समृद्धिशाली, वैभवशाली राज्य को भोगो। राष्ट्र को परम वैभव की महत्त्वाकांक्षा रखनी चाहिए। व्यक्तिगत वैभव विलासिता है। राष्ट्रीय वैभव ऐतिहासिक गौरव का मानबिन्दु है। राष्ट्र का वैभव राज्य के वैभव से अधिक मूल्यवान है। राष्ट्र समृद्ध होगा तो राज्य के बदलने पर भी समृद्धि बनी रहेगी। केवल राज्य शान-शौकत में रहे और राष्ट्र कंगाल रहे तो न राज्य बचेगा और न राष्ट्र। कंगाल राष्ट्र वैभवशाली सत्ताधीशों के विरुद्ध विद्रोह करेगा और सत्ताधीश राष्ट्र के जन-गण की छाती पर गोली चलाएगा।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव—ये सब पहले से ही मेरे द्वारा मार दिए गए हैं। ईश्वरीय न्याय से कोई बच नहीं सकता। चाहे मानवीय न्याय में कुछ देर के लिए भले ही बच जाए।

...ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे—हे अर्जुन! तेरे बिना भी ये सब योद्धा नहीं बचेंगे। अतः व्यक्ति को कर्तापन का अहंकार नहीं होना चाहिए। क्योंकि जिसको ईश्वर ही मारना चाहे उसे कौन बचा सकता है?

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्—हे अर्जुन! तुम निमित्तमात्र बन जाओ। व्यक्ति को ईश्वरीय संकल्प को पूरा करने में निमित्तमात्र बन जाना चाहिए।

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा होकर ही रहेगा। यदि हम उसके अनुकूल संकल्प करें तो हमें ईश्वरीय शक्ति एवं ईश्वरीय आशीर्वाद मिलेगा। कर्म में सफलता भी मिलेगी, कर्म में दिव्यता भी आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा। इसके विपरीत चलने से भागवत संकल्प हमें कुचल डालेगा। वह कालरूप बनकर हमें ही खा जाएगा। स्वधर्म पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अतः हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीय न्याय के निमित्त और भागवत संकल्प के सेनानी बनकर अपना कर्तव्य प्रभु प्रीति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान् के चरणों पर नैवेद्य के रूप में चढ़ा देना चाहिए।

जो भगवान् आत्मारूप से सबके अन्तर में विराजमान है वे ही हमें आदेश देते हैं कि सज्जनों का परित्राण करो और दुष्टों का विनाश करो। क्योंकि सब आत्मा मूलतः एक है इसलिए वास्तव में दुष्ट या अन्य कोई है ही नहीं। परन्तु ये ऊंचा पारमार्थिक ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं है। केवल संन्यासी के लिए है जो लोकसंग्रह से दूर है, जैसे रमण महर्षि। यह विवेकानन्द के लिए भी नहीं है। वे तो बाहु चढ़ा लेते थे। इसलिए ये व्यावहारिक स्तर पर कर्म सिद्धान्त (विश्वव्यापी न्याय के सिद्धान्त) की विजय देखना चाहते हैं। इसके बिना उनका नैतिकता में विश्वास नष्ट हो जाएगा और नैतिक अराजकता से व्यावहारिक जगत् एवं जीवन नरक बन जाएगा। व्यावहारिक स्तर पर ऋतम् की अप्रतिष्ठा हो जाने से उन्हें सत्य का दर्शन कभी नहीं हो सकेगा। विश्व मानवता की नैतिक निष्ठा की रक्षा के लिए वे स्वयं ही नाटक रचते हैं। वे एक से अनेक बन जाते हैं। स्वयं ही एक रूप में राम और एक रूप में रावण बन जाते हैं और रावण की अनैतिकता का कलेजा चीरने के लिए स्वयं ही वक्षस्थल पर तीर चलाते हैं। स्वयं ही अपनी विजय मानते हैं और स्वयं ही अनेक दर्शकों के रूप में अपनी नैतिक निष्ठा की रक्षा करते हैं।

गांधीजी एक संत थे। कुशल राजनीतिज्ञ नहीं थे। वे नैतिकतावादी अवश्य थे। किन्तु सामाजिक दृष्टि से वे समझौतावादी एवं अतिशय शान्तिवादी थे। मुसलमानों

द्वारा की जाने वाली हिंसा, हत्या से वे दुःखी अवश्य थे किन्तु बुद्ध और महावीर के समान वे यही मानते थे कि क्रोध से क्रोध शांत नहीं होता। हिंसा के प्रति हिंसा करने से हिंसा शांत नहीं होती। आग को आग से ठण्डा नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रतिहिंसा रोकने और शान्ति बनाए रखने के लिए उन्होंने रोष भरे शरणार्थी बन्धुओं से ये वचन कह दिए। यह वास्तव में गीता के दर्शन का सही व्याख्यान नहीं है, बल्कि गीता के आत्मज्ञान का दुरुपयोग ही है। इसके पीछे गांधीजी की कोई दुष्टभावना नहीं थी क्योंकि वे स्वयं बड़े कट्टर हिन्दू थे। किन्तु समझौतावादी और अतिशय शान्तिवादी होने के कारण उन्होंने ऐसा कह दिया। उनके इसी तर्क का दुरुपयोग यदि कोई नादिरशाह, तैमूरलंग, हिटलर, ईचमैन, याहया खां आदि करे तो महान् अनर्थ हो जाएगा। गांधीजी अहिंसावादी, शान्तिकामी संत थे। किन्तु उनकी अहिंसा के सद्गुण विकृति का कुफल देश को विभाजन के रूप में भोगना पड़ा।

संस्कार का शाब्दिक अर्थ है—परिष्कार। और मनोवैज्ञानिक अर्थ है—प्रभाव। मन को पशु प्रवृत्तियों की विकृति से बचाना मन का परिष्कार हुआ, और मन को देशभक्ति या देवभक्ति के संस्कार देकर उसी रंग में रंगना प्रभाव कहलाएगा। जब किसी भाव को प्रकर्ष के साथ प्रचुर मात्रा में मन पर चढ़ाया जाता है तो मन उससे प्रभावित होकर उसी भाव का रूप बन जाता है।

यदि एक उत्तम जाति की आम की गुठली लेकर उसे एक प्याले में सौंफ का अर्क डालकर भिगो दिया जाए तो कुछ दिन में गुठली उस अर्क को पी जाएगी। पुनः प्याले में सौंफ का अर्क भर देने पर वह पुनः पी जाएगी। इस प्रकार 6-7 बार सौंफ का अर्क की भावना देने के पश्चात् उस गुठली को किसी अच्छी जमीन में लगा दिया जाए और उसे उचित रूप में खाद-पानी और सुरक्षा दी जाए तो 10-12 साल बाद उस वृक्ष में जो सैकड़ों फल लगेंगे उनमें से प्रत्येक में सौंफ की सुगंधि होगी। उन सैकड़ों बीजों को बोने से हजारों फल होंगे जिनमें पुनः सौंफ की सुगंधि होगी, सैकड़ों से हजारों, हजारों से लाखों, लाखों से करोड़ों फल होंगे जिनमें सौंफ की सुगंधि होगी। इस प्रकार से एक बीज को संस्कारित करने से करोड़ों फल सुगन्धित हो जाएंगे। इसी के समान यदि एक आदर्श गृहस्थी में एक सुपुत्र को विधिवत संस्कारित किया जाए तो उस एक के प्रभाव से लाखों-करोड़ों के जीवन में परिवर्तन आकर इतिहास निर्माण हो सकता है।

जीजाबाई ने एक शिवाजी का निर्माण किया तो इतिहास पलट गया। भुवनेश्वरी देवी ने एक विवेकानन्द को तैयार किया तो उसके द्वारा हिन्दू धर्म के नवोत्थान का युग प्रारम्भ हो गया।

नेपोलियन—नेपोलियन की माता फ्रांस की दुर्दशा से पीड़ित थी। देश की दुरावस्था देखकर वह अपनी कोख से एक ऐसे पुत्र की कामना नित्य करती थी जो

देश व धर्म की रक्षा कर सके। माता गर्भधारण और उसे उत्पन्न करने तक जैसी भावना करती हैं वैसे ही संस्कार लेकर पुत्र पैदा होता है।

बिस्मार्क—उस समय जर्मनी 8-10 खण्डों में विभक्त था। तब बिस्मार्क की माता जर्मनी की स्थिति देखकर दु:खी होती थी और शहीदों के चित्र देखकर वैसे ही पुत्र की कामना करती थी जो देश को एकसूत्र में बांध सके और उसने वैसा ही पुत्ररत्न पैदा किया जो जर्मन इतिहास का निर्माता हो गया।

मन

मन का विश्लेषण जैसा भारतीय मनीषियों ने किया है वैसा संसार के अन्य दार्शनिकों या अन्य मनस्वी चिन्तकों ने नहीं किया। मन जड़-चेतन की ग्रंथि है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने इसे चेतन ही माना है, जड़ नहीं। (चाहे वह चेतन, अवचेतन तथा अचेतन अवस्था में है) भारतीय चिन्तकों ने मन को भौतिक जड़-तत्त्व माना है। जिस पर चेतना का प्रभूत प्रकाश पड़ रहा है। उस प्रकाश के कारण मन चेतन प्रतीत होता है। उसी चेतना के सहारे मन काम भी करता है। किन्तु स्वयं तत्त्वत: जड़ है।

पाश्चात्य दर्शन में दृश्यमान जगत् को किंवा सारी सृष्टि को दो तत्त्वों में विभाजित किया जाता है—Mind और Matter में। वे यह मानकर चलते आ रहे हैं Matter जड़ है और मन चेतन। भारतीय तत्त्वद्रष्टा उनकी भूल सुधारने के लिए उनका उपहास करते हुए कहते हैं Mind and matter का यह विभाजन ठीक नहीं है क्योंकि Mind is matter इसलिए पश्चिम वाले Mind का अध्ययन करें चाहे Matter का, वे रहते पूरे जड़वादी हैं।

मन जड़ तत्त्व कैसे है—इसके प्रमाण में भारतीय मनीषी कहते हैं जैसा अन्न वैसा मन। अन्न जैसी जड़ वस्तु का मन पर सीधा प्रभाव सिद्ध करता है कि मन भी जड़ ही है। वह ठोस जड़ न होकर, स्थूल जड़ न होकर, सूक्ष्म जड़ है। अच्छे से अच्छा परीक्षार्थी यदि चार-पांच परांठे और लस्सी ग्रहणकर परीक्षा भवन में चला जाए तो उसका तीव्र स्मृतिशील एवं दक्ष मन वहां अन्न के नशे से कुंठित और विस्मरणशील हो जाता है। मदिरा के नशे में तो मन लोकमर्यादा, धर्ममर्यादा, देश-काल, पात्र-परिस्थिति का विचार तथा मां-बहिन का विवेक तक भूल जाता है। जड़ औषधियों से मन को सुलाया जा सकता है। पाप के अन्न से मन में पाप के भाव पैदा होते हैं। पवित्र अन्न से पवित्र भाव उदय होते हैं। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह जब पांडवों को बहुत उच्च कोटि का ज्ञानोपदेश कर रहे थे तो द्रौपदी ने पूछा—'हे दादाजी! जिस समय भरी सभा में मेरी साड़ी उतारी जा रही थी उस समय यह आपका अलौकिक ज्ञान कहां गया था?' पितामह ने उत्तर

दिया—'हे देवी! उस समय मैं पापी कौरवों के अन्न पर पलता था। इसलिए मेरे मन और बुद्धि पर पर्दा पड़ गया था। अब कई दिन तक अन्न त्यागकर उपवास करने से पापी के अन्न का मन पर से प्रभाव दूर हो गया है।'

एक राजा के गुरु राजा के महल में आतिथ्य एवं अतिथि सम्मान प्राप्तकर रहे थे। अचानक एक स्नानालय में घुसने पर उन्होंने रानी का हीरक हार टंगा हुआ देखा जो स्नान के समय रानी वहां भूल गई थी। गुरु के मन में अकस्मात् लोभ का भाव जाग उठा। उन्होंने हार ले लिया। वे राजा से सम्मानपूर्वक विदा लेकर चले भी गए। रानी के कहने पर राजा ने पूरे महल की तलाशी करवाई और पूरे राज्य में घोषणा करवाई। अनेक नामी चोरों को पकड़ा। किन्तु हार नहीं मिला। चालीस दिन बाद गुरु पुनः राजा के पास आए और हार लौटाते हुए कहा, वास्तविक चोर मैं ही बना था। राजा को विश्वास नहीं हुआ। राजा ने शीश नवाकर कहा, ऐसी अपराधपूर्ण बात मत कहें। गुरु ने कहा—हे राजा! तुम जांच करवाओ। जिस अन्न से मुझे भोजन दिया गया वह अन्न कहां से आया था। जांच कराने पर पता चला कि सैनिकों ने कुछ चोरों को पकड़ा था और उनसे बरामद अन्न को सरकारी भण्डार में भेज दिया गया था। उसी में से कुछ अंश राजा की पाकशाला में पहुंचा था। उसी पाप के, चोरी के अन्न के प्रभाव से तपस्वी गुरु के मन में भी लोभ एवं चोरी का भाव उदय हो गया था। चालीस दिन तक अन्न का प्रभाव मन पर रहता है। तीन दिन तक खाये हुए अन्न का अंश तन में रहता है और चालीस दिन तक उसका अच्छा-बुरा संस्कार मन पर रहता है। इन चालीस दिनों में और भी अशुद्ध एवं पापपूर्ण अन्न चलता रहे तो मन कभी निर्मल नहीं होगा। यदि चालीस दिन तक मनुष्य पवित्र अन्न खाता हुआ सदाचारी एवं मर्यादित जीवन बिताये, सप्ताह में एक बार उपवास करे तो चालीस दिन के बाद खाये हुए अशुद्ध एवं पापपूर्ण अन्न का मन पर पड़ा हुआ कुसंस्कार मिट जाता है।

भारतीय संस्कृति में अन्नप्राशन एक पवित्र संस्कार है। प्राकृतिक दृष्टि से अन्नग्रहण अन्य पशुओं के चारे के समान शरीर के पोषण के लिए प्राथमिक आवश्यकता है। किन्तु मानव को पशुओं से ऊंची प्रतिष्ठा देते हुए उसे पशुत्व से नरत्व, नरत्व से देवत्व और देवत्व से ब्रह्मत्व की ओर ले जाने के उद्देश्य से अन्नप्राशन को एक पवित्र संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। वेदमंत्रों में अन्न को ब्रह्म कहा गया है—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते।
अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

अन्न ब्रह्म है यह जाना। क्योंकि अन्न से सब भूत जन्मते हैं। जन्मे हुए अन्न पर जीते हैं। मरने वाले अन्न में ही लीन होते हैं। अन्नं न निद्यात्। तद् व्रतम्। अन्न

की निन्दा न करें, यह व्रत है। अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। अन्न का त्याग न करें, यह व्रत है। अन्नं बहु कुर्वीत। तद व्रतम्। अन्न खूब उत्पन्न करें, यह व्रत है।

भाव यह है कि जिस अन्न को खाकर पशु को निरा पशु ही रहना है, उसी अन्न को ग्रहण कर नरपशु को नरदेव एवं नर से नारायण बनना है।

अन्न जड़ पदार्थ होते हुए भी उसे भगवत् स्तुति एवं भगवत् समर्पण के द्वारा संस्कारित कर जब ग्रहण किया जाता है तो वह भगवान् का प्रसाद (भगवत् कृपा) बनकर सीधे हमारे मन को संस्कारित कर देता है। आजकल के संस्कारहीन बच्चों को देखकर प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी ने कहा है—

तिफ्ल में क्यों बू नहीं मां-बाप के अतवार की,
दूध डिब्बो का पिया है शिक्षा है सरकार की।

(तिफ्ल=पुत्र) में माता-पिता के अतवार-(सदाचार) की सुगंधि न आने का कारण यही है कि बच्चे माता की लोरियों के साथ दूधप्राशन और अन्नप्राशन नहीं करते। वे अस्पतालों में नर्सों के हाथ से कृत्रिम डिब्बों वाला दूध पीते हैं, उन्हें शरीर का चारा तो मिल जाता है, संस्कार नहीं मिलता। ब्रिटिश शासनकाल में शिक्षा भी मात्र अक्षरज्ञान, गणित और सूचनासंग्रह मात्र तक थी ताकि अंग्रेजों को प्रशासन चलाने के लिए सस्ते दाम पर क्लर्क (बाबू) और चपरासी भारत में उपलब्ध हो सकें। संस्कृतिविहीन शिक्षा तो वास्तव में कुशिक्षा ही है। ऐसे संस्कारहीन क्लर्क-बाबुओं पर व्यंग्य करते हुए अकबर इलाहाबादी ने कहा है—

भूल जा निज संस्कृति को अपनी ही हस्ती भूल जा।
कर क्लर्की, खा डबलरोटी और खुशी से फूल जा।।

बचपन में अन्नप्राशन संस्कार के अभाव से मानव के जीवनभर के अन्न ग्रहण में पवित्रता एवं शुचिता का लोप हो जाता है। बीज को संस्कारित करने से वृक्ष और उसके सारे फल संस्कारित हो जाएंगे। अन्नग्रहण के विषय में शुद्धाहार के निम्नलिखित बिन्दु विचारणीय हैं—

अन्न पवित्र धन से उपार्जित हो, पवित्र श्रम से उपार्जित हो, अन्न पवित्र स्थान पर पकाया जाए। पवित्र व्यक्ति, पवित्र शरीर से पकावे। पवित्र भाव से तैयार हो, पवित्र स्थान पर परोसा एवं ग्रहण किया जाए। अन्न अथवा आहार में किसी के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा सम्मिलित न हो। आहार में किसी अन्य के अधिकार का अतिक्रमण न हो। अतिथि सेवा एवं बलिवैश्वदेव द्वारा दूसरे मानवों एवं जीवों को भेंटकर ग्रहण किया जाए। केवल अपने लिए पकाने वाला पाप ही खाता है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। 3/13, गीता

आहार भगवान् को समर्पितकर भगवान् के प्रसाद के रूप में ग्रहण किया जाए—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। 4/24, गीता

अर्पण (अर्थात् जिसके द्वारा अग्नि में आहुति दी जाती है वह स्रुवा आदि साधन) ब्रह्म है। हवि (अर्थात् जिसकी आहुति दी जाती है वह घृत आदि द्रव्य) भी ब्रह्म है, तथा ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप हवनकर्ता के द्वारा की जाने वाली हवन क्रिया भी ब्रह्म है उस ब्रह्मरूप कर्म में स्थित हुए योगी के द्वारा प्राप्त किए जाने-योग्य फल भी ब्रह्म ही है।

मन का मार्जन और रंजन दोनों संस्कार द्वारा सम्पन्न होते हैं। पशुप्रवृत्तियों से मुक्त होना मार्जन है और मन का अच्छे भाव के रंग में रंग जाना रंजन है। आजकल लोग मन की काम, क्रोध, लोभ आदि पाशविक प्रवृत्तियों की तृप्ति को ही मनोरंजन कहते रहते हैं। यह मनोरंजन शब्द का बड़ा ही गलत एवं विचित्र प्रयोग है। मन पशुप्रवृत्तियों में पहले ही रंगा हुआ है। 84 लाख योनियों से वह पहले ही इन प्रवृत्तियों का अभ्यासी बना हुआ है। अत: मानव योनि में भी उसी रंग में रंगना अर्थहीन मनोरंजन होगा। मनुष्य रजक के पास कपड़ा इसलिए देता है कि उसकी मैल छूट जाए अथवा उस पर सुन्दर रंग चढ़ाकर उसे पहले से अधिक मनोरम बना दिया जाए। पीले कपड़े को पीले ही रंग में रंगने के लिए रजक के पास भेजना मूर्खता ही होगी और वस्त्र को सफाई के बजाय गंदा करने के लिए रजक को देना भी समानरूप से मूर्खता की कसौटी में गिना जाएगा। संस्कार मन को पशु योनियों की मैल से या पशुप्रवृत्तियों से मुक्त भी करता है और देवतुल्य महापुरुष के जीवन के रंग में रंग भी देता है।

मन एक बिल्लौरी शीशे (स्फटिक मणि) के समान है जिसका अपना कुछ रंग नहीं किन्तु जो निकट की वस्तु के रंग को तुरन्त ग्रहण कर उसी रंग का बन जाता है। मन को जो-जो भाव दिया जाए, मन जैसे-जैसे वस्तु, व्यक्ति के संग में रहे वह उसी-उसी रंगत को तुरन्त ग्रहणकर वैसा-वैसा बनने लगता है। सबसे विचित्र बात यह है कि मन जड़ होते हुए भी इतना सूक्ष्म है कि इसे किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा देखा ही नहीं जा सकता। अचम्भे की बात यह है कि मन स्वयं अदृश्य एवं अगोचर होते हुए भी निश्चितरूप से है और सब खेल, कार्यकलाप एवं उत्पात यही कर रहा है। नास्तिक भले ही सर्वशक्तिमान परमेश्वर की सत्ता न माने किन्तु सर्वशक्तिमान मन की सत्ता तो सभी को माननी पड़ती है।

मन जड़ है

अध्यात्मवादी एवं पदार्थवादी सभी मानते हैं कि मन में अपार शक्ति छिपी हुई है। किन्तु इस शक्ति का वास्तविक स्रोत कहां है? इस विषय में मतभेद है।

अध्यात्मवादी मानते हैं कि मन की अनन्त शक्ति का मूलस्रोत आत्मा ही है। मन अपनी चेतना आत्मा से ही प्राप्त करता है।

पदार्थवादी मन की शक्ति का मूलस्रोत किसी जड़ पदार्थ में ही मानते हैं और चेतना को भी वे जड़ का एक विकार मानते हैं। जड़ से चेतन कैसे विकसित होता है इस विषय में भौतिकवादी कोई तर्कसम्मत व्याख्या नहीं दे सकते। किन्तु यदि वे चेतन की स्वतंत्र सत्ता मान लें तो उनका सिद्धान्त ही टूट जाए।

जड़ शक्ति के रूप में है Heat, light, electricity, magnatism और mechanize अग्नि या ताप को कुछ पता नहीं वह किसको तप्त कर रहा है या दग्ध कर रहा है। किसी सज्जन का घर जल रहा है या दुर्जन का। उसकी लपेट में जो भी आएगा वह उसे जला देगा।

प्रकाश को भी कुछ पता नहीं कि वह किसी मल को प्रकाशित कर रहा है या कमल को। सुन्दर को प्रकाशित कर रहा है या असुन्दर को, रूप-सज्जा को दिखाया या किसी के नंगेपन को?....

विद्युत् को कुछ पता नहीं कि किसी घर को प्रकाशित करने, या भोजन बनाने या रोग के उपचार के लिए उसका उपयोग किया जा रहा है या विद्युत् के झटकों से किसी को मारने के लिए।

Magnatism चुम्बक को या चुम्बक के सिद्धान्त पर बनने वाली दिशासूचक कम्पास की सूई को कुछ पता नहीं कि उसका उपयोग किसी कल्याणकारी समुद्रयात्रा के लिए किया जा रहा है या किसी दुर्बल देश पर आक्रमण के लिए।

मैकेनिक्स—मशीन को भी यह कुछ पता नहीं कि वह हजारों टन भार वाले यंत्र द्वारा किसी धातु को कूटकर चपटा बना रही है या भूल से यंत्र की मार में आ जाने वाले किसी निर्दोष मजदूर के सिर को कूटकर प्राणान्त कर रही है। जड़ शक्ति अंधी होती है।

किन्तु मन:शक्ति चेतन प्रतीत होती है। मन की आकुलता-व्याकुलता, व्यग्रता, एकाग्रता, चिंता, संतोष, हर्ष-विषाद आदि का हमारे मन को सबसे पहले पता चलता है और बाद में अन्य व्यक्तियों के मन को। मन दु:ख-सुख की अनुभूति भी करता है और अपनी अनुभूति को स्वयं भी जानता है। इसलिए मन अन्दर की कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी। मन ने चिन्ता, संकल्प किया यानी कर्म किया, और मन ने ही उसको परख लिया। भारतीय दृष्टिकोण से स्वरूपतः मन सूक्ष्म जड़ पदार्थ है। किन्तु चेतन आत्मा से चेतनशक्ति उधार लेकर वह चेतन जैसा प्रतीत होता है क्योंकि इसकी प्रतीति भी चेतना से ही होती है।

इसलिए पाश्चात्य विचारक इसे चेतनतत्त्व ही मान बैठते हैं। वस्तुतः यह जड़-चेतन की ग्रंथि है। इस ग्रंथि को खोलना ही सबसे ऊंची आध्यात्मिक सफलता है।

मुक्ति का अर्थ ही है हृदयग्रंथि का भेदन। वेद इसका प्रमाण है। मुण्डकोपनिषद् (2/2/8) कहता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

'परम तत्त्व का दर्शन हो जाने पर हृदयग्रंथि का भेदन हो जाता है। सब संशयों का छेदन हो जाता है और उस जीव के सब कर्मों (संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध) का क्षय हो जाता है।'

हृदयग्रंथि भेदन का अर्थ है जड़-चेतन की ग्रंथि का भेदन। यह मुक्ति का प्रथम लक्षण है। जब मन की गांठ खुल गई, मन का सूक्ष्म जड़ भाव नष्ट हो गया और उसकी चेतनशक्ति ने अपने मूलस्रोत परम चेतन आत्मतत्त्व को पहचान लिया तब जड़-चेतन की ग्रंथि बची ही नहीं। जड़ता लय हो गई और चेतना प्रकाशित हो गई। दो होवे तब गांठ लगे, जब दो रहे ही नहीं तब गांठ कैसे लगे? जब मन ही नहीं रहा मन के संशय कहां बचेंगे? इसलिए संशयों का छेदन अपने आप ही हो जाता है। उसी प्रकार जब मन ही नहीं रहा तो मन का अहंकार भी नहीं रह सकता। जीवात्मा के सिद्धात्मा से पृथक् होने के मिथ्याभाव को ही जीव का अहंकार कहा जाता है। इसी कर्तापन के अहंकार से वह कर्म करता है। जब तक कर्ता रहता है तब तक भोक्ता भी बनना पड़ता है। इसलिए कर्मफल का भुगतान भी तभी तक चलता है जब तक कर्तापन का अहंकार बना रहता है। अहंकार का आश्रय स्थान मन ही है। जब मन का क्षय हो गया तो अहंकार कौन करेगा? इसलिए अहंकार के नाश के साथ ही सब कर्मों का अपने आप क्षय हो जाता है।

मुक्ति की दो साधन प्रणालियां अथवा उसके कथन के दो प्रकार हैं—

(1) मनोनाश,

(2) मनोजय।

मनोनाश—मनोनाश का भाव है मन के सूक्ष्म जड़तत्त्व (मन की जड़ता, अज्ञानता, अहंता, ममता आदि) के समस्त विकारों का नाश। यह तुच्छ विकारी अहंकारी मन का नाश है जिसके लिए सब शास्त्र एवं ऋषि-मुनि आदेश, उपदेश करते हैं। मन का यह जड़ अंश जड़ विषयों की कामना करता है। काम से क्रोध, लोभ आदि नरक की सात सीढ़ियां लग जाती है। इसलिए कामरूप मन को मारने का उपदेश भगवान् ने गीता के तीसरे अ. में दिया है—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। 3/43, गीता

हे महाबाहो अर्जुन! युद्धभूमि में लाखों शत्रुओं को मारने में तुम समर्थ हो। किन्तु हे महाबाहो, तुम इस बड़े ही कठिन शत्रु कामरूपी मन को ज्ञानरूपी तलवार से मारो। तब तुम सच्चे शूरवीर माने जाओगे। कबीरजी ने भी कहा है—

मन को क्यों नहीं मूंडीये जामे भरया खोट।

इस प्रकार विकारी अंश का नाश जरूरी है। कबीर का वचन है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
शीश उतारै भुईं धरै तब पैठे घर माहिं।।

अर्थात् भगवान् की प्राप्ति का घर प्रेम का घर है कोई किसी मौसी-फूफी का घर नहीं। यहां तो जो अपने अहंकाररूपी शीश को उतारकर धरती पर पटक सकता है वही भीतर प्रवेश करने का अधिकारी है। गुरुग्रंथ साहब में कहा है—

जो तेनु प्रेम खेलनदा चाह सिर धर तली गली मेरी आव।

अर्थात्, हे प्रेमी! तुझे प्रभु प्रेम से खेलने का चाव है तो अपने अहंकाररूपी सिर को अपनी तली (हथेली) पर धरकर मेरी प्रेमगली में आ जाओ। अहंकार का नाश (मनोनाश) होते ही कर्मों का लेखा एवं पुनर्जन्म का चक्र अपने आप शान्त हो जाता है। स्वामी रामतीर्थ ने इस तथ्य को समझाने के लिए एक सेठ और कर्जदार का दृष्टान्त दिया है—कर्जदार ने काफी किश्तें कर्ज की ले रखी थी और वह चुका नहीं पा रहा था। कर्जदार की विनती पर सेठ ने कहा, कर्ज की कोई भी एक लाइन काट दो, शेष तुझे चुकाना ही पड़ेगा। जब उसने अपने नामवाली लाइन काट दी तो सेठजी पछताते ही रह गए। क्योंकि अब कर्जदार ही शेष नहीं रहा तो कर्ज कौन चुकाये?

मनोजय—मनोजय का एक अर्थ है मन को जीतना (मन पर जय) और दूसरा अर्थ है मन की विजय (मन की जय)। यदि मन पर विजय की जाती है तो मन को पराजित करके ही विजय प्राप्त की जा सकती है। यहां भाव खोटे मन या विकारी मन को जीतने का है संस्कारी मन को नहीं। मनोजय का दूसरा अर्थ है मन की विजय। कबीर का वचन है—

मन के हारे हार है मन के जीते जीत।
पारब्रह्म को पाइये मन ही है परतीत।।

इसमें एक अर्थ तो मन की संकल्पशक्ति के हारने और जीतने का है। जो संकल्प का दुर्बल व्यक्ति है वह हारे हुए मनवाला व्यक्ति जीवन में पराजय का मुख देखता है और दृढ़ संकल्पी व्यक्ति जीवन में विजय ही प्राप्त करता है। इसका अधिक गम्भीर अर्थ है कि मन की चेतना का उचित सम्मान करते हुए

यदि हम मन की चेतना के मूलस्रोत (आत्मा की प्रतीति) प्राप्त कर लें तो मन की उस विजय में परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति हो जाती है। गुरु नानकदेव ने भी कहा है—

मन तू ज्योति स्वरूप, तू अपना मूल पहचान।

यदि मन सीमित चेतना से अनन्त चेतना तक अपना विकास कर ले तो मन के चेतन अंश की विजय में मुक्ति लाभ हो जाएगा। इस अर्थ में मनोजय ही मुक्ति बन जाती है।

जब तक जड़ चेतन की ग्रंथि बनी रहती है तब तक मुक्ति का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। मन स्वयं एक विचित्र पहेली बना रहता है। उसकी जड़-विषयों की ओर अनुरक्ति देखकर वह जड़ प्रतीत होता है और होश-हवास के कारण वह चेतन प्रतीत होता है। यह रहस्यमयी ग्रंथि खुलती ही नहीं कि वह वास्तव में जड़ है अथवा चेतन।

इसलिए पूर्व और पश्चिम के विचारक मन का स्वरूप निर्णय करने में कतराते रहते हैं। मन रोमन देवता जेम्स के समान प्रतीत होता है जो स्वर्ग के द्वार का रक्षक माना जाता है और जिसके दो मुख हैं। एक मुख से वह ईश्वर की ओर देखता रहता है और दूसरे मुख से वह बाहर से आने वाले आगन्तुकों की ओर। मन भी जब जड़ जगत् की ओर देखता है वह जड़-विषयों का भक्त बन जाता है और जब चेतन आत्मा की ओर निहारता है तो उसके लिए सब कुछ निछावर करने को तैयार हो जाता है। पुनः जड़ को देखने पर वह चेतन तत्त्व के आकर्षण को भूल जाता है। जिस रंग में बैठता है उसी रंग में रंग जाता है। जड़-चेतन की दुविधा मानव मन की दुविधा है।

कौए के विषय में उक्ति है—चौकन्ना, चालाक, सयाना, चार आंख रहते हुए भी काना। कौआ बहुत चौकन्ना रहता है मानो उसके चार कान हैं और वह चारो ओर की आहट तुरन्त सुन लेता है। इसलिए कौआ जल्दी से किसी की पकड़ में नहीं आता। वह बड़ा चालाक, सयाना माना जाता है। और वह इतना सावधान रहता है कि प्रतीत होता है मानो उसके चारो ओर नेत्र भी हैं। किन्तु चार आंख रहते हुए भी कौआ वास्तव में काना ही होता है क्योंकि उसके दोनों नेत्रगोलकों के भीतर आंख का गोला एक ही है। दायीं ओर देखने पर वह गोला दायें नेत्र की ओर घूम जाता है और बायीं ओर देखने पर बायीं ओर। इस दृष्टि से कौए की चार आंखें होते हुए भी काना माना जाता है।

इसी प्रकार हमारा मन बड़ा चौकन्ना, चालाक, सयाना बनता है। किन्तु वास्तव में वह काना ही है। जब तक वह संसार के जड़ भोग पदार्थ में लीन रहता

है उसे कभी भी भगवान् नहीं सूझता और भगवान् के सत्संग में वह स्वयं विषयों को भूल जाता है। यह बहुत चालाक मन वास्तव में विष्ठा भोगी कौए के समान है।

मन का स्वरूप

मान्यता

भावना

कल्पना

मननशीलता

मान्यता—मन एक माना हुआ मैं है। वास्तविक मैं को भूलकर मनुष्य जब दु:खों से उद्विग्न होने वाले और सुखों की स्पृहा करने वाले, कामना की केलि, तृष्णा की तृषा और अविद्या के अंधकार में लीन रहने वाले अपने तुच्छ और घटिया स्वरूप को ही मैं मान लेता है तो उसकी मान्यता को ही मन कहा जाता है। जो वास्तव में नहीं है पर मान लिया गया है, वह मन है। रज्जु में सर्प और मरुभूमि में जल वास्तव में नहीं है पर मान लिया जाता है। स्वप्न में राज्यवैभव पाकर प्रसन्नता, कंगाली भोग का दु:ख, स्वजनलाभ से प्रेम, शत्रु को देखकर घृणालाभ और बाघ को देखकर भय—ये सब स्वप्नकाल की मान्यता ही है। जागरण होते ही न दु:ख-सुख, न प्रेम-घृणा, वैर और भय के कारण बचते हैं न उनसे व्यथित होने वाला वह मैं ही बचता है। बाघ और बाघ के भय से भागने वाला मैं, दोनों ही लुप्त हो गए। वैसे ही सच्चे मैं का बोध होते ही माना हुआ मैं (मन) लुप्त हो जाता है। मन के लोप के साथ ही मन का मनोराज्य और मन के विकारों का सारा जगत् भी लय हो जाता है।

मन भ्रान्ति (illusion) तथा कल्पित विभ्रम निर्माण करने में बड़ा प्रवीण है। किसी वस्तु को गलत समझना भ्रान्ति है जैसे रज्जु को सर्प। और बिना किसी भौतिक आधार के कल्पना के भूत से कांपने लगना विभ्रम है। मन इसी प्रकार से खेलने वाला खिलाड़ी है। वह खेल भी मनमाना रच लेता है और खिलाड़ी भी मनमाने। यह माना हुआ मैं और माना हुआ ममत्व का संसार है।

भावना—किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जब हम किसी मान्यता को अंगीकार कर लेते हैं और उसका हमारे जीवन में कुछ उपयोग भी प्रतीत होता है तब वह मान्यता हमारी भावना बन जाती है। जैसे देश को एक माता के रूप में मान्यता देने पर देशभक्ति की भावना बन जाती है। इसी प्रकार मूर्ति को भगवान् के रूप में मान्यता, क्रॉस को क्राइस्ट के रूप में मान्यता, ताजिया को हसन-हुसैन के बलिदान के प्रतीक रूप में मान्यता, झण्डे को देश की प्रतिष्ठा के रूप में मान्यता। ये सब मान्यता ही भावना बन जाती है और धीरे-धीरे पूरा समाज उसे

मानने लगता है। तब यह एक मन की मान्यता न होकर समूह मन की भावना बन जाती है। मन व्यक्ति का ही होता है समूह का नहीं। लेकिन प्रारम्भ में किसी एक शक्तिशाली मन की मान्यता प्रचार द्वारा अन्यों के मन को भी प्रभावित करने लगती है और धीरे-धीरे पूरे समाज की मान्यता बन जाती है। कोई भी नेता पूरे समूह को जगाने या भड़काने के लिए ऐसी ही सामूहिक भावना का स्पर्श करने का प्रयास करता है। इससे बड़ी-बड़ी क्रान्तियां हो जाती हैं। कुछ समाज के हित में और कुछ युद्ध, हिंसा, रक्तपात भड़काने वाली मानवता के अहित में। मान्यता जब भावना बन जाती है तब उसकी जड़ें मानव मन में गहरी स्थापित हो जाती है जिसे उखाड़ना सरल काम नहीं है। इसे परम्परा का बल मिल जाता है। अच्छी भावना समाज की श्रद्धा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। जब तक ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मलाभ नहीं हुआ तब तक तो मन का खेल चलेगा। तब तक मन कुछ न कुछ मान्यता रखना चाहेगा, कुछ भावना भी ग्रहण करना चाहेगा। उस समय उसको दूषित भावना के स्थान पर पवित्र भावना दी जाए तो वह भी मन को परिष्कृतकर ज्ञानप्राप्ति में सहायक बन सकती है। गीता में कहते हैं—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। 7/21, गीता

'जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, मैं उस भक्त की उस देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर कर देता हूं।'

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।। 7/22, गीता

'भगवान् कहते हैं वह पुरुष श्रद्धा से युक्त हुआ देवता के पूजन की चेष्टा करता है और उस देवता से मेरे द्वारा विधान किए हुए उचित भोगों को निःसन्देह प्राप्त करता है।' भगवान् ने श्रद्धा को बड़ा मूल्यवान तत्त्व माना है चाहे वह श्रद्धा तनिक घटिया स्तर की भी हो किन्तु वह मन के एकाग्रीकरण तथा मन के विकास में सहायक होती है। भगवान कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। 9/23, गीता

'श्रद्धा से युक्त हुए जो सकामी भक्त दूसरे देवता को भी पूजते हैं वे भी मेरे को ही पूजते हैं। चाहे वे विधिपूर्वक न भी पूजते हों।' जैसी उदारता भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने इस वचन में दर्शायी है वैसे यदि अन्य पंथों के पैगम्बर भी अन्य मतावलम्बियों के प्रति दर्शाते तो सम्भवतः पंथों की अज्ञानजनित कट्टरपंथी द्वेष-भावना से होने वाले अत्याचार एवं रक्तपात न हो पाते।

यदि भावना शुद्ध हो और उदार हो तो वह जीव के विकास में सहायक होती है, बाधक नहीं। और मानव समाज के लिए भी वरदान बनती है, अभिशाप नहीं। जब भावना अज्ञानजनित होती है, विवेकहीन होती है, अनुदार एवं द्वेषपूर्ण होती है तो दूसरे धर्मों एवं पंथों के श्रद्धालुजनों को उनकी श्रद्धा के कारण सम्मान देने के स्थान पर उन्हें अपना शत्रु मान लिया जाता है और हमसे भिन्न श्रद्धा होने के कारण उन्हें काफिर, हिडेन (Headen), पैगन, नास्तिक, झूठा कहकर उनके प्रति घृणा का प्रचार किया जाता है और उन्हें मारकर बहिश्त (स्वर्ग) प्राप्त करने का मिथ्या प्रचार किया जाता है।

भगिनी निवेदिता ने लिखा है कि हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें सहिष्णुता एवं उदारता का सद्गुण है।

हिन्दू समाज के भीतर जितने पंथ, सम्प्रदाय हैं उन सबमें इष्टदेव की स्वाधीनता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी भावना एवं श्रद्धा के अनुसार हर व्यक्ति अपने मन के अनुकूल देव चुन सकता है। घर में माता वैष्णव, पिता शैव, पुत्र आर्य समाजी, पुत्री दुर्गाभक्त सब परस्पर प्रेम से रह सकते हैं। हिन्दू धर्म ने बौद्ध व जैन, वेद-निन्दक प्रचारकों को कभी नहीं सताया और न प्रचार से रोका। चार्वाक जैसे घोर नास्तिक भौतिकवादी को भी अपने सिद्धान्त के प्रचार की खुली छूट दी गई। इसकी तुलना में ईसाइयों ने गैर-ईसाइयों का तो कत्लेआम किया ही, उन्होंने ईसाइयों में भिन्न-भिन्न पंथों को भी सहन नहीं किया और भिन्न विधि से ईसा की ही पूजा करने वाले रोमन कैथोलिक और प्रोटैंस्टैन्ट दोनों ही ईसाई, दोनों ही परस्पर को जीवित जलाते रहे।

इसी प्रकार इस्लाम ने अपने पंथ के प्रचार के लिए तबलीग के नाम पर जेहाद छेड़कर मानवता के रक्त की होली खेली।

यदि ईसा का भारत में जन्म होता तो उन्हें सूली पर न चढ़ना पड़ता। यदि गैलीलियो, कोपरनिकस, जीनो, ब्रूनो भारत में जन्म लेते तो उन्हें सता-सता कर मारा न जाता और न चौराहे पर जलाया जाता। न घर समेत फूंका जाता।

यदि हजरत मुहम्मद और उनके अनुयायी शिष्यों में गीता जैसी उदारता होती तो मानवता का बहुत बड़ा विनाश रुक जाता।

गीता कहती है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।। 17/3, गीता

'यह पुरुष श्रद्धामय है। और जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वास्तव में वह वही है।' जिसकी श्रद्धा हत्या, हिंसा में है वह हिंसक है। जिसकी श्रद्धा जीवदया में है वह दयालु है। जिसकी श्रद्धा भगवान् में है वह भागवत (भक्त) है। जिसकी श्रद्धा भोग

में है वह भोगी है। जिसकी योग में है वह योगी है। मानव के हाड़-मांस के शरीर के भीतर जो श्रद्धामय पुरुष है, वही वास्तविक पुरुष है। बाहर दिखने वाला पुरुष तो दिखावा मात्र एवं नश्वर है। उसके भीतर वाला श्रद्धामय पुरुष ही लोक-लोकान्तर, जन्म-जन्मान्तर तक अपना प्रभाव दिखाता है। बुद्ध का पंच-भौतिक शरीर कभी का जा चुका किन्तु उनका श्रद्धारूप व्यक्तित्व अभी भी जीवित एवं अमर है।

इसी प्रकार ईसा, महावीर, श्रीकृष्ण, शंकराचार्य आदि अपने श्रद्धामय शरीर से अभी भी मानवता को मार्गदर्शन देते हैं और मानवता की श्रद्धा का अर्घ्य प्राप्त करते हैं। वे श्रद्धामय पुरुष आज तक मानवता में श्रद्धा जगाते हैं और मानव उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

भगवान् गीता में कहते हैं श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। 4/39, गीता

'हे अर्जुन! जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है, ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।' श्रद्धावान पुरुष का तत्पर और संयतेन्द्रिय दोनों होना अनिवार्य है, तभी ज्ञान की प्राप्ति होगी। यदि श्रद्धावान व्यक्ति अपने कार्य में श्रद्धा तो रखता है किन्तु कार्य में तत्पर नहीं रहता, तब उसे सफलता मिलने में संदेह है। तत्पर का अर्थ है उसी के परायण (शरणागत) और निरन्तर लगा हुआ। अनेक लोग ईश्वर में श्रद्धा रखते हैं किन्तु उसके शरणागत होकर सब कुछ उसी को समर्पित नहीं करते और ईश्वरप्राप्ति की साधना में निरन्तर नहीं लगे रहते। इसलिए श्रद्धा होकर भी उन्हें ईश्वर का ज्ञान नहीं होता।

मालवीयजी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का संकल्प लिया। तब वकालत, राजनीति आदि सब कार्य छोड़कर एक उसी कार्य में तन एवं प्राण से लग गए। उनकी तत्परता के कारण उन्हें सफलता मिली। लोग थोड़ी देर साधना करके हताश-निराश होकर बैठ जाते हैं। वह भी ज्ञान का अधिकारी नहीं बनता। तत्पर साधक सतत अखण्ड साधना करता रहता है। उसके मन में अक्षय ध्येयनिष्ठा होती है। जो कभी कम न होकर निरन्तर अधिक प्रदीप्त होती रहती है। गीता के द्वादश अध्याय में भगवान् **'श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः' (12/2)** शब्द का प्रयोग किया है। इसका भाव है परम तत्त्व के प्रति अतिशय श्रद्धायुक्त भक्त भगवान् की दृष्टि में अति उत्तम योगी है। जो श्रद्धा क्षणिक या अल्पकालीन होती है वह सच्ची श्रद्धा नहीं है। वैसे तो जन्म से हर कांटा भी कोमल होता है, फूल वही है जो कोमल ही रहे सारी उम्र।

कभी-कभी राम जपने वाले बगुला भक्त लाखो हैं।
जीवन के श्वास-श्वास राम कहें धन्य हैं वे।।

श्रद्धा और तत्परता के साथ संयतेन्द्रिय होना भी आवश्यक है। जिसका इन्द्रियों पर संयम नहीं है उसकी इन्द्रियां मन की लगाम ढीली होने के कारण दुष्ट घोड़ों के समान रथ (शरीर), सारथि (जीवात्मा) दोनों को विनाश के मार्ग पर गिरा देगी। इसलिए इन्द्रिय चंचलता के कारण जिसका मन इधर-उधर अनेक लोभ एवं भोग के विषयों में भटकता रहेगा वह सतत साधना नहीं कर सकेगा। उसका मन एकाग्र नहीं होगा और परिणामस्वरूप उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होगा।

गीता के 17वें अ. के चौथे श्लोक में भगवान् ने श्रद्धा के तीन प्रकारों की चर्चा की है। सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक श्रद्धा से लोग देवता को पूजते हैं और राजस पुरुष यक्ष और राक्षस को पूजते हैं तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं।

श्रद्धा एक अद्‌भुत आध्यात्मिक शक्ति बन जाती है। मनुष्य के चरित्र की बड़ी मूल्यवान पूंजी है। नैतिकता, सेवा, सदाचार एवं आध्यात्मिक साधना सभी श्रद्धा द्वारा ही सम्भव है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामायण के प्रारम्भ में लिखा है—

भवानीशंङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।। 1/2

'मैं श्रद्धा और विश्वासरूप भवानी और शंकर की वंदना करता हूं। जिनके बिना सिद्धपुरुष भी अपने अन्त:करण में स्थित ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकते।'

कुछ मनोवैज्ञानिक श्रद्धा को मन का हिप्नोटिज्म मानते हैं जिसमें मनुष्य की तर्कशक्ति को सुलाकर उसकी मान्यता शक्ति को जगा दिया जाता है। Objective mind आपत्ति करता है किन्तु Subjective mind श्रद्धालु प्रजा (Subjects) के समान आत्मसमर्पण कर देता है। मेस्मेरिज्म में व्यक्ति की तर्क प्रवृत्ति को सुलाकर उसके मान्यता वाले मन को जादूगर अपने अधीन कर लेता है और उससे मनमानी बातें मनवाता रहता है। यह मन की श्रद्धाशक्ति का दुरुपयोग भी है। कई लोग हिप्नोटिज्म के द्वारा कुछ कल्याण के कार्य भी साधते हैं। किन्तु अंधश्रद्धा द्वारा मानव के हित की अपेक्षा उसका अहित ही अधिक होता है। धार्मिक एवं राजनीतिक अत्याचारों के पीछे अंध श्रद्धायें कारण होती है।

श्रद्धा सात्त्विक (पवित्र) तथा परम तत्त्व के प्रति समर्पित होनी चाहिए। 'श्रद्धया परयोपेताः' परम तत्त्व के प्रति परिपूर्ण श्रद्धा। परम तत्त्व परम सत्य है। इसे तर्कसम्मत ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। ज्ञान साधना में बुद्धि बहुत सीमा तक

सहायक होती है। बुद्धि के विवेक बिना सत्-असत् का, सही-गलत का, तर्क-कुतर्क का निर्णय हो ही नहीं सकता। केवल अन्तिम सीमा पर पहुंचकर बुद्धि का अहंकार भी छोड़ना पड़ता है। तब हम सत्य के साधक स्तर से ऊंचे उठकर स्वयं सत्य की सिद्धि से सत्यस्वरूप बन जाते हैं। क्योंकि श्रद्धा भी सत्य के प्रति है और श्रद्धा साधना की सीढ़ी है। इसलिए श्रद्धा कभी अंधी, विवेकविरोधी एवं तर्कहीन नहीं होनी चाहिए।

श्रद्धा सात्त्विक तभी हो सकती है जब उसके द्वारा स्वयं हमें और हमारे इर्द-गिर्द के लोगों को प्रकाश और शान्ति मिले।

यदि अंधश्रद्धा के कारण अज्ञान, अशान्ति और रक्तपात होता है तो वह तमोगुणी श्रद्धा मानव को गिराने वाली है। गीता तथा हमारे धर्मशास्त्रों में श्रद्धा की महिमा गायी गई है। वह परम तत्त्व के प्रति सात्त्विक श्रद्धा ही है।

किसी अधिनायक ,राजा या राजनीतिक नेता के प्रति अंधश्रद्धा अज्ञान एवं अशान्ति का कारण बनती है। इसलिए इससे मानव को बचना चाहिए।

श्रद्धा का विषय होना चाहिए—परम तत्त्व। श्रद्धा का प्रकार होना चाहिए—सात्त्विक।

श्रद्धा और भक्ति—कुछ विचारक श्रद्धा को ही भक्ति मानते हैं। किन्तु महर्षि शांडिल्य का कथन है कि श्रद्धा भक्ति का सहायक तत्त्व है स्वयं भक्ति नहीं है। भगवान् गीता में यही कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। 12/2, गीता

'मेरे में मन को आविष्ट करके नित्य मेरे से जुड़े हुए परम तत्त्व के प्रति श्रद्धा से परिपूर्ण होकर जो मेरी उपासना (भक्ति) करते हैं वे श्रेष्ठतम भक्ति-योगी हैं।'

इसमें भक्ति के सहायक तीन तत्त्व गिनाये गये हैं—

मन को पूर्ण रूप से भगवान् में लगाना, नित्य भगवान् से ही जुड़े रहना या नित्य निरन्तर साधना में लगे रहना और परम तत्त्व के प्रति श्रद्धा से पूर्ण होना। यदि श्रद्धा ही भक्ति का पर्याय होती तो उपासना के लिए श्रद्धा को सहायक रूप में वर्णित नहीं किया जाता। इस प्रकार श्रद्धा स्वयं ही भक्ति नहीं बल्कि भक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व है।

भावना और भावुकता

भक्ति एक सात्त्विक सतत समर्पण भावना है। यह मात्र भावुकता नहीं। भावुकता मन का अल्पकालिक आकस्मिक उबाल होता है जिसमें मनुष्य आवेश

में आकर कुछ अनर्गल बातें या कृत्य कर बैठता है। कई बार वह भक्त के समान दिखाई देता है किन्तु बाद में होश आने पर अपने ही किए पर पछताने लगता है। अतः वह भक्त नहीं कहला सकता। भक्त अपनी सूझ-बूझ के साथ बिना क्षणिक आवेश के यह समझता है कि उसका जीवन आराध्यदेव के लिए समर्पित है। यह जानते हुए कि इस नश्वर शरीर को भक्ति साधना द्वारा अविनश्वर परमपद या परमेश्वर के प्रेम को पाना है, वह अपनी सारी भावना को इस बौद्धिक निश्चय पर उड़ेल देता है। अतः व्यक्ति का एक भाव Sentiment है मात्र मानसिक (Emotion) नहीं। आवेश में मनुष्य अंधा हो जाता है और वह लक्ष्य भी भूल जाता है। किन्तु भावना में लक्ष्य का निरन्तर स्मरण रहता है और भक्त अपनी सारी क्रियाओं को लक्ष्य की ओर ही प्रेरित करता है। भावुकता एक प्रकार का मानसिक रोग है जिसमें बुद्धि या विवेक दब जाते हैं और परिणाम कैसा होगा, कुछ भी कहा नहीं जा सकता। किन्तु भक्ति में भक्त का विवेक कायम रहता है। उसके मन में आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती है और परिणाम सदा मंगलकारी ही होते हैं। भावना वाला व्यक्ति एक महान् पुरुष, इतिहास निर्माता या पूज्य प्रेरक बन जाता है। किन्तु भावुक व्यक्ति कुछ क्षणिक उबाल के बाद नष्ट हो जाता है। वह इतिहास का कूड़ा-कचरा बन जाता है।

तमोगुणी भक्ति—भूत-प्रेत की पूजा, आसुरी यज्ञ आदि में बुद्धि पर तमोगुण का पर्दा पड़ जाता है। अतः वह निन्दनीय है। रजोगुणी भक्ति देवता और यक्ष-किन्नर आदि की पूजा के रूप में प्रकट होती है। रजोगुणी बुद्धि नैतिक-अनैतिक का निर्णय करती हुई भले-बुरे, हित-अहित का निर्णय करती है। अतः सामान्य भक्त इस स्तर पर रजोगुणी बुद्धि रखते हुए नैतिक-अनैतिक विवेक रखते हुए देव भक्ति करते हैं। सबसे उत्तम सतोगुणी भक्ति है जिसमें सतोगुणी बुद्धि सत् और असत् का निर्णय करती है और भक्त सत् वस्तु के लिए अपने आपको समर्पित कर देता है। अतः भक्ति बुद्धि का तिरस्कार न होकर बुद्धि का उचित सत्कार है। पवित्र बुद्धि निश्चय करती है कि परमेश्वर ही एकमात्र परम सत्य है और हृदय अपनी सारी भावना इस निर्णय पर चढ़ा देता है। यही भक्ति भावना है। विवेकहीन ढंग से अपने हृदय की भावना को कहीं पटक देना भक्ति नहीं है। सात्त्विक बुद्धि के निर्णय के पश्चात् जब उसी में निश्चय करके मनुष्य टिक जाता है तो धृति कहा जाता है। सच्ची भक्ति में ये धृति या धीरज वर्तमान रहता है किन्तु क्षणिक आवेग में, भावुकता में, मानसिक रोग में, कृत्रिम भक्ति में धृति नहीं रहती। इसलिए थोड़ा-सा संकट आने पर या परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर सारी भावुकता भाग जाती है। उदाहरण के लिए देशभक्ति के नारे लगाने वाले भावुक बहुत होते हैं किन्तु देश के लिए जेल जाने, फांसी चढ़ने का अवसर उपस्थित होने पर सब भावुक देशभक्त भाग जाते हैं और भगतसिंह जैसा

सच्चा देशभक्त ही सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। सच्चे भक्त को कोई भी भय, संकट या प्रलोभन अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता।

भावो हि विद्यते देवः—हमारे मन का शुद्ध भाव ही वास्तविक देवता है। स्वर्ग में रहने वाले देवता या बैकुण्ठवासी नारायण हमें फल देने में भले ही देर करें किन्तु भाव देव, अन्तर का नारायण तो हमें तुरन्त फल प्रदान कर देता है। यह मनोविज्ञान से भी सिद्ध एवं प्रमाणित है। कीट-भृंगी न्याय में फंसा हुआ कीड़ा भृंगी का चिन्तन करते हुए स्वयं भृंगी बन जाता है।

कल्पना—मन संकल्पात्मक है। वह निरन्तर संकल्प-विकल्प करता रहता है। कल्पना के पांच रूप हैं—

(क) कल्पना के द्वारा नवीन सुन्दर सृष्टि।

(ख) संकल्प-विकल्प के कारण मन की चंचलता।

(ग) काल्पनिकता के कारण मन की रची हुई सृष्टि का मिथ्यात्व।

(घ) संकल्प के कारण कर्मों का तांता।

(ङ) दृढ़ संकल्प के द्वारा इतिहास निर्माण।

जीवात्मा की कल्पवृक्ष से उपमा दी गई है। वह जैसा-जैसा चिंतन करता है वैसा ही बन जाता है। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक पथिक वन को पार करते समय भूख-प्यास से त्रस्त हो और पैदल चलते-चलते थक कर एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। सोये-सोये ही सोचने लगा काश पीने को मीठा जल मिल जाता। तो देखा एक घड़ा जल उपस्थित हो गया, फिर विचार ने लगा काश भोजन की व्यवस्था हो जाती, तो नाना पकवान से भरा एक थाल उपस्थित हो गया। उनके सेवन के पश्चात् उसे निद्रा सताने लगी। तो फिर विचारने लगा काश सोने के लिए एक पलंग की व्यवस्था हो जाती। तो देखा एक पलंग उपस्थित है। उस पर लेट गया। तो फिर विचारने लगा काश कोई परिचारिका थोड़ी शरीर की सेवा कर देती। तो देखा परिचारिका सेवा के लिए उपस्थित हो गई और सेवा करने लगी। तभी उसे विचार आया कहीं बाघ आकर मुझे खा तो नहीं जायेगा। इतने में एक बाघ आकर उसे खा गया।

बेचारे पथिक को पता नहीं था कि जिस वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा है वह कल्पवृक्ष है। और जब कल्पना ही करनी है तो बुरे की कल्पना क्यों करूं। वास्तव में जीवात्मा या मन कल्पवृक्ष ही है, वह जैसी-जैसी कल्पना करता है, स्वप्न देखता है वैसा ही बन जाता है। मदन मोहन मालवीयजी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की कल्पना की उसका स्वप्न देखा तो वह बन गया। हमारे वीर

पुरखों ने भारत को ब्रिटिश दासता से मुक्त कराने की कल्पना की तो भारत स्वाधीन हो गया। अतः मनुष्य जैसा सोचता है, जैसा स्वप्न देखता है, वैसा ही बन जाता है। इसलिए मानव मन की जीवात्मा की उपमा कल्पवृक्ष से दी जाती है। अतः मानव मन की, महत्ता को जानकर सकारात्मक एवं महान् कल्पना ही करनी चाहिए, महान् स्वप्न ही देखने चाहिए।

(क) कल्पना के द्वारा नवीन सुन्दर सृष्टि—जिस प्रकार ब्रह्माजी अपने संकल्प द्वारा नवीन सुन्दर सृष्टि की रचना करते हैं उसी प्रकार मानव मन जाग्रतावस्था में अपनी कल्पना द्वारा सुन्दर कविता, साहित्य, नाटक, संगीत, भवन निर्माण आदि की रचना करता है। स्वप्नावस्था में अपनी जाग्रत् की अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु सुन्दर दृश्यों, व्यक्तियों, वस्तुओं की रचना करता है। कई बार वह अपने मन के छिपे हुए वैर, घृणा और भय के भावों की पूर्ति के लिए कल्पित शत्रुओं एवं कल्पित भय के कारणों की रचना करता है। मन कल्पनामय है। वह अपने मन के कल्पित लड्डू बनाकर भोग लगाता रहता है।

(ख) संकल्प-विकल्प के कारण मन की चंचलता—मन संकल्प करता है, पुनः विकल्प करता है। यह कार्य करूं अथवा न करूं, गीता पर लिखूं अथवा घर जाकर खाना खाऊं। रांची में रहूं या न रहूं, पढ़ाई करूं या न करूं।

इस प्रकार मन निरन्तर डोलता रहता है। इसी संकल्प-विकल्प के झोंकों में मन चंचल रहता है। यदि क्षण भर के लिए भी संकल्प रुक जाए तो मन का अस्तित्व ही लुप्त हो जाए। महर्षि वसिष्ठ राम से कहते हैं—हे रामजी! एक क्षण भर के लिए संकल्प को रोककर बताओ कि मन का अस्तित्व कहां है। सुषुप्ति काल में संकल्प-विकल्प रुकते ही मन और मन का रचा हुआ सारा संसार न जाने कहां लुप्त हो जाता है।

'चित्तमेव ही संसारो रागादिक्लेशदूषितम्।' राग-द्वेष आदि क्लेशों से दूषित यह चित्त ही तो संसार है। चित्त के लय होते ही संसार लय हो जाता है। चित्त में संकल्प-विकल्प की वृत्तियों को न उठने देना ही योग है। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगी योग द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करना चाहता है। ध्यानयोगी निर्विकल्प समाधि द्वारा चित्तवृत्तियों को लय करने का प्रयास करता है। भक्तियोग में भक्त भक्ति द्वारा चित्त की सारी वृत्तियों को भगवान् के प्रति समर्पित करता है। कर्मयोगी अपनी चित्तवृत्तियों द्वारा शुभ कर्म करके अपने कर्म एवं कर्मों के फल भगवान् को समर्पित करता है। सुषुप्ति में अपने आप सब की चित्तवृत्तियां लय हो जाती हैं। अतः वहां कोई योग साधना सम्भव नहीं है।

पताका—भगवान् शंकराचार्य ने मन की उपमा एक ऊंचे पर्वतशिखर पर बने हुए मन्दिर के सर्वोच्च शिखर पर लगी हुई पताका से दी है जो दसों दिशाओं

की 49 पवनों के थपेड़ों से निरन्तर हिलती ही रहती है। भारतीय साहित्य परम्परा में मन को मीन कहा गया है। जैसे मछली जल में निरन्तर हिलती ही रहती है वह स्थिर नहीं रहती इसलिए मन को मकर (मीन) और मन के देवता मनोज (कामदेव) को मकरध्वज या मीनकेतु कहा गया है।

एक तो पताका का स्वभाव निरन्तर हिलने का ही है। तिस पर मछली कभी शांत रह ही नहीं सकती। इसलिए इस उपमा में चंचलता का ही पुट चढ़ाया गया है। मछली जब शांत या स्थिर हो जाए तब समझना चाहिए कि मछली मर गई। इस प्रकार जब चंचल मन मर जाता है तब योगसमाधि का शान्तिलाभ होता है। मछली की उपमा का एक दूसरा भाव है—पानी भीतर मीन प्यासी, मोहे लख-लख आवे हांसी।

मछली—वास्तव में मछली जल में रहती, खेलती, क्रीड़ा-कौतुक करती और जीवनभर जल में ही रहती है। जीवन ही उसका जल है, जल से विलग होने पर तुरन्त मर जाती है। किन्तु यदि सीधे तैरते हुए अपने आप जल उसके मुख में प्रवेश कर सके तब तो मछली जल की अधिकता के कारण ही मर जायेगी। जैसे तैरते हुए मनुष्य के मुख में पानी जाने की सम्भावना रहती है और अधिक पानी अन्दर चले जाने पर उसका प्राणान्त हो जाता है। वैसा मछली के साथ नहीं है। उसके शरीर की रचना ही ऐसी है कि सीधे तैरते हुए उसके मुख में पानी जा ही नहीं सकता। मछली को जब पानी पीने की इच्छा होती है तब वह पीठ के बल उलटी हो जाती है। तभी आवश्यकतानुसार वह पानी पी सकती है। यह मछली का दृष्टान्त मानव जीवन पर भी लागू होता है। मानव मन जब तक संसार के विषयों की तृष्णा में फंसा रहता है तब तक उसे ब्रह्मानन्दरस नहीं मिलता। संसार के भोग विलास के प्रति पीठ दिखाकर उलट जाने से मन ब्रह्मानन्दरस का आस्वादन करता है। मन जड़ता की ओर से पीठ दिखाए तब चेतना का आनन्द प्राप्त करता है। ब्रह्मानन्दरस का आस्वादन होने के पश्चात् संसार के विषयों के प्रति अपने आप आकर्षण समाप्त हो जाता है। भगवान् ने गीता में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। 2/59, गीता

इसी भाव को गुरु नानकदेव ने कहा है—

'वो रस आवा यह रस नहीं भावा।'

गुरु द्रोणाचार्य निर्धनता के कारण अश्वत्थामा को दूध के स्थान पर आटे का घोल पिलाते रहते थे। पर जब एक बार ननिहाल गया और उसे असली गाय का दूध पीने को मिला तब वापस आने पर आटे के घोल को पीने से इनकार कर दिया क्योंकि उसने असली दूध चख लिया था।

जल और मछली की उपमा का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि सब ओर दूर-पास में जल ही जल होने पर जल में जीने वाली, जन्मने वाली मछली प्यासी क्यों है? इसी भाव को वेद कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

अनन्त जलराशि के केन्द्र में खड़ा होकर जल के लिए ही तृषा से जल रहा हूं। वे सबके रक्षक भगवान् मेरी जन्म-जन्म की प्यास को तृप्त कर दें।

वेद की इस प्रार्थना में वेदान्त तत्त्व का बीज है। ब्रह्म सर्वव्यापक, अणु-अणु में व्याप्त स्वयं भक्त की जिह्वा वाणी की पुकार में भी व्याप्त है। भक्त आत्मा रूप से ब्रह्म में ही स्थित है किन्तु ब्रह्म के दर्शन के लिए तरस रहा है। यह कितना विचित्र रहस्य है। वेदान्त के इस रहस्य का वर्णन करना ही रहस्यवाद कहलाता है जिसके तीन स्तर हैं—

जीव-ब्रह्म की मूलभूत एकता
ब्रह्म की सर्वव्यापकता
प्रकृति के अणु-अणु में परमेश्वर की झांकी
सर्वव्यापक परमेश्वर की प्राप्ति के लिए व्याकुलता
फिर आत्मा का परमात्मा में मिलन

परमसत्ता के रहस्यमय संकेत, रहस्य को जानने के लिए व्याकुलता और रहस्य का उद्घाटन। यही रहस्यवाद है।

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
(रहस्य का आकर्षण)

लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गई लाल।।
(रहस्योद्घाटन)

मछली और जल की उपमा का भक्तों एवं वेदान्तियों, दोनों ने उपयोग किया है। जैसे मछली जल के लिए तरसती है और जल से विलग कर देने पर तड़प-तड़प कर मर जाती है। इसी प्रकार भक्त भगवान् के दर्शन बिना तड़पने लगता है। महात्मा रविदासजी कहते हैं—

प्रभु जी! तुम सागर हम मीन।

गुरु नानकदेव कहते हैं—

हरि चरण कमल मकरंद लोभित
मनु अणु बिन आ ही प्यासा।
कृपा जल दे नानक सारग को
होवी जाते तेरे नाम वासा।।

वे पुनः कहते हैं—

आखां जीवां विसरे मर जावां

गोस्वामी तुलसीदासजी गृहस्थाश्रम की महत्ता में प्रभु भक्ति के समान पतिव्रता की पतिभक्ति को भी जल और भक्ति की उपमा से समझाते हैं। सीता भगवान् राम से कहती है—

जल बिनु मीन नदी बिनु बारी।
तैसेहिं नाथ पुरुष बिनु नारी।।

बंदर—मन की तीसरी उपमा चंचल बंदर से दी जाती है। बंदर भी बहुत चंचल एवं सदा अस्थिर-सा रहता है। कुछ न कुछ हिलने-डुलने व करने में सदा लगा रहता है। जब कोई कार्य न हो तब भी खेल, उत्पात करता रहता है। कबीर ने कहा है—

बाजीगर का बांदरा ऐसा मन जीव साथ।
नाना नाच नचाय के राखत अपने हाथ।।

जीव के साथ उसका मन बाजीगर के बंदर के समान है। कलंदर बंदर को बांधकर स्थान-स्थान पर नाच नचाने के लिए ले जाता है। किन्तु बंदर के साथ कलंदर को भी जगह-जगह भटकना पड़ता है। बंदर के नाच के साथ-साथ कलंदर को आधा खेल स्वयं खेलना पड़ता है। वह उसका प्रशिक्षक भी है और खेल का साथी भी। जहां बंदर वहां कलंदर। जहं मन तहां जीव। इसलिए विचार कर देखने पर प्रतीत होता है कि कलंदर ने बंदर को क्या बांधा है बंदर ने ही कलंदर को बांध रखा है। मन ही जीव को 84 लाख योनियों में नचाकर फिर भी डोरी अपने हाथ रखता है। जीवन के नाश और पुनर्जन्म की डोरी मन के ही हाथ में है।

सूरदासजी कहते हैं—

अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दे ताल।।

जब मन की तृष्णा या कामना शांत हो जाती है तब मन का उत्पात समाप्त हो जाता है। तभी स्थितप्रज्ञ को आत्मानन्द का अमृत मिलता है। जब तक कामना तब तक मन रूपी बंदर का उत्पात। तब तक जन्म-जन्मान्तर में नाच। तृष्णा के क्षय में ही जीवन्मुक्ति, निर्वाण है।

तृष्णाक्षयो हि मुक्तिः

ऐसे जीवन्मुक्त की स्थिति को ब्राह्मीस्थिति कहा जाता है। इसमें सब कामनाओं की अग्नि का निर्वाण हो जाता है। कामनाक्षय के साथ मन का भी क्षय हो जाता है और बुद्धि निरन्तर ब्रह्मविषयिणी बन जाती है। ऐसी ऋतम्भरा प्रज्ञा

वाला व्यक्ति जब शरीर त्यागता है तो वह परामुक्ति का लाभकर ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। 2/72, गीता

गीता में अर्जुन ने भी मन की चंचलता की समस्या भगवान् के सामने रखी—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। 6/34, गीता

इसके उत्तर में भगवान कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। 6/35, गीता

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में करने का उपाय बड़ा मनोवैज्ञानिक है। वैराग्य द्वारा मन के कुसंस्कारों के झाड़-झंखाड को उखाड़कर मन का शोधन किया जाता है और अभ्यास द्वारा मन को अच्छे संस्कारों की पुट (भावना) देकर मन का रंजन किया जाता है। मैल छुड़ाना वैराग्य है और अच्छा रंग चढ़ाना अभ्यास या रंजन है। रजक दो काम करता है धोने का और रंगने का। संस्कार भी मन को धोता है और अच्छा रंग चढ़ाता है।

मन का स्वभाव है कि उस पर संगत की रंगत अवश्य चढ़ती है। कुसंग से मन कुसंस्कारी हो जाता है और सत्संग द्वारा पवित्र संस्कारी बन जाता है। शंकराचार्य ने कहा है—'सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्वं निःसङ्गत्वे निर्मलचित्तम्'।

सत्संग के द्वारा मन जगत् के प्रति नि:संग (वैराग्य) हो जाता है और जगत् के प्रति वैराग्य ही चित्त को निर्मल कर देता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने सत्संग की महिमा में कहा है—

एक घड़ी आधी घड़ी आधी की पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की हरे कोटि अपराध।।

(ग) काल्पनिकता के कारण मन की रची हुई सृष्टि का मिथ्यात्व— मन की सारी सृष्टि कल्पना या संकल्प द्वारा ही रची जाती है इसलिए अन्तिम परीक्षण करने पर वह असत्य या मिथ्या ही सिद्ध होती है। स्वप्न की सृष्टि अचेतन मन की कल्पना होने से कुछ काल बाद असत्य प्रमाणित हो जाती है। जाग्रत् की सृष्टि चेतन मन की कल्पना होने के कारण काल का तमाचा या ज्ञान की चपत लगने पर असत् सिद्ध हो जाती है। जगत् की सृष्टि ब्रह्मा के संकल्प से पैदा होने के कारण स्वप्न और जाग्रत् की अपेक्षा स्थायी होती है। किन्तु महाप्रलय में वह भी असत् सिद्ध हो जाती है। स्वप्न माया, जाग्रत् माया और जगत् माया सब मिथ्या

माया का ही खेल है। माया का अर्थ ही है मन की कल्पना का रचा हुआ सुन्दर खेल, मनमोहक सृष्टि जो वास्तव में है नहीं पर भासमान हो रही है। माया, मा = नहीं, या=जो। यानी जो नहीं है। जो है नहीं पर है के समान दीखती है।

(घ) संकल्प के कारण कर्मों का तांता—प्रत्येक कर्म कुछ करने की इच्छा के रूप में उदय होता है, इसे संकल्प कहते हैं। मन की संकल्पात्मक वृत्ति ही सभी कर्मों का मूल उत्स है। संकल्प ही कर्म का मानसिक रूप है। कर्म संकल्प का ही प्रकट रूप है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष प्रसुप्त पड़ा हुआ है और उचित खाद-पानी, परिस्थिति मिलने पर वह वृक्ष के रूप में खिल उठता है, प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार संकल्प का बीज ही उचित एवं अनुकूल देश-काल, पात्र-परिस्थिति पाकर कर्म के रूप में प्रकट हो जाता है। संकल्प प्रसुप्त कर्म है और कर्म प्रकट संकल्प है।

Willing is latent action and action is patent willing.

संकल्प और विकल्प परस्पर मिली हुई और विपरीत दिशा में ले जाने वाली वृत्तियां हैं। दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया से मन में हलचल होती है। संकल्प रजोगुण की ओर ले जाना चाहता है विकल्प तमोगुण की ओर अथवा कार्यविरोधी रजोगुण की ओर। संकल्प-विकल्प के घात-प्रतिघात से जो संकल्प अधिक बलवान होता है वही कर्म रूप में फलता है। बहुत से संकल्प तो संकल्प की दुर्बलता, देश-काल की प्रतिकूलता, पात्र की मानसिक शिथिलता और परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण कर्म में प्रतिफलित नहीं हो पाते हैं। वे इच्छा मात्र ही रह जाते हैं। सुस्पष्ट भावना या दृढ़ संकल्प के रूप में परिणत नहीं हो पाते।

If wishes are horses, begger would ride.

यदि इच्छायें घोड़े बन जाएं तो सभी भिखमंगे घुड़सवार बन जाएंगे। भिखमंगे किसी सुन्दर घुड़सवार को किसी सुन्दर घोड़े पर सुन्दर वेश-भूषा में देखते हैं तो उनके मन में भी कामना पैदा होती है कि काश! हम भी ऐसे सजे-सजीले घुड़सवार बनते। किन्तु उनकी वह दुर्बल कामना कामनामात्र ही रह जाती है। वे घुड़सवार तो तभी बन सकते हैं जब उनकी कामना ही घोड़ा बन जाए और वे उस पर सवार हो जाएं। इस प्रकार दुर्बल संकल्प वाले व्यक्ति कामनाओं के घोड़े दौड़ाते रहते हैं या मन के मोदक खाकर अपनी कल्पित तृप्ति करते रहते हैं। ऐसी दुर्बल कामनाओं की पूर्ति कभी रात्रि स्वप्न में प्रकट होती है कभी दिवास्वप्न में। पञ्चतन्त्र की मन के सत्तू खाने वाले ब्राह्मण की कथा ही कुछ नाम बदलकर ईसप की ग्वालन की कथा के रूप में यूरोप में प्रचारित हुई है।

एक ब्राह्मण को यजमान से मुट्ठीभर सत्तू मिला। उसने अपनी चारपाई पर लटके हुए एक घड़े में वह सत्तू डाल दिए और दिवास्वप्न लेने लगा—धीरे-धीरे घड़ा सत्तू

से भर जाएगा, इसे बाजार में बेचूंगा, उससे एक बाछी लूंगा, वह बड़ी होकर दूध देगी। उससे अनेक बाछियां होंगी। कुछ बैल भी होंगे। दूध और कृषि के व्यापार से मैं धनवान बन जाऊंगा। गांव की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी से विवाह करूंगा। उससे कई बच्चे होंगे। बच्चे चारों ओर से घेर करके पैसा और मिठाइयां मांगेंगे। मैं बच्चों को डांटकर मां के पास भेजूंगा। मेरी पत्नी चौके-चूल्हे के बोझ में फंसी हुई रोष में कहेगी, इन्हें आप ही सम्हालें। इस पर क्रोध में पत्नी को लात मारूंगा। इस प्रकार ज्योंही उसने लात चलाई घड़ा फूट गया और सब सत्तू उस पर ही बिखर गया।

ईसप की कथा में एक ग्वालिन दूध बेचने जा रही है। सिर पर दूध का पात्र है। वह सोचती है दूध के बेचने से जो आय होगी उससे मुर्गियां खरीदूंगी, उससे अण्डे होंगे। अण्डों से फिर मुर्गियां। उससे मेरा बड़ा मुर्गाखाना हो जाएगा। मैं धनवान हो जाऊंगी। गांव का सबसे धनी एवं सुन्दर नवयुवक मुझसे ब्याह करना चाहेगा। मैं अपने धन, सौन्दर्य के घमण्ड में नाज नखरे से सिर हिलाकर इनकार कर दूंगी और सिर हिलाते ही दूध का मटका धरती पर गिर गया और उसके कामना का दिवास्वप्न टूट गया।

संकल्प एक कामना है जो मन में अभाव से पैदा होती है। जिस वस्तु का हमारे पास अभाव है उसी को पाने की इच्छा ही कामना है।

संकल्प से ही मानसिक कर्म प्रारम्भ हो जाता है। यदि वह प्रत्यक्ष बाह्य कर्म के रूप में प्रकट हो जाए तो बाहर के जगत् में सबको दिखाई देने वाला कर्मों के घात-प्रतिघात का नाटक प्रारम्भ हो जाता है। यदि देश-काल, पात्र-परिस्थिति अनुकूल न हो और संकल्प दुर्बल हो तो कामना बाहर प्रत्यक्ष कर्म के रूप में प्रकट न होकर अचेतन अथवा अर्धचेतन मन में अपना वंश विस्तार करती रहती है। एक कामना से दूसरी, दूसरी से तीसरी, इस तरह कामनाओं का मानसिक तांता चलता रहता है।

जो प्रत्यक्ष विश्वमंच पर युद्ध एवं महायुद्ध देखते हैं वह भी पहले मानव के मन में संकल्परूप से उदय होते हैं। संसार के प्रकट इतिहास में द्वितीय महायुद्ध सितम्बर 1939 में प्रारम्भ हुआ किन्तु उससे पूर्व जर्मनी और इंग्लैण्ड के एवं उसके मित्र राष्ट्रसमूह के बीच मानसिक युद्ध 1919 से ही चल रहा था। आजकल भी रूसी ब्लाक और अमेरीकन ब्लॉक के बीच, भारत और पाकिस्तान के बीच शीतयुद्ध जारी है जो कभी-कभी अवसर आने पर युद्ध के रंगमंच पर गरम युद्ध के रूप में भी प्रकट होता रहता है। संकल्पों का संघर्ष शीतयुद्ध (Cold War) और हथियारों का युद्ध Hot War है। ये Cold War प्रत्यक्ष गर्म युद्ध की अपेक्षा अधिक चिन्ताजनक है क्योंकि यह मन को सदा अशांत एवं सशंकित बनाए रखता है और इसी में से बार-बार गर्मयुद्ध पैदा होने

की सम्भावना बनी रहती है। जब मन ही शांत नहीं तो हाथ-हथियार कब तक शांत रह सकते हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं—Humanity suffers more from split mind than from split Atom. परमाणु के भेदन से मानवता इतनी दु:खी नहीं जितनी की मन के कटे-फटे होने के कारण। बट्रेण्ड रसेल ने भी इसी भाव को अपने शब्दों में कहा है—More war are caused through badtempered peoples discussing peace affairs than through goodtempered people discussing war affairs. यदि शांतस्वभाव वाले लोग युद्ध के मामलों की चर्चा करें तब इतने युद्ध नहीं होते जितने की उग्रस्वभाव वाले लोगों के शान्ति सम्मेलनों के विचार विमर्श से पैदा हो जाते हैं। भाव यह है कि यदि शांत स्वभाव वाले युद्ध सम्मेलन में विचार विमर्श करते हों तो परिणाम शान्तिपूर्ण ही होगा। इसके विपरीत उग्र स्वभाव वाले शान्ति सम्मेलन के विचार विमर्श के लिए बैठें तो परिणामत: उस शान्ति सम्मेलन से युद्ध पैदा हो जाएगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी अपने संविधान के ध्येयपत्र में कहा है—All war begins in the minds of men. And it is there that we must build our bastion of peace. सभी युद्ध मानव मन में ही प्रारम्भ होते हैं। इसलिए हमें मानव के मानस में ही शान्ति के मोर्चों की किलेबंदी करनी चाहिए। दुर्भाग्य से पश्चिम के पास मानव के मन में शान्ति की किलेबंदी के लिए कोई कार्यक्रम या साधना नहीं है। भारत में शान्ति हमारा मात्र राजनीतिक आदर्श न होकर हमारा धार्मिक एवं आध्यात्मिक आदर्श है।

परब्रह्म परमेश्वर 'शांतंशिवमद्वैतम्' है। विष्णु भगवान् 'शांताकारं भुजंगशयनम्' हैं। हजारों फणवाले विषधारी सर्पों की शय्या के ऊपर भी वे परम शांत है। हमारी सारी आध्यात्मिक साधना शान्ति साधना ही है। भगवान् गीता में कहते हैं—'अशान्तस्य कुत: सुखम्' अर्थात् अशांत व्यक्ति को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य च चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयत: शान्तिरशान्तस्य कुत: सुखम्।। 2/66, गीता

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। 2/70, गीता

'जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं; वैसे ही जिस स्थिरबुद्धि के प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं वह पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, न कि भोग को चाहने वाला।'

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।। 2/71, गीता

क्योंकि 'जो सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित और अहंकार-रहित, स्पृहारहित हुआ वर्तता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है।'

इसी शान्ति को भगवान् ने ब्राह्मीस्थिति भी कहा है। इसलिए जो शान्ति में स्थित है वह ब्रह्म में स्थित है। समस्त वेदमंत्रों के प्रारम्भ में ओम् तथा अन्त में ओम् शान्तिःशान्तिःशान्तिः गाने का बड़ा महान् मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी है। हम परम शान्तिस्वरूप परमेश्वर का नाम लेकर वेदमंत्र (परमेश्वर की वाणी) को गाते हैं तथा अन्त में पुनः उसी शान्त ब्रह्म से प्रार्थना करते हैं ओम् शान्तिःशान्तिः शान्तिः।

हे शान्तस्वरूप परमेश्वर! हमें तन की शान्ति, मन की शान्ति और आत्मा की शान्ति प्रदान करो। हमें आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक शान्ति प्रदान करो। व्यक्तिगत शान्ति, सामाजिक शान्ति और विश्व शान्ति प्रदान करो। वनस्पति जगत् में शान्ति, जीव (पशु-पक्षी) जगत् में शान्ति और मानव जगत् में शान्ति प्रदान करो। वेद में बार-बार शान्तिपाठ का महत्त्व है—

ॐ द्यौः शान्ति-रन्तरिक्ष (गं्) शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्-विश्वे-
देवाः शान्तिर् ब्रह्म शान्तिः सर्व (गं्) शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।

'हे परमेश्वर! द्युलोक में शान्ति हो। द्युलोक और पृथ्वी के बीच में अन्तरिक्ष लोक में शान्ति हो। पृथ्वी में, जल में शान्ति हो। औषधियों, वनस्पतियों में शान्ति हो। विश्व देवताओं में भी शान्ति हो। हमारे सामवेद के गीतों में भी शान्ति हो। शान्ति में भी शान्ति हो। सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो। शान्तस्वरूप ब्रह्म हमें त्रिविध शान्ति प्रदान करें।'

दुर्भाग्य से आज के कुटिल राजनीतिज्ञ स्वयं मन के अशान्त होने के कारण द्युलोक एवं अन्तरिक्ष लोक में भी बमवर्षक रॉकेट भेजकर उसे अशान्त क्षेत्र बना रहे हैं। पृथ्वी को युद्ध की ज्वालाओं से अशान्त बना ही रहे हैं। शत्रु देश में बहने वाली नदियों में विष मिलाकर जल को भी अशान्त बना रहे हैं। जहरीली औषधियों, गैसों एवं रोग के भीषण कीटाणुओं की वर्षा करके औषधियों को अशान्त कर रहे हैं एवं रोगों की महामारियों से मानवता को मारने पर तुले हैं। प्राचीनकाल में हमारी सारी औषधियां जड़ी-बूटी, वनस्पतियों और खनिज पदार्थों से बनती थी।

आजकल की ऐलोपैथी की औषधियां भी विषरूप हैं क्योंकि वे एक रोग को जबरदस्ती दबाकर दूसरे अन्य रोगों को पैदा कर देती हैं। इस प्रकार रोग-औषधि-

नया रोग-नयी औषधि का विषम चक्र चलता ही रहता है और अन्ततोगत्वा शरीर में विष की मात्रा बढ़ जाने के कारण रोग एवं रोगी दोनों मर जाते हैं। इंजेक्शन का Reaction और Reaction के इंजेक्शन का यह विषम चक्र न जाने मनुष्य को कहां पटक देगा। ऐलोपैथी औषधियों के विषय में कहा गया है—Alopathy medicines can cure all the diseases except the one which they them self cause. अर्थात् ऐलोपैथी औषधियां उन सब रोगों का उपचार कर सकती है सिवाय उनके जिनको वह स्वयं पैदा करती हैं।

जर्मन डॉक्टर सुसलर का कथन है—संसार के सब खाते-पीते लोग जितना भोजन करते हैं उसके आधे से उनका पेट पलता है और आधे से संसार भर के डॉक्टरों का पेट पलता है। भाव यह है कि मनुष्य के तनिक अधिक खाने से जो उसे अजीर्ण, अतिसार या उदर विकार होगा उसके उपचार के लिए यदि वह डॉक्टर के पास जाता है तो ऐलोपैथी डॉक्टर उसे औषधियों के ऐसे विषम चक्र में फंसा देता है कि रोगी उस रोग के तनिक उपचार के बाद किसी अन्य रोग का शिकार हो जाएगा। फिर दूसरे रोग के उपचार के लिए तीसरे रोग का शिकार हो जाएगा। और इस प्रकार जीवनभर डॉक्टर की शरण में जाकर उन्हें भारी मोटी फीस एवं औषधियों का मूल्य चुकाता रहेगा। डॉक्टरों के बंगले, कारें, ऐश्वर्य प्रसाधन बढ़ता जाएगा और रोगी मरता जाएगा।

आजकल drug addiction (विषैली औषधियों) की बुरी लत का नया सामाजिक रोग चल पड़ा है। पश्चिम के भोग विलासपूर्ण जीवन के कारण आधी रात तक शराब पीकर स्त्रियों की बगल में हाथ देकर काम नृत्य लीला करने के पश्चात् भड़की हुई कामना वाले मन को सरलता से सहज निद्रा नहीं लाभ होती। ऐसे लाखों-करोड़ों लोग डॉक्टर की शरण में जाते हैं। वे मन को कृत्रिम रूप से सुलाने के लिए विषैली नशे की गोलियां देते हैं। नशीली औषधियां मन को आदत में बांध लेती हैं। पहले दिन जितनी मात्रा के विषैले नशे द्वारा मन को ठोकर मारकर सुलाया जा सकता है, दूसरे दिन मन उस विषैली ठोकर को पुनः खाना चाहता है। पहले जितनी ठोकर से उसे नशा चढ़ता था दूसरे दिन बढ़कर बड़ी ठोकर खाना चाहता है। भगवान् ने गीता में कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 2/62, गीता

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 2/63, गीता

विषयों का ध्यान करने से विषयों के प्रति लगाव हो जाता है। जैसे विषयांध व्यक्ति विवेक को खो बैठता है, नशा भी मनुष्य को अंधा बना देता है जिसमें

विवेक पर तुरन्त अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है। नशा प्रारम्भ करने वाला प्रारम्भ में कण भर अफीम, बीड़ी का एक कश, शराब की एक चुस्की, निद्रा लाने वाली एक गोली, एल.एस.डी. की एक गोली, कण भर चरस से प्रारम्भ करता है। प्रथम दिन इतना ही नशे का झटका उसको असह्य एवं विचित्र लगता है। किन्तु वही नशेबाज थोड़ा बढ़ाते-बढ़ाते हुए एक दिन नशे में अपने स्वास्थ्य, परिवार, धन-सम्पत्ति सभी कुछ को बर्बाद कर बैठता है। नशेबाज का मन प्रतिदिन नशे की और बड़ी ठोकर को मांगता है और दैनिक ठोकरें खाता हुआ स्वास्थ्य एवं धन को गंवाता हुआ एक दिन नशे की ऐसी ठोकरें खाता है कि उसीसे उसका प्राणान्त हो जाता है। पहले मनुष्य नशे को पीता है और बाद में नशा ही मनुष्य को पीने लगता है और कुछ काल बाद उसको पूरा डकार जाता है।

नशीली औषधियों द्वारा समाज के युवक-युवतियों को क्रमिक आत्महत्या का पापपूर्ण प्रशिक्षण दिया जा रहा है। ऐसी औषधि बनाने वाली दवा कम्पनियां, उनको प्रचारित करने वाले डॉक्टर मानवता के हत्यारे हैं और उनका सेवन करने वाले भोगी विलासी युवक-युवती आत्महत्यारे हैं। ऐसे हत्यारों और आत्महत्यारों द्वारा विश्व शान्ति कैसे सम्भव हो सकती है।

आजकल वनस्पतियों पर भी कृत्रिम रासायनिक दवाओं का विषैला प्रभाव पड़ रहा है। कीटनाशक औषधियां सभी विषैली होती हैं, पेड़-पौधे और वनस्पतियों के माध्यम से वह विष मानव के शरीर तक पहुंचता है। वैज्ञानिकों ने खोजकर बताया है कि कृत्रिम रासायनिक दवाओं से उत्पन्न अन्नों एवं वनस्पतियों में लगभग 10 प्रतिशत तक डी.एल.टी. एवं अन्य कीटाणुनाशक औषधियों का दुष्प्रभाव आ जाता है। ऐसी साग-सब्जी खाने वाली माताओं के स्तन के दूध में भी डी.एल.टी. की मात्रा आ जाती है। इसलिए आज की वनस्पतियों में भी मानव के लिए आवश्यक पोषक तत्त्व कम होकर विषैले तत्त्व बढ़ते जाते हैं।

हमारे युद्ध के गीतों में भी अशान्ति, रक्त क्रान्ति एवं जिहाद के नारे लगाए जाते हैं। हमारे शान्ति सम्मेलन भी प्रच्छन्न युद्ध सम्मेलन ही होते हैं। शान्ति के नारे केवल शत्रुओं को धोखे में डालकर शान्त रखने और उसकी आड़ में अपनी युद्ध की भरपूर तैयारी करने के कूटनीतिक उपाय हैं।

लेनिन शान्ति पुरस्कार का महत्त्व तब हो जब लेनिन एवं उसके देश ने शान्ति का मार्ग अपनाया हो।

Liberation army वास्तव में People extermination army जन सेना के स्थान पर जनसंहार सेना है। जनमुक्ति सेनानियों ने रूस की क्रान्ति में करीब एक करोड़ लोगों का संहार किया।

चीन को कम्यूनिस्ट बनाने में भी इतने लोगों का संहार किया गया है। चेकोस्लोवाकिया, अफगानिस्तान और पोलैण्ड में इस जनमुक्ति सेना ने वहां के लाखों-करोड़ों जनों का रक्तपात किया। हिंसा, भय और आतंक द्वारा रूसियों का गुलाम बना दिया।

इस प्रकार हमारे भारतीय शान्तिपाठ के स्थान पर धरती, अंतरिक्ष, जल, थल, मन एवं मस्तिष्क में सर्वत्र अशान्ति एवं हिंसा का विष भरने वाले पश्चिम के लोग जब संयुक्त राष्ट्रसंघ में शान्ति के नारे लगाते हैं तब उनका सारा व्यवहार एक उपहास मात्र प्रतीत होता है।

जो अपने मन को शान्त नहीं रख सकते। घर में अपनी पत्नी-बच्चों के साथ शान्तिपूर्वक रह नहीं सकते। जहां आधे से अधिक परिवार तलाक एवं विवाह विच्छेद के कारण उजड़े हुए हैं, जहां पुरुष रूप के शिकारी और नारियां धन की शिकारी बनी हुई हैं। जहां उजड़े हुए परिवारों के संस्कारहीन निराश्रित बच्चे नशेबाज, समाजद्रोही बन रहे हैं। जहां काम कानन के खुले बाजार में, नाइट क्लबों के व्यभिचार भवनों में प्रतिदिन हजारों-लाखों परिवार काम और अर्थ की अग्नि में स्वाहा हो जाते हैं वहां दुनिया को ठगने के लिए शान्ति के नारे एक क्रूर उपहास से बढ़कर और क्या हो सकते हैं?

पाश्चात्य सभ्यता क्या है? यह एक ज्वालामुखी पर टिकी हुई लिपिस्टिक की हलकी-सी मुस्कान है। जिस दिन मानव के काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष के बारूद से भरा हुआ यह ज्वालामुखी फटेगा उस दिन पाश्चात्य सभ्यता के चिथड़े उड़ जाएंगे।

भारत में शान्ति मात्र एक राजनीतिक नारा नहीं है। यह हमारा धर्मसर्वस्व, प्राणसर्वस्व एवं हमारा साक्षात् भगवान् है। इसलिए भारत का अध्यात्म ही मानव मन का परिष्कार एवं संस्कारकर विश्व शान्ति का सम्पादन कर सकता है।

संस्कारों की परम्परा का नाम संस्कृति है। मन के संकल्पों की भी एक शृंखला या परम्परा बन जाती है। एक संकल्प अपने सहायक अथवा पोषक संकल्प को जगा देता है जिससे संकल्पों की एक शृंखला बन जाती है। इसी से मानव मन में कुछ कहने की इच्छा पैदा होती है। मानव मन की इस गति का नाम ही जगत् है। जगत् का अर्थ ही है जो निरन्तर चलता रहता है। धरती का घूमना या विश्व ब्रह्माण्ड का चक्कर खाना या जगत् का निरन्तर परिवर्तन तो बहिरंग गति है। वास्तव में मानव का मन ही गतिमान रहता है। मन के शान्त होते ही, संकल्पों के क्षय होते ही, चित्तवृत्तियों के लय होते ही समाधि अवस्था में जगत् का अस्तित्व ही नहीं बचता।

संकल्पों के तारतम्य के समान कर्म का तांता जुड़ जाता है। एक कर्म अपने सहायक कर्म को जगाता है फिर दूसरा-तीसरा जुटते हुए कर्मों का जाल पैदा कर देते हैं। कर्म के बार-बार करने से यह आदत बन जाती है। आदत चरित्र बन जाता

है, चरित्र भाग्य बन जाता है, कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म, नए जन्म में पुनः कर्म, फिर कर्मफल भोगने के लिए पुनः जन्म। इसी तरह से संकल्प, कर्मफल, फलप्राप्ति की कामना, पुनः संकल्प, कर्मफल, फलप्राप्ति की कामना यह विषम चक्र चलता रहता है। यह संकल्पचक्र कर्मचक्र है और यही आवागमन का चक्र बन जाता है। कर्मचक्र और पुनर्जन्म से छुटकारा ही मुक्ति है।

(ङ) दृढ़ संकल्प द्वारा इतिहास निर्माण— ब्रह्मा की सृष्टि को मानसी सृष्टि कहा जाता है। परन्तु वास्तव में सारी सृष्टि मानसी सृष्टि ही है। क्योंकि सब मानव के संकल्प से ही निर्मित होते हैं। सारा जगत् भी संकल्प का ही परिणाम है। दुर्बल संकल्प वाला अच्छे जगत् का निर्माण नहीं कर सकता। जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक हम चाहें न चाहें जगत् तो रहेगा ही। इसलिए बंधनकारक विकृत जगत् के स्थान पर अच्छा सुन्दर जगत् रखना ही अभीष्ट है, तदर्थ सुन्दर संकल्प की आवश्यकता है। सुन्दर संकल्प भी यदि दुर्बल हो तो वह भी कार्य में फलीभूत नहीं होगा। बाइबिल में कहा है—

Way to hell is paved with good intentions. यहां good intention का अर्थ good wish ही है। मनुष्य शुभ कामनाएं करता रहे और तदर्थ दृढ़ संकल्प न रखे तो उसके दुर्बल संकल्प कभी भी सफलता में परिणत नहीं होंगे। हर आदमी इच्छा करता है कि मैं स्वर्ग में जाऊं। पर दुर्बल इच्छाशक्ति के कारण वह शुभ कर्म कर नहीं पाता। फलतः न चाहकर भी नरक में चला जाता है। नरक का सारा मार्ग शुभकामनाओं की मृत शिलाओं से पटा हुआ है। इससे दृढ़ संकल्प का महत्त्व स्पष्ट है।

महान् ध्येय को लेकर दृढ़ संकल्प होना चाहिए कि प्राण की कीमत पर भी उससे विचलित या च्युत नहीं होऊंगा। और यह धर्म को लेकर होना चाहिए जैसा कि राणा प्रताप आदि के जीवन में देखते हैं। महान् ध्येय संकल्प भागवत-संकल्प से जुड़ जाए तो मानव के भीतर भगवती शक्ति का अवतरण होता है। अतः जगन्नाथजी के विराट् रथ के मार्ग में मानव मन के छोटे-छोटे मनोरथ आड़े नहीं आने चाहिए।

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा हो करके रहता है। हमें उसके अनुकूल संकल्प करना चाहिए। तभी हमें ईश्वरीय शक्ति का आशीर्वाद मिलेगा, कर्म में सफलता भी मिलेगी, कर्म में दिव्यता आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा। इसके विपरीत चलने पर भागवत संकल्प हमें कुचल डालेगा। वह काल बनकर खा जाएगा। स्वधर्म पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अतः हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीय न्याय का निमित्त और भागवतसंकल्प का सेनानी बनकर अपना कर्तव्य प्रभु की कीर्ति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान के चरणों पर नैवेद्य रूप में चढ़ा देना चाहिए।

संकल्प के बीजनाश से जगत् ही नहीं बचेगा तब विश्व कल्याण की साधना का स्थान भी नहीं बचेगा। जब जगत् ही नहीं तब जगत् कल्याण कैसा। अतः **'आत्मनः मोक्षार्थं जगद्धिताय च'** इसके लिए निष्काम कर्मयोग व लोकसंग्रह का आदर्श सर्वोत्तम है। संकल्प को बांधने वाली बुराई कामनारूपी विष को निष्कामता से शान्त कर दिया गया। संकल्प के अहंकार को भागवतसंकल्प के प्रति समर्पण की भावना से त्याग दिया गया। समस्त कर्मों को भागवत कर्म मानकर उनके प्रति संग को भी त्याग दिया गया। कर्मरूपी भयंकर भुजंग का विष निकाल दिया गया और उसे गले में माला के समान लपेटकर भगवान् शिव के सदृश निरंहकार निष्काम लीला की। स्वयं भी मुक्त हो गए और पीछे वाले जीवन यात्रियों की मुक्ति की सीढ़ी भी बना गए। जगत् का सबसे बड़ा हित यही है कि उसे जीवन के सर्वोत्तम लक्ष्य तक पहुंचाया जाए। मेले में रास्ता भूलकर रोने वाले बच्चे को हम कितना भी लेमनचूस, पूरी-मिठाई देते रहें वह तब तक रोदन एवं चिन्ता से मुक्त नहीं होता जब तक वह अपने घर नहीं पहुंच जाता।

जगत् को भोजन, वस्त्र, मकान, औषधि की सहायता करना भी ठीक है। किन्तु जगत् का सबसे बड़ा कल्याण जीव को जगत्पति के धाम में पहुंचा देना है। गुरु नानकदेव ने कहा—

आपे मुक्त मुक्त करे संसार

निश्चय ही निर्विकल्प समाधि वाला स्वयं तो ब्रह्मानन्दरस भोगता है किन्तु जगत् का व्यापक कल्याण नहीं कर सकता। स्वामी विवेकानन्दजी परमहंसदेव के समान समाधि में लीन रहना चाहते थे किन्तु परमहंसदेव ने विश्वकल्याण के लिए उन्हें एकांत समाधि छोड़कर विश्वभर में ज्ञानज्योति एवं कर्मयोग का दिव्यपथ दिखाने का आदेश दिया।

विराट्रूपदर्शन द्वारा भय की निवृत्ति

अर्जुन के शोक और मोह की निवृत्ति ज्ञान से और भय की निवृत्ति भगवान् के विराट्रूप दर्शन से—

प्रश्न—हे भगवान्! नवम् अध्याय में आपने यह सबसे बड़ा रहस्य बताया कि परमेश्वर दूर नहीं है, वह सर्वव्यापक और निकटतम है। जब मुझे यह जिज्ञासा हुई कि सृष्टि के अनेकत्व में तथा नानाविध रूपों में एक ही परमेश्वर का प्रकाश कैसे है तो दशम् अध्याय में आपने विभूतियोगदर्शन द्वारा दर्शाया कि जड़-चेतन में, मनुष्य-गंधर्व में, असुर-राक्षस, देव, ऋषि-मुनि, पशु-पक्षी, पर्वत, नदी, वृक्ष आदि सबमें ईश्वरीय विभूति समायी हुई है। यह जो सर्वत्र प्रभुदर्शन आपने कराया है क्या उसका एकत्र दर्शन हो सकता है। सबमें प्रभु, अब प्रभु में सब दिखाइये।

अगर सबमें ईश्वर नहीं है तब रत्नाकर डाकू महर्षि वाल्मीकि, तुलसीदास से गोस्वामी तुलसीदास कैसे बन गए?

उत्तर—हे अर्जुन! सम्पूर्ण चराचर जगत् को तू मेरे ही शरीर में एक जगह स्थित देख। यह एकत्र दर्शन बड़ा दुर्लभ एवं दुष्कर है। बचपन में माता यशोदा को मैंने अपने मुख के भीतर ब्रह्माण्ड दिखाया तो वह विस्मित हो गई। दुर्योधन के दरबार में जब शान्तिदूत बनकर गया और उसने मुझे बंदी बनाने की धृष्टता करनी चाही तो मैंने अपनी एक भुजा में अनन्त सेनाएं दिखाकर उसे भयभीत कर दिया। हे अर्जुन! मैं तेरे प्रेम और भक्ति से प्रसन्न होकर जो विराट् रूप दिखा रहा हूं वह सबसे विलक्षण है। इसका उद्देश्य न विस्मित करना है और न डराना, वरन् इसका उद्देश्य है अपने परम जिज्ञासु भक्त को अपनी विभूति का एकत्र दर्शन कराना।

प्रश्न—हे भगवान्! आपके विराट् रूप में सर्वदेवों को, असुरों-गंधर्वों को, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र, तारा, नदी, पर्वत, ऋषि-मुनि, महर्षि, सिद्ध सबको एक साथ देख रहा हूं। आपके अनेक मुखों से अग्निज्वालाएं निकल रही हैं और आपके अनन्त फैले हुए मुखों में सभी कौरवों के साथ ही भीष्म पितामह, आचार्य द्रोण और यह सूतपुत्र कर्ण भस्म हो रहे हैं—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।। 11/26, गीता

अर्थात् 'धृतराष्ट्र के वे सभी पुत्र राजाओं के समुदायों के साथ आप में प्रवेश कर रहे हैं। तथा भीष्म, द्रोण और सूतपुत्र कर्ण हमारे पक्ष के भी प्रधान योद्धाओं के साथ आपके विशाल मुख में समा रहे हैं।'

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! ईश्वरीय न्याय में इनके पापों का फल मिलना प्रारम्भ हो चुका है। स्थूल दृष्टि से कर्म के फल का प्रभाव तुरन्त दिखाई नहीं देता। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से कर्म का प्रभाव कर्म के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। जैसे औषधि खाते ही उसका प्रभाव शरीर में शुरू हो जाता है। किन्तु स्थूल दृष्टि से उसका प्रभाव दिखता है जब बुखार टूट जाता है। पापियों के पाप का प्रभाव तुरन्त शुरू हो गया है। यह दुनिया स्थूल दृष्टि से बाद में देखेगी। डॉक्टर को सूक्ष्म लक्षणों से स्वास्थ्य पर प्रभाव पहले ही दिख जाता है, रोगी को बाद में। दिव्य दृष्टि वाले को कर्म का प्रभाव पहले ही दिख जाता है और चर्म दृष्टि वाले को बाद में।

प्रश्न—हे भगवान्! आपने विभूतियोग (दशम अध्याय) में अपना प्रथम परिचय आत्मा के रूप में दिया। इस विराट्रूप दर्शन में आपका यह भयानक रूप देखकर मैं कांप रहा हूं। आप कौन हैं? मैं आश्चर्यचकित होकर पूछता हूं।

उत्तर—अर्जुन! मेरे दो रूप हैं। अन्त:प्रकृति में आत्मरूप से और बाह्यप्रकृति में कालरूप से शासन करता हूं। भक्तों को मैं आत्मरूप से दर्शन देकर मोक्ष प्रदान करता हूं। किन्तु अभक्तों को काल रूप से वश में रखता हूं और काल बन मृत्युचक्र में घुमाता हूं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।। 11/32, गीता

अर्थात् 'मैं लोकों का क्षय करने वाला अत्यधिक बढ़ा हुआ काल हूं। यहां लोकों का संहार करने के लिए मैं प्रवृत्त हुआ हूं। प्रतिपक्षियों की सेनाओं में जो योद्धागण स्थित हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे (अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी उनका नाश होगा ही)।'

प्रश्न—हे भगवान्! मुझे यह विराट्‌रूप देखकर कुछ समझ में नहीं आता कि मैं क्या कर रहा हूं। भय, विस्मय, रोमांच से आपके इस अनन्त रूप के सामने भौचक्का-सा कांप रहा हूं। प्रारम्भ में सम्बन्धियों के मोह से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कांपने लगा था और मेरे हाथ से गांडीव गिर गया था। अब मैं आपके विस्मयकारक विराट् रूप को देखकर और अपनी तुच्छता देखकर श्रद्धामिश्रित विस्मय से कांप रहा हूं। तीनों लोकों में व्याप्त विराट्‌रूप को देखकर मेरी तुच्छ बुद्धि चकरा गयी है। कि मैं क्या करूं, क्या न करूं।

उत्तर—हे अर्जुन! प्रारम्भ में तू पंडितपने की बात कर रहा था। तेरे में अहम् था। सम्बन्धों के मोह (अहंकार) के ऊपर पांडित्य का आवरण चढ़ाकर बातें कर रहा था। तेरी क्षत्रिय प्रकृति तुम्हें अन्दर से युद्ध करने के लिए प्रेरित करती थी, किन्तु तेरा मोह-अहंकार तुझे युद्ध से रोकता था। इसलिए इन दोनों के बीच में मन के इधर-उधर झूलने से तू कांपने लगा था। अब मेरे विराट्‌रूप के सामने तेरे अहंकार को चोट लगी और तुझे भान हो रहा है कि विराट् के सामने मैं शूर-शिरोमणि महारथी अर्जुन एक तृण के समान तुच्छ हूं। इसलिए इस विराट् का आदेश न मानने से मेरी क्या गति होगी? इसी आशंका से कांपने लगा कि मैं विराट् का अंग होते हुए भी यदि विराट् के आदेश का पालन नहीं करूंगा तो मेरा अस्तित्व कहां बचेगा?

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।
11/33, गीता

'इसलिए तू उठ, यश को प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर समृद्धिसम्पन्न राज्य को भोग। ये सब वीर मेरे द्वारा पहले ही मारे गए हैं, हे सव्यसाचिन्! तुम केवल निमित्तमात्र बन जा।'

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा होकर ही रहेगा। यदि हम उसके अनुकूल संकल्प करें तो हमें ईश्वरीय शक्ति एवं ईश्वरीय आशीर्वाद मिलेगा। कर्म में सफलता भी मिलेगी। कर्म में दिव्यता भी आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा। इसके विपरीत चलने से भागवतसंकल्प हमें कुचल डालेगा। वह कालरूप बनकर खा जाएगा। स्वधर्म पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अत: हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीय न्याय का निमित्त और भागवतसंकल्प का सेनानी बनकर अपना कर्तव्यपालन प्रभु की कीर्ति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान् के चरणों पर नैवेद्य के रूप में चढ़ा देना चाहिए।

विराट्रूपदर्शन गीता का बड़ा मार्मिक एवं विशेष अध्याय है। इसमें मानव का अहंकार ठोकर खाता है और उसे अपनी तुच्छता का भान होने लगता है। मानव के सारे अहम् उस विराट् के सामने गल जाते हैं और उसे सारे विश्व का नियमन करने वाली विराट् शक्ति का दर्शन होता है।

इस अध्याय के पश्चात् अर्जुन श्रीकृष्ण को मित्र, सखा और गुरु मात्र ही न मानकर परब्रह्म परमेश्वर के रूप में पहचानने लगा, इसके पश्चात् उसने भगवान् से तर्क करना बंद कर दिया और विनम्र होकर उनका आदेश मानने के लिए प्रस्तुत होता है। वास्तव में गीतोपदेश में अर्जुन के हृदय परिवर्तन की कुंजी विश्वरूपदर्शन में ही है। सातवें, आठवें और नवें अध्याय में भगवान् अर्जुन को अपने अव्यक्त रूप की महत्ता समझाते रहे पर अर्जुन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। किन्तु जब भगवान् ने विश्वरूप में अपने आपको प्रकट किया तब अर्जुन अतिशय प्रभावित होकर हाथ जोड़कर भगवान् के आदेश पालन को तैयार हो गया।

दोनों पक्षों का चारित्रिक विश्लेषण

कौरव और पांडव दोनों पक्षों के नामों के विश्लेषण से अन्तर का भाव प्रकट हो जाता है। भगवान् 16वें अध्याय में सृष्टि के प्रारम्भ से ही दो सर्गों की रचना की बात बताते हैं—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। 16/6, गीता

अर्थात् इस संसार में दैवी और आसुरी ये दो ही प्रकार की प्राणियों की सृष्टि है।

इसका सिद्धान्त कथन 16वें अध्याय में किया है और इसका उदाहरण पहले अध्याय में दिया है—कौरव और पांडव पक्ष। कौरव पक्ष के कार्यों एवं नामों के विश्लेषण से स्पष्ट प्रकट होता है कि ये आसुरी प्रकृति के हैं। आसुरी लोगों की दृष्टि होती है सारा राज्य सारा संसार हमारे ही उपभोग के लिए है, हमारी सेवा के लिए है। अन्यों को तो हमारे हित में अपनी सेवा और आवश्यकता पड़ने पर अपना बलिदान दे देना चाहिए। क्योंकि हम ही ईश्वर हैं और ऐश्वर्य को भोगने

वाले हैं। हम ही सिद्ध हैं, बलवान तथा सुखी हैं। जो कुछ हैं हम ही हैं। यद्यपि वे अनन्त आशा-पाश से बंधे हुए काम-क्रोध के परायण होकर विषय-भोगों के लिए अन्यायपूर्वक धनादि का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। आज इस शत्रु को मारा, उसको कल मारूंगा। इस प्रकार मनमाना शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वाले होते हैं। (गीता 16 वें अध्याय के श्लोक 7-18 को देखें)।

धृतराष्ट्र जो कौरव पक्ष का मुखिया है, उसके नाम से ही ध्वनित होता है कि जिसने दूसरे के राष्ट्र को हड़प लिया है। जो केवल शारीरिक दृष्टि से अन्धा नहीं है, वह मानसिक बौद्धिक नैतिक आध्यात्मिक दृष्टि से भी अन्धा है।

अंधे के अनुयायी भी अंधे होने के लिए बाध्य होते हैं। गांधारी आंख वाली होते हुए भी अंधी बनी। वह पतिव्रता होने के कारण पति की सम्मति के विरुद्ध जाना नहीं चाहती और पुत्रमोह के कारण दृढ़ता से पुत्रों का विरोध भी नहीं कर पाती। धृतराष्ट्र के पुत्र उससे भी बढ़कर अंधे हैं। धृतराष्ट्र को विदुर का, भीष्म पितामह का, भगवान् वेदव्यास का, भगवान् कृष्ण का, ऋषि-मुनियों का थोड़ा संकोच तो है, पुत्रों में वह भी नहीं है। यह स्थिति इनके नामों से भी प्रकट है यथा—दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, दुर्धर्ष, दुर्धर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, दुर्मद, दुर्विगाह, दुर्विमोचन, दुष्यराजय, दुराधर आदि पुत्र और भगिनी दुःशाला। इनके नाम का प्रारम्भ 'दु' अर्थात् दुःख, दुष्टता आदि भावों से हो रहा है। यद्यपि शौर्य की दृष्टि से इनके अर्थ में कोई दोष नहीं है तथापि दुष्टबुद्धि से शौर्य का उपयोग होने के कारण इनके शौर्य का दुरुपयोग ही हुआ है। जो शक्ति धर्म कार्य, देव कार्य में लगती है, वही आदरणीय है पर जो शौर्य आसुरी कार्यों में लगता है वह शौर्य वीर्य में कितना भी बढ़कर क्यों न हो वह दुःख बढ़ाने वाला ही होता है। जिसका संकेत इन नामों से भी प्राप्त हो जाता है।

पांडवों का पक्ष धर्म का है। इनके मुखिया राजा का नाम भी धर्मराज युधिष्ठिर है। युधिष्ठिर शब्द का अर्थ ही है जो युद्ध में स्थिर रहता है, जिस भूमिका को लेकर युद्ध में उपस्थित होता है उससे पीछे नहीं हटता। यह धर्मराज 'अजातशत्रु' भी हैं। उसका किसी के प्रति द्वेष, वैर या हिंसा का भाव नहीं है। दुर्योधन को भी सुयोधन ही कहते हैं (क्योंकि दुर्योधन का प्रयोग अच्छे-बुरे दोनों ही अर्थों में हो सकता है) ताकि बुरे की शंका की गुंजाइश ही न रहे। युधिष्ठिर महाराज ने पूरी महाभारत में केवल एक-दो बार ही उसके व्यवहार से खीझकर दुर्योधन कहा है मानो उन्होंने उसे गाली दी हो। एक कथा प्रचलित है। दुर्योधन और युधिष्ठिर के स्वभाव की परीक्षा के लिए आचार्य द्रोण ने युधिष्ठिर को एक दुष्ट एवं दुर्योधन को एक संत को लाने को कहा, दोनों ही अपने प्रयास में असफल रहे। जिसकी दृष्टि में दोष है, विष ही विष भरा है उसे संसार में कोई भी व्यक्ति धर्मात्मा मिल नहीं सकता। यही

बात दुर्योधन के साथ है। और जिसकी दृष्टि सही है, गुणग्राही है, जिसमें अमृत ही अमृत भरा है उसको संसार में भला ही भला दिखाई देता है, सर्वाङ्ग-दोषपूर्ण कोई नहीं दिखता। यही स्थिति युधिष्ठिर की होती है। यह अजातशत्रु ही पांडवों का धुरीण है, केन्द्र है। सब पांडव इस 'अजातशत्रु' धर्म की आज्ञा शिरोधार्यकर उसकी आज्ञा के अनुसार चलने में कृत-कृत्यता मानते हैं। अर्जुन जैसा सव्यसाची, भीम जैसा बलवान योद्धा, नकुल-सहदेव जैसे अद्वितीय शूर पुरुष अपने मतभेद रखते हुए भी शान्तिवादी युधिष्ठिर के प्रति प्रतिकूलता का भाव न जताते हुए उनके अनुसार आचरण करते हैं। यही उनका बल है।

भीम तो अपने स्वभाव के कारण धर्मराज पर क्रोध भी करता था। उनके हाथ भी जलाने को तैयार होता था। भीम को ऊपर से युधिष्ठिर और नीचे अर्जुन नियंत्रित, शान्त रखते थे। अर्जुन का अर्थ है ऋजु, सरल। जो मन वचन कर्म से एक हो। जब अर्जुन को कौरव पक्ष की सेना में अपने ही परिवारजनों और पूज्य द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह आदि को देखकर मन में दुर्बलता आ जाती है और उसके वशीभूत युद्ध से पलायन करना चाहता है, तब भगवान् कृष्ण की एक जोरदार फटकार मिलने पर अपने मन की दुर्बलता को स्वीकारकर उनके शिष्यत्व को स्वीकारकर मार्गदर्शन की प्रार्थना करने लगता है। अर्जुन भीम जैसा क्रोधी नहीं था, पर धर्मराज जैसा शमवादी भी नहीं था। उसकी प्रतिज्ञा थी **'न दैन्यं न पलायनं।'** नकुल-सहदेव तो अर्जुन के पीछे चलने वाले थे। उनकी धर्मपत्नी इस दृष्टि से अकेले भीम को पसंद करती है, कभी-कभी भीम से भी ज्यादा उग्र। वनवास के काल में चारों भाई सहित द्रौपदी एक-एक घंटा करके युधिष्ठिर महाराज को अब क्रोध करना चाहिये का उपदेश देते थे। तब भी युधिष्ठिर कहते थे—ठीक है, विचारूंगा कि अभी क्रोध करना चाहिए या नहीं। द्रौपदी सहित चारों भाई युधिष्ठिर की शमवादी नीति से खिन्न थे। पांडवों का क्षत्रियोचित स्वभाव दब न जाए इसके लिए द्रौपदी विशेष सचेष्ट है, अपने अपमान की याद दिलाती रहती है ताकि वन में क्षत्रिय स्वभाव को भूल न जाए जैसा कि इतिहास में हम पाते हैं। बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रभाव में आकर अनेक क्षत्रियवंश वैश्य बन गए। इससे देश का क्षात्रतेज दुर्बल हुआ और विदेशी आक्रान्ताओं का तांता लग गया।

जब भगवान् कृष्ण संधिवार्ता के लिए जाते हैं तब कृष्ण पांचों भाइयों से परामर्श करते हैं। पांचों की यहां तक कि भीम और अर्जुन की, शान्तिवार्ता सुनकर द्रौपदी निराश होकर कृष्ण से कहती है—पति पत्नी के अपमान एवं अपनी प्रतिज्ञाओं को भूल सकते हैं पर मैं अपने अपमान को नहीं भूल सकती। पुत्रों पर मेरा अधिकार है, पुत्र मां का अपमान नहीं भूल सकते। उनकी सेना सजाकर स्वयं

अपने अपमान का बदला लूंगी। माता कुंती भी शान्तिकामी है। शान्तिवार्ता के सारे प्रयास विफल हो जाने के पश्चात् ही युद्ध की अनुमति देती है।

पांडवों के सहायक, सलाहकार, संचालक और नियामक भगवान् श्रीकृष्ण भी शमवादी, शस्त्र न उठाने वाले हैं। इस तरह पांडवों के दोनों मुखिया शमवादी हैं।

इन आधारों पर महाभारत में पांडवों को धर्मवृक्ष और कौरवों को अधर्मवृक्ष कहा है। युधिष्ठिररूपी धर्म का भव्य महावृक्ष था, अर्जुन उसका तना था, भीमसेन उसकी शाखायें, माद्री पुत्र नकुल-सहदेव उसके फल-फूल थे। उसको रस से सींचने वाले जड़ का नाम भगवान् कृष्ण था। वही ब्रह्म हैं और धर्मवृक्ष के मूल हैं। दुर्योधन अभिमान का महावृक्ष है, कर्ण उसका तना है, शकुनि उसकी शाखायें है, दु:शासन उसका फल-फूल है और बेसमझ अन्धा राजा धृतराष्ट्र उसका मूल है।

पांडव पक्ष को शमवादी होने पर भी युद्ध करना पड़ा। धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन नित्य देखते थे कि हम साम्राज्यवादियों के द्वारा अनेकानेक कपट प्रयोग होने पर भी स्वराज्य के प्रयत्न करने वाले पाण्डव न केवल बच जाते थे वरन् उनकी लोकप्रियता एवं शक्ति में वर्द्धन ही होता जाता था। यथा भीम को विषयुक्त लड्डू खिला करके, बांधकर गंगा में बहा दिया तो भीमसेन नागलोक में अपने नाना के यहां पहुंच गए। स्वर्ग में अमृत होता है, नागलोक में सुधा। नाना ने उसे सुधापान करने को दिया। भीम एक ही सांस में आठ कुण्ड सुधा पी गए और उसको पचाने के लिए आठ दिन सोते रहे और पहले से बहुत ज्यादा शक्तिशाली होकर लौटे। वारणावत में मातासहित पांचों पाण्डवों को जलाने का प्रयास हुआ तो द्रुपद की कन्या द्रौपदी से विवाह कर लौटे जहां से उन्हें तीन सेनापति प्राप्त हुए। वनवास दिया तो अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ। पांच वर्ष तक देवराज इन्द्र के पास रहकर अनेकानेक विद्याएं एवं दिव्यास्त्र प्राप्त किए। अज्ञातवास काल में राजा विराट से सम्बन्ध बना और उत्तरारूपी पुत्रवधू प्राप्त हुई। हस्तिनापुर का बंटवारा करके इन्द्रप्रस्थ के नाम पर जंगल दिया तो वहां अर्जुन ने कृष्ण और बलराम से सम्बन्ध बना लिया और सुभद्रा को पत्नी के रूप में प्राप्त किया और राजसूय यज्ञ के द्वारा भी राज्य का विस्तार किया। कितने ही उन पर अन्याय-अत्याचार हुए फिर भी वे सदैव शान्ति, धर्म एवं न्याय के पथ पर चलते रहे। इससे उनकी लोकप्रियता और भी बढ़ गई। यहां तक कि प्रजा के साथ-साथ कौरव वीरों एवं सेनापतियों की सहानुभूति भी उन्हें प्राप्त हो गई। फलत: अन्तिम निर्णायक विजय उन्हें प्राप्त हुई।

साम्राज्यवादियों का व्यवहार कपट से प्रारम्भ होता है। मध्यस्थिति चिन्ता में और अन्त पराजय में, सर्वनाश में होता है। स्वराज्यवादियों के धर्मपक्ष का प्रारम्भ

सत्य, धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, ईशभक्ति, त्याग, पवित्रता, समता आदि दैवी गुणों से होता है, उनको बीच में बहुत कष्ट भोगना पड़ता है पर अन्त में विजय उन्हीं की होती है और उनका धवल यश दिग्दिगन्त तक में फैल जाता है। इस प्रकार दोनों पक्षों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि कौरव अधर्म के पक्षधर हैं और पाण्डव धर्म के पक्षधर हैं।

उपसंहार

सम्पूर्ण गीता का उपदेश करने के पश्चात् भगवान् अर्जुन से पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।। 18/72, गीता

'हे पार्थ! क्या तुमने इस (शास्त्रोपदेश) को एकाग्रचित्तता से सुना? और हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ सम्मोह नष्ट हो गया?'

उत्तर में अर्जुन कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। 18/73, गीता

'हे अच्युत! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे (आत्मतत्त्व विषयक) स्मृति प्राप्त हुई है। अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूं। अतः मैं आपके वचन का पालन करूंगा।'

इस प्रकार हम देखते हैं—अर्जुन शोक, मोह और भय को बिसराकर अपने कर्तव्यकर्म में स्थित होकर विश्व के महानतम युद्ध में विजयश्री-लाभकर संसार के श्रेष्ठतम योद्धा के रूप में अपने को स्थापित करता है। केवल अर्जुन ही नहीं, इतिहास के विभिन्न चरणों में विशेषकर अंग्रेजों के शासनकाल में स्वतंत्रता सेनानियों ने चाहे वे अहिंसा मार्गी हों या सहिंसा मार्गी हों सबने गीता को अपनाकर अपने परिवारजनों के मोह-शोक और ब्रिटिश हुकूमत के भय को भुलाकर स्वतंत्रता संग्राम में योगदान दिया और आवश्यकता पड़ने पर गीता का श्लोक गाते हुए हंसते-हंसते फांसी के फंदों पर झूल गए। केवल भारत के स्वतंत्रता संग्राम में ही नहीं, विश्व के अन्यान्य देशों के स्वतंत्रता संग्रामों में गीता ने अविस्मरणीय योगदान दिया है।

इस प्रकार जो भी गीता माता की शरण में जाता है, गीता माता उसके शोक, मोह, भय को हरकर उसे अपने कर्तव्यकर्म में स्थित कर देती है। इससे वह क्रमशः स्वतः ही पूर्णता की ओर बढ़ने लगता है और अन्त में अपने आत्मस्वरूप को पा लेता है और उसमें स्थित हो जाता है।